



आनन्द-प्रवचन

आचार्य श्री आनन्द ऋषि

भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

आनन्द प्रवचन

(सातवां भाग)

प्रवक्ता

राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्दऋषि

सम्पादिका

कमला जैन, 'जीजी' एम. ए.

प्रकाशक

श्री रत्नजैन पुस्तकालय, पाथर्डी

पुस्तक

आनन्द प्रवचन [सातवां भाग]

संप्रेरक

श्री कुन्दन ऋषि

पृष्ठ : ४१६

प्रथमबार

वि. सं. २०३२ कार्तिक

ई. सन् १९७५ नवम्बर

२५००वां महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष

प्रकाशक

श्री रत्नजैन पुस्तकालय

पाथर्डी [अहमदनगर—महाराष्ट्र]

मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के लिए

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

मूल्य-बीस रुपये मात्र ;

प्लास्टिक कवर युक्त १२) रुपये

प्रकाशकीय

आनन्द प्रवचन का यह सातवाँ भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। विगत १३ फरवरी को अमृत महोत्सव के प्रसंग पर पाँचवें भाग का विमोचन सम्पन्न हुआ था, कुछ समय पश्चात् छठा भाग भी पाठकों के हाथों में पहुँचा और अब यह सातवाँ भाग प्रस्तुत है।

आनन्द प्रवचन के पिछले छह भाग पाठकों ने बड़े उत्साह और प्रेम के साथ अपनाये हैं। स्थान-स्थान से उनकी माँग बराबर आ रही हैं। सामान्य पाठकों को प्रेरणाप्रद सामग्री उसमें मिली है। इसी प्रकाशन श्रृंखला में अभी-भी 'भावना योग' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक भी प्रकाश में आई है। भावनायोग में भावना के सम्बन्ध में बड़ा ही मौलिक तथा अनुसंधानपरक जीवनोपयोगी विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान श्रीचन्द जो सुराना 'सरस' ने किया है। इस पुस्तक को विद्वज्जगत ने तथा जिज्ञासु पाठकों ने मुक्तमन से सहारा है।

प्रस्तुत भाग में संवरतत्त्व के विवेचन पर आचार्य श्री के २६ प्रवचन हैं। कुशल सम्पादिका बहन श्री कमला "जीजी" ने बड़े ही श्रम और अध्यवसाय के साथ इन प्रवचनों का सम्पादन किया है। "जीजी" ने साहित्य सेवा के क्षेत्र में जो उपलब्धि की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

इस पुस्तक का मुद्रण पूर्व भागों की भाँति श्रीयुत श्रीचन्द जो सुराना की देख-रेख में हुआ है। उनका योगदान बहुमूल्य है।

प्रकाशन-मुद्रण में जिन सज्जनों का उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ, हम उनके आभारी हैं। आशा है पाठक इसे भी उत्साहपूर्वक अपनायेंगे।

मंत्री

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

अर्थ सहयोग के लिए धन्यवाद

- १००१) सरदारमल जी पोपटलाल जी संचेती, जुन्नर
५०१) पन्नालाल जी अशोक कुमार जी नाहर, जुन्नर
५०१) सौ० जयकुंवरबाई भ्र० केवलचन्द जी लुणावत, जुन्नर
५०१) सौ० ललीताबाई भ्र० पन्नालाल जी लुणावत जुन्नर
५०१) सौ० रत्नकान्ताबाई भ्र० झुम्बरलाल लुणावत, जुन्नर
१५१) रजिवकुमार कचरदास मुधा
५०१) पदमसेन जी गोयल, सरस, हरियाना
५०१) नथमल जी पदमचन्द जी दुगड़, विलोमपुरा
५०१) गेणमल जी माणिकचन्द भलगट, नारायण गाँव
५०१) मनोहरलाल जैन, देहली
५००) वीरसेन जी जैन, देहली
५०१) मोहनलाल जी दिपचन्द चोरडिया, पूना
५०१) बाबूलाल जी रोषमल जी, पूना
५०१) सौ० सुदर्शनाबाई भ्र० सुकुमालचन्दजी जैन, देहली
५०१) के० शेष० सी० जैन, सीयालकोट हाऊस, अम्बाला छावनी
१०१) सौ० मंजुलाकुमारी चौधरी, राजगढ़
१०१) सतीशकुमार जैन, राजगढ़
२०१) इदीराबाई मोतीलाल तालेड़ा, पूना
५०१) धनराज जी अमृतकुमार गांधी, गंगा पूना
५०१) कन्हैया लाल नेमीचन्द
१००१) रम्भाबाई गणपतिसिंह जैन, सुजालपुर
६७६) यात्रा संघ, एस० एस० जैन सभा, लुधियाना
१०००) मोहनलाल जी भटेवड़ा, पूना
२५१) रघुवरसिंह कस्तूरचन्द लोडा, देहली
२०१) शान्तिलाल चौधरी, राजगढ़
२५१) चंदुलाल प्रेमचन्द गधिया, खेड़
२०१) विद्यादेवी भ्र० दयाराम जी गदीया, अम्बाला
४०१) शान्ताबाई रेदासनी, जलगाँव
४०१) मनोहरलाल जैन
२६०) प्रकाशचंद जैन, देहली

माध्यम से वे आत्मिक गुणों को अंकुरित करते हुए अपने मानस को विशुद्ध एवं परिष्कृत बनायेंगे तथा अहिंसा, सत्य और संयम की शाश्वत आभा से अपने अंतर्मन को ज्योतिर्मान करेंगे ।

अन्त में केवल इतना ही कि आचार्यदेव के प्रवचन-संग्रहों के सभी भागों का संपादन करने का जो सुअवसर मुझे मिला है यह मेरे लिए बड़े गर्व और गौरव की बात है । साथ ही असीम हर्ष एवं सन्तोष इस बात का भी है कि पाठकों ने मेरे सम्पादन को पसन्द किया है । समय-समय पर यह ज्ञात होने से मुझे बड़ी प्रेरणा मिली है और मेरे उत्साह में अभिवृद्धि होती रही है ।

आशा है मेरे इस प्रयास को भी पाठक पसंद करेंगे तथा असावधानीवश कोई त्रुटि रह गई हो तो उदारतापूर्वक उसे क्षमा करते हुए प्रवचनों के मूल विषयों को हृदयंगम करेंगे । कि बहुना.....।

—कमला जैन 'जीजी' एम. ए.

प्रस्तावना

मानव विश्व का शृंगार है, उससे बढ़कर विश्व में कोई भी श्रेष्ठ व ज्येष्ठ प्राणी नहीं है। असीम सुखों में निमग्न रहने वाले देव भी मानव की स्पर्धा नहीं कर सकते। वह अनन्त शक्ति व तेज का पुञ्ज है। विश्व का भाग्य-विधाता है, बेताज का बादशाह है। उसके तेजस्वी चमक-दमक से विश्व आलोकित है। उसने अपनी प्रत्यग्र प्रतिभा के बल पर जो संस्कृति, सभ्यता और विज्ञान का नव-निर्माण किया है वह अद्भुत है। उसकी परमार्थ की भावना भव्य है।

मानव का उर्वर मस्तिष्क पशुओं की तरह नीचे झुका हुआ नहीं है किन्तु दीपक की लौ की तरह सदा ऊपर उठा हुआ है। वह इस बात का प्रतीक है कि अनन्त आकाश की तरह उसके विचार विराट हैं, सूर्य की तरह तेजस्वी हैं, चन्द्र की तरह सौम्य हैं, ग्रह नक्षत्रों की तरह सुखद हैं। वह चाहे तो इस भू-मण्डल पर अपने निर्मल विचार और पवित्र आचार से स्वर्ग उतार सकता है।

आज का मानव विकास के नये मोड़ पर है। विज्ञान-रूपी दानव की असीम कृपा से उसने बाह्य प्रकृति पर विजय-बैजयन्ती फहरा दी है, पर स्वयं की प्रकृति पर विजय नहीं पा सका है। यातायात की सुविधा से जैसे संसार सिमटता चला जा रहा है वैसे ही उसका मन भी सिमटता चला जा रहा है, उसमें स्नेह, सहयोग एवं सद्भाव का अभाव होता जा रहा है। वह बाहर से तो खूब चुस्त और दुरुस्त है पर भीतर से दायित्व शून्य है, उसमें स्पन्दन नहीं, सम्वेदना नहीं।

सूर्य के प्रकाश की तरह यह स्पष्ट है कि विज्ञान ने मानव की एकांगी प्रगति की है। वह जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की उन्नति नहीं कर सका है। आध्यात्म पक्ष की उन्नति के अभाव में विज्ञान बरदान नहीं अपितु अभिशाप सिद्ध हो रहा है।

आज का जन-जीवन विविध समस्याओं से आक्रान्त है। क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र सभी समस्याओं में उलझे हुए हैं, जिधर देखो उधर

विग्रह, विद्रोह और कलह की आग घाय-घाय कर जल रही है। विघटनवाद के नगाड़े तेजी से बज रहे हैं। मस्तिष्क में भयंकर तूफान उठ रहे हैं, हृदय की धड़कनें बढ़ रही हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी परेशान हैं, व्यथित हैं। कहीं पर अमीरी और गरीबी की समस्या है और कहीं पर शोषक और शोषितों की समस्या है। इधर विश्व के गगन में अणु-अस्त्रों की विभीषिकाएँ भी मँडरा रही हैं, वे कब बरस पड़ेंगी, इसका किसी को कुछ पता नहीं। आज का विश्व मौत के कँगारे पर खड़ा है। मानवता मर रही है दानवता पुष्ट हो रही है, जीवन में आनन्द का अभाव है। ऐसी विकट-बेला में परम श्रद्धेय आचार्य सच्चट राष्ट्र सन्त श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के ये प्राणमय प्रवचन भीतिकता की चकाचौंध में अपने आपको भूले और बिसरे हुए मानव को सही दिशा-दर्शन देंगे। कर्तव्य-पथ पर बढ़ने की पुनीत प्रेरणा प्रदान करेंगे।

महामहिम आचार्य प्रवर के इन प्रवचनों में अद्यतन कहानियों की तरह न शैली-शिल्प के गोरख-धन्धे ही हैं और न नवीन कविताओं की तरह भाषा की दुरुहता और भावों का उलझाव ही है, किन्तु जो कुछ भी है सहज है, सरल है, सुगम है। पाठक अनुभव करेंगे कि धर्म, दर्शन, अध्यात्म जैसे गुरु गम्भीर विषयों को भी किस प्रकार अपनी विलक्षण प्रतिभा, समन्वय-बुद्धि एवं चित्ताकर्षक सरल शैली से युगबोध की भाषा में प्रस्तुत किया है। उनके प्रखर चिन्तन में धर्म और दर्शन के नये-नये उन्मेष खुलते हुए से प्रतीत होते हैं।

आनन्द प्रवचन का यह सप्तवाँ भाग है, इसके पूर्व छः भाग प्रकाशित हो चुके हैं जो अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं। मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत भाग भी जन-जीवन में अभिनव चेतना का संचार करेगा। इसी मंगल आशा के साथ

सादड़ी-सदन

गणेश पेठ, पूना-२

दिनांक २५-६-७५

—देवेन्द्र मुनि

अनुक्रम

१.	प्रज्ञा-परिषद् पर विजय कैसे प्राप्त हो ?	१
२.	गहना कर्मणो गति:	१७
३.	सत्य ते असत्य दिसे	३०
४.	धर्माचरण निरर्थक नहीं जाता	४६
५.	श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी	५६
६.	आध्यात्मिक दशहरा मनाओ !	७३
७.	इहलोक मीठा, परलोक कोषे दिठा	९६
८.	अपराधी को अल्पकाल के लिए भी छुटकारा नहीं होता	११२
९.	सच्ची गवाही किसकी	१२९
१०.	का वर्षा जब कृषि सुखानी	१७०
११.	जाए सद्वाए निवसते	१५३
१२.	सामान सौ बरस का, कल की खबर नहीं	१४०
१३.	सब दुकुर-दुकुर हेरेंगे...	१८३
१४.	संसार का सच्चा स्वरूप	१९३
१५.	एगोहं नत्थि मे कोई	२०५
१६.	अपना रूप अनोखा	२१३
१७.	हंस का जीवित कारागार	२२८
१८.	कर आस्रव को निर्मूल	२३८
१९.	संवर आत्म स्वरूप है	२५०
२०.	कर कर्म-निर्जरा, पाथा मोक्ष ठिकाना	२६८
२१.	सोचो लोक स्वरूप को	२८४
२२.	हे धर्म ! तू ही जग का सहारा	३००
२३.	ऊंधो मत पंथीजन !	३१४
२४.	सुनकर सब कुछ जानिए	३२५
२५.	मोक्ष गढ़ जीतवा को	३३७
२६.	संघस्य पूजा विधि:	३५४
२७.	क्षमा वीरस्य भूषणम्	३६५
२८.	ऐरे, जीव जौहरी ! जवाहिर परखि ले !	३७८
२९.	पकवान के पश्चात् पान	३९१



आनन्द प्रवचन

[सातवां भाग]

प्रज्ञा-परिषह पर विजय कैसे प्राप्त हो ?

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

पिछले प्रवचनों में हमने संवरतत्त्व के सत्तावन भेदों को लिया था और उनमें से सत्ताईस भेदों पर अब तक यथाशक्य विवेचन किया जा चुका है। आज हमें अट्ठाईसवाँ भेद लेना है, जिसका नाम है 'पद्मापरिषह'। इसका अर्थ है—प्रज्ञा यानी बुद्धि का परिषह।

आप विचार करेंगे कि क्या बुद्धि का भी कोई परिषह होता है ? और वह होता है तो किस प्रकार ? इस विषय को भगवान महावीर ने 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की चालीसवीं गाथा में स्पष्ट किया है। गाथा इस प्रकार है—

से नूर्णं मए पुब्बं कम्मऽणाणकला कडा ।

जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणई कण्हई ॥

प्रज्ञा या बुद्धि की प्राप्ति पूर्व पुण्य से होती है। ज्ञानावरणीय कर्मों का उपशम या क्षय होने पर ही व्यक्ति इस जन्म में ज्ञान हासिल कर पाता है। किन्तु ज्ञान की प्राप्ति हो या न हो, मनुष्य को दोनों ही स्थितियों में समभाव रखना चाहिए। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता है तो निश्चय ही संवर-मार्ग पर बढ़ने के बदले आश्रव की ओर चल पड़ता है।

आपके हृदय में प्रश्न होगा कि ऐसा क्यों ? वह इसलिए कि अगर व्यक्ति ने ज्ञान प्राप्त कर लिया पर इसके परिणामस्वरूप उसके मन में गर्व की भावना आ गई कि मैं अत्यन्त ज्ञानी, विद्वान् या पण्डित हूँ तो वह आश्रव की ओर बढ़ेगा यानी कर्मों का बन्धन करता चला जाएगा और अगर किसी व्यक्ति को ज्ञानावरणीय कर्मों का निबिड़ बन्ध होने से ज्ञान हासिल नहीं हो पाएगा

और वह इस कारण भी दुखी होकर आर्तध्यान या शोक करता रहेगा तो भी कर्मों का बन्ध होगा ।

इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति पर गर्व और अज्ञान के लिए दुःख, ये दोनों ही दुधारी तलवार के समान हैं तथा प्रज्ञा के लिए परिषह का काम करते हैं । अतः मुमुक्षु को इन दोनों से बचना चाहिए । इसके अलावा यहाँ ध्यान से समझने की बात तो यह है कि सम्यक्ज्ञान कभी अहंभाव को पैदा नहीं करता । बुद्धि की तीव्रता से अगर व्यक्ति पढ़-लिख जाता है और अनेक प्रकार की डिग्रियाँ भी हासिल कर लेता है पर उनके कारण अगर वह गर्व से चूर होकर औरों को नगण्य समझने लगता है तो यह मानना चाहिए कि उसका ज्ञान ही सम्यक् नहीं है । रावण शक्तिशाली था और शक्ति के साथ-साथ बुद्धि के कारण भी उसने बहुत ज्ञान और सिद्धियाँ भी हासिल कर ली थीं । किन्तु अपनी बुद्धि या प्रज्ञा का घमण्ड ही उसे ले डूबा । इस बात से स्पष्ट है कि ज्ञान का गर्व प्रज्ञा-परिषह है और जो इसको सहन नहीं कर पाता वह अशुभ कर्मों का बन्धन करता हुआ संसार-सागर में डुबकियाँ लगाता रहता है ।

अपने बचपन में मैंने देखा था कि मेरे गाँव में एक गोसावी बड़ा सिद्ध व्यक्ति था । अपनी मंत्र-शक्ति के बल पर वह सर्पों को सहज ही पकड़ लेता था तथा सर्प-दंश से पीड़ित व्यक्तियों को बात की बात में विष से मुक्त कर देता था । किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी प्रसिद्धि चारों ओर मंत्रसिद्ध के रूप में होती गई, त्यों-त्यों उसके हृदय में अपने ज्ञान के प्रति गर्व बढ़ता गया और उसके फल-स्वरूप एक दिन सर्प के काटने से ही उसकी मृत्यु हुई ।

इसीलिए भगवान् आदेश देते हैं कि अपने ज्ञान का गर्व मत करो और उसे परिषह समझ कर उससे बचो । वास्तव में देखा जाय तो ज्ञान गर्व करने की वस्तु ही नहीं है । ज्ञान तो जीव और जगत् को समझने के लिए तथा आत्मिक शक्तियों को जानने के लिए है । जो ऐसा समझता है वह अपने ज्ञान का गर्व के कारण दुरुपयोग नहीं करता, अर्थात् उसे घमण्ड का कारण मानकर आश्रव की ओर नहीं बढ़ता । कहा भी है—

‘सर्व जगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नञ्जए चरणं ।’

—व्यवहार भाष्य

अर्थात्—ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है । ज्ञान से ही मनुष्य को कर्तव्य का बोध होता है ।

तो बन्धुओ, जो ज्ञान विश्व के रहस्यों को प्रकाशित करने वाला और मानव को अपने कर्तव्यों का बोध कराने वाला है वह कभी अहं को पैदा नहीं

कर सकता। क्योंकि अहंभाव तो मनुष्य को उलटा उसके कर्तव्यों से परे करता है तथा कर्तव्य-पालन में बाधा पहुँचाता है। इससे साबित होता है कि गर्व ज्ञान का परिणाम नहीं है अपितु बुद्धि का परिषद् ही है।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी व्यक्ति को सर्वप्रथम तो ज्ञान प्राप्त करने में ही बड़ी सावधानी और सतर्कता रखनी चाहिए कि कहीं वह सम्यक्ज्ञान के स्थान पर धोखे से मिथ्याज्ञान तो हासिल नहीं कर रहा है? क्योंकि मिथ्याज्ञान भी मनुष्य को भ्रम में डाल देता है। उदाहरणस्वरूप अगर समुद्र या नदी के किनारे पर टहलने वाला व्यक्ति चमकती हुई सीप को चाँदी समझ ले तो उसका वह ज्ञान क्या सम्यक्ज्ञान कहलाएगा? नहीं, वह मिथ्याज्ञान ही होगा। दूसरे अनेक पुस्तकें पढ़कर अगर व्यक्ति अपने आपको ज्ञानी मानकर अहंकार से भर जाए तो उसका वह ज्ञान भी क्या आत्मा को उन्नत बना सकेगा? नहीं, वह भी कर्म-बन्धन का कारण बनकर उसे नाना गतियों में भ्रमण ही कराता रहेगा।

इसलिए बन्धुओ! हमें ज्ञान का सही स्वरूप समझते हुए आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम झूठे अहंकार से बच सकते हैं तथा संवर के शुभ मार्ग पर बढ़ सकते हैं। पर अब हमें संक्षेप में यह भी जान लेना चाहिए कि ज्ञान किसे कहते हैं? उसके कितने प्रकार हैं, और कौन से प्रकार से आत्मा को लाभ हो सकता है?

इहलौकिक ज्ञान

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर ज्ञान को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक इहलौकिक और दूसरा पारलौकिक। इहलौकिक ज्ञान को भौतिक ज्ञान भी कहा जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने देश की ही नहीं, अन्य अनेक देशों की राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं आर्थिक स्थिति का ज्ञान करता है तथा ज्योतिष के द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि की गतिविधियों को जान लेता है।

किन्तु इन सबको जान लेने से आखिर उसे लाभ कितना होता है? केवल उतना ही जितना कि उसका वर्तमान जीवन है। अर्थात् इस जीवन को सुखमय बनाने के साधनों की प्राप्ति वह भौतिक ज्ञान से कर लेता है। भौतिक ज्ञान हासिल करके वह अधिकाधिक धन का उपाजन कर लेता है जिससे सांसारिक भोग-विलास के अधिक से अधिक साधन जुटाए जा सकें और दूसरे अपनी विद्वत्ता का सिक्का भी अन्य व्यक्तियों पर जमाने में समर्थ बना जा सके यह लाभ वह व्यक्ति प्राप्त करता है। पर भौतिक ज्ञान से हासिल की हुई समस्त विशेषताएँ और योग्यताएँ उसके इस जीवन तक ही काम आ सकती हैं क्योंकि इसका लाभ परलोक में नहीं मिल सकता। यह ज्ञान केवल व्यक्ति को इहलौकिक

सुख प्रदान कर सकता है किन्तु पुनः-पुनः विभिन्न गतियों में भ्रमण करने से नहीं रोक सकता ।

मेरा आशय यहाँ यह नहीं है कि आप लोग भौतिक ज्ञान हासिल ही न करें। यह ज्ञान भी सर्वथा व्यर्थ नहीं है क्योंकि आखिर मानव-देह पाने पर और सांसारिक सम्बन्धों से बँधे हुए होने के कारण आपका अपने प्रति और अपने सम्बन्धियों तथा पारिवारिकजनों के प्रति भी अनेक प्रकार के कर्तव्यों को पालन करने का उत्तरदायित्व होता है। किन्तु सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भी और सुखपूर्वक यह वर्तमान जीवन बिताते हुए भी आपको यह कदापि नहीं भूलना है कि इस जीवन के पश्चात् भी हमारी आत्मा विद्यमान रहेगी और जैसे कर्म हम इस जीवन में करेंगे उसके अनुसार फल प्राप्त करेगी। इसलिए भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ हमें पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान भी निरंतर हासिल करते रहने का प्रयत्न करना चाहिये तथा इस जीवन के सुखों के साथ-साथ परलोक में भी सुख हासिल हों, इसका ध्यान रखना चाहिए।

पारलौकिक ज्ञान

अब प्रश्न उठता है कि पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान क्या है और इससे क्या लाभ होता है ?

बंधुओ, आध्यात्मिक ज्ञान हमें जीव और जगत् के रहस्य को समझाता है और बताता है कि प्रत्येक प्राणी की आत्मा अनन्त काल से नाना योनियों में परिभ्रमण करती हुई और अपने कृत कर्मों के अनुसार धोर दुःख सहन करती हुई बड़ी कठिनाई से मानव-शरीर की प्राप्ति कर सकी है। अतः इस देह की सहायता से अब हमें इसे कर्म-मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए। आध्यात्मिक ज्ञान ही हमें बताता है कि पाप क्या है और पुण्य क्या है, तथा इनके परिणाम किस प्रकार भोगने पड़ते हैं ? मिथ्याज्ञान की अथवा अज्ञान की अवस्था में तो अनन्त काल तक जीव साधना करता हुआ भी पुनः-पुनः संसार सागर में गोते लगाता रहा है क्योंकि अज्ञानावस्था में की हुई साधना उसे इस सागर से पार नहीं लगा सकती। शास्त्रों में कहा भी है—

जहा अस्साबिणि भावं, जाइअंचो बुरहिया ।

इच्छइ पारमांगुं अंतरा य विसीयई ॥

—सुत्रश्रुतांग १-१-२-३६

अर्थात्—अज्ञानी साधक उस जन्मांध व्यक्ति के समान होता है जो खिद्रवाली नौका पर चढ़ कर नदी के किनारे पहुँचने की आकांक्षा तो रखता है, किन्तु किनारा आने से पहले ही मझधार में डूब जाता है ।

इसलिए बन्धुओ, हमें मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान के अन्तर को समझते हुए सम्यक्ज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हमें आत्म-कल्याण का मार्ग दृष्टिगोचर होगा और हम संवर की आराधना करते हुए कर्मों की निर्जरा में भी संलग्न हो सकेंगे।

हमारे आध्यात्मिक ग्रन्थ स्पष्ट कहते हैं—

नाणं च वंसणं चेष, चरित्तं च तवो तह्ण ।

एस भग्गोसि पन्नत्तो, जिणोहि वरदंसिहि ॥

—श्री उत्तराध्वयनसूत्र, अ० २८

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप, इनका आराधन ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी जिनराज कहते हैं।

जिन भगवान सर्वदर्शी होते हैं और वे एक स्थान पर रहकर ही सब कुछ देख लेते हैं। उनकी दिव्यदृष्टि के सामने पर्वत, दीवाल, परदा या अन्य कोई भी वस्तु बाधक नहीं बन सकती। जबकि हमारे समक्ष तो एक साधारण वस्त्र का परदा भी लगा दिया जाय तो उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है यह हम नहीं देख सकते।

आप विचार करेंगे कि आखिर हमारे समान मानव-देह पाकर भी उन्हें ऐसी दिव्यदृष्टि कैसे प्राप्त हो गई और हमें वह क्यों नहीं मिल पाती ? इसका स्पष्ट और सत्य समाधान यही है कि उन महापुरुषों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की सम्यक् आराधना की थी। अपनी आत्मा के निज स्वरूप की पहचान करते हुए उन्होंने विषय-विकारों का सर्वथा त्याग करके अपनी आत्मा को निर्मल बनाया था। क्रोध, मान, माया और लोभ का उनके मानस से सर्वथा निष्कासन हो चुका था। ज्ञान के गर्व को वे यथार्थ में घोर परिषह मानते थे और उससे कोसों दूर रहते थे।

किन्तु हम क्या ऐसा कर पाते हैं ? आध्यात्मिक ज्ञान तो दूर की बात है, चार पुस्तकें पढ़कर ही हम घमंड में चूर होकर औरों को अज्ञानी और अपने आपको महाज्ञानी समझने लगते हैं। इसका परिणाम यही होता है कि दिव्य-दृष्टि तो दूर, जो भी हम पढ़ते हैं वह भी हमारे आत्मोत्थान में सहायक न बनकर पतन का कारण बनता है। कहने का अभिप्राय यही है कि ज्ञान का गर्व आत्मा के पतन का कारण बनता है और इसीलिए इसे परिषह समझकर इससे दूर रहते हुए समभाव रखना चाहिये। जो भव्य प्राणी ऐसा कर सकता है वही ज्ञान का सच्चा लाभ हासिल करता है तथा औरों को भी सन्मार्ग बता सकता है। एक छोटा सा दृष्टांत है—

सिन्धु और बिन्दु

दो मित्र थे और दोनों एक साथ एक ही गुरु के पास विद्याध्ययन करने के लिए गये। काफी समय तक दोनों ने साथ-साथ अध्ययन किया और तत्पश्चात् अपने गाँव को साथ ही लौटे।

यद्यपि दोनों मित्रों ने समान ज्ञान हासिल किया था, किन्तु उनमें से एक अपने आपको बड़ा विद्वान् और ज्ञानी मानता था तथा उसके गर्व में चूर होकर अन्य व्यक्तियों से सीधे मुँह बात ही नहीं करता था।

उसके मित्र ने जब यह देखा तो उसे अपने मित्र की अज्ञानता और घमंड पर बड़ा दुःख हुआ। उसने समझ लिया कि मेरा मित्र ज्ञान के गर्व या नशे में रहकर ज्ञान का लाभ तो उठा नहीं सकेगा, उलटे आत्मा को पतन के मार्ग पर ले जाएगा! यह विचार कर उसने मित्र को सही मार्ग पर लाने का निश्चय किया।

इसके परिणाम स्वरूप वह एक दिन अपने घमंडी मित्र को समुद्र के तट पर घुमाने ले गया और वहाँ पर अपनी हथेली पर समुद्र के जल की कुछ बूँदें लेकर बोला—“मित्र ! देखो तो सही, मेरी हथेली में कितना सारा पानी है ?”

घमंडी मित्र ने जब अपने साथी की यह बात सुनी तो ठठाकर हँस पड़ा और हँसते-हँसते कहा—

“मित्र ! लगता है कि तुम पागल हो गए हो। अरे, तुम्हारे समीप ही तो इतना विशाल सागर है और इसमें अथाह पानी भी है। पर तुम जल की दो बूँदें हथेली पर लेकर ही कह रहे हो कि मेरे पास कितना सारा पानी है? भला इस सागर के जल के समक्ष तुम्हारी हथेली के जल की बूँदें क्या महत्त्व रखती हैं ?”

पहला मित्र यही तो सुनना चाहता था, अतः छूटते ही बोला—“दोस्त ! तुम मुझे पागल साबित कर रहे हो पर तुम मुझसे कम पागल हो क्या ?”

“वह कैसे ?” दूसरा मित्र चकित होकर पूछ बैठा।

“इस प्रकार कि ज्ञान का सागर भी तो चौदह पूर्व का है किन्तु तुम कुछ बिन्दु जल के समान ही थोड़ी सी विद्या हासिल करके अपने आपको महाज्ञानी मानते हो और घमंड के मारे अन्य किसी को कुछ नहीं समझते।”

मित्र की यह बात सुनते ही घमंडी व्यक्ति की आँखें खुल गयीं और वह अत्यंत लज्जित हुआ। यथार्थ का बोध होते ही वह समझ गया कि मेरा ज्ञान सिन्धु में बिन्दु जितना भी नहीं है।

तो बन्धुओ, ज्ञान का गर्व अज्ञानावस्था है जो कि आत्मा में रहे हुए अनन्त ज्ञान पर परदे के समान आच्छादित रहती है। यहाँ आपको सन्देह होगा कि आत्मा में रहे हुए अनन्तज्ञान को मिथ्याज्ञान या अज्ञान किस प्रकार ढक सकता है ? इसके उत्तर में समझा जा सकता है कि जिस प्रकार समग्र विश्व को प्रकाशित करने वाला सूर्य एक छोटी सी बदली के आ जाने से ही अपने तेज को खो बैठता है तथा हमारी जिन आँखों से संसार की प्रत्येक वस्तु दृष्टि-गोचर होती है उस पर मोतियाबिन्द की एक पतली सी झिल्ली चढ़ते ही दिखाई देना बन्द हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञान का अनन्त प्रकाश आत्मा में होते हुए भी मिथ्याज्ञान या अज्ञान का परदा पड़ा होने से जीव पाप-पुण्य, बन्ध या मोक्ष किसी के भी बारे में सम्यक् रूप से नहीं जान पाता तथा अपना दुर्लभ जीवन निरर्थक कर देता है।

किसी कवि ने अपने एक मजन की कुछ पंक्तियों में कहा भी है—

पड़ा परदा जहालत का अक्ल की आँख पर तेरे,
सुधा के खेत में तूने जहर का बीज क्यों बोया ?
अरे मतिमन्द अज्ञानी जन्म प्रभु भक्ति बिन खोया !

जहालत यानी अज्ञान दशा ! यह अज्ञानावस्था रूपी परदा जब ज्ञान रूपी नेत्रों पर पड़ा रहता है तो व्यक्ति को आत्मा की भलाई का बोध नहीं होता। इसीलिए कवि प्राणी की भर्त्सना करते हुए कहता है—'अरे मूर्ख ! तूने अमृत के खेत में विष के बीज क्यों बपन कर दिये हैं ? अर्थात् जिस अमूल्य मानव-जन्म को पाकर तू सम्यक् साधना के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके मुक्ति-रूपी अमृत को प्राप्त कर सकता था, उसी जीवन में तूने नाना कुकर्म करके दुर्गति रूपी विष-वृक्षों की स्थापना कर ली है और अपना सम्पूर्ण जीवन प्रभु की भक्ति न करके व्यर्थ गँवा दिया है।

कहने का आशय यही है कि मुमुक्षु को सर्वप्रथम तो सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। दूसरे, अगर कुछ ज्ञान हासिल हो जाये तो उसके लिए रंचमात्र भी अभिमान का भाव हृदय में नहीं आने देना चाहिए। ज्ञान का अभिमान ऐसा विष है जो कि आत्मोत्थान के मूल को ही नष्ट कर देता है तथा आत्मा को प्रगति के पथ पर नहीं बढ़ने देता। इसीलिए भगवान ने ज्ञान के गर्व को 'प्रज्ञा-परिषह' कहा है और इससे बचने का आदेश दिया है।

संसार में आज तक जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपनी निरभिमानता के कारण ही जीवन को सफल बना सके हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बड़े प्रतिभा-

शाली व्यक्ति थे और इसीलिए वे कुछ काल पश्चात् जिस कालेज में पढ़ते थे उसी में प्रिसिपल के पद पर प्रतिष्ठित होकर पहुँचे ।

कॉलेज के सभी प्रोफेसरोँ और क्लर्कोँ को वे पहचानते थे, अतः सभी से वे अत्यन्त विनम्रता से पेश आते थे ।

एक दिन वे कॉलेज के दफ्तर में गये तो वहाँ का मुख्य क्लर्क उन्हें प्रिसिपल मानकर आदर से खड़ा हो गया । यह देखते ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन्हें दोनों हाथ पकड़कर बैठते हुए बोले—“अरे, आप बैठिये न ! मैं तो आपका वही पुराना छात्र ईश्वर हूँ ।”

मुख्य क्लर्क विद्यासागर की विनम्रता एवं निरभिमानता देखकर श्रद्धा से गद्गद हो उठा ।

तो बन्धुओ, यह तो एक छोटा सा उदाहरण है जो बताता है कि ज्ञान का अभिमान नहीं करना चाहिए । ऐसा करने से व्यक्ति अन्य लोगों के दिलों में तो अपना उच्च स्थान बनाता ही है साथ ही आत्मा को उन्नत एवं गर्व के विष से रहित भी रखता है । जो ऐसा नहीं कर पाता वह मन्दबुद्धि या अज्ञानी की श्रेणी में रहकर इस जीवन में भले ही अपनी यशपताका या विद्वत्ता की छाप अपने जीवन पर लगावे, किन्तु परलोक में उसका तनिक भी लाभ नहीं उठा पाता, उलटे नाना कर्मों का बन्धन करता हुआ संसार-परिभ्रमण करता रहता है ।

शास्त्रों में कहा भी है—

अहं ज्ञानं खिलह बालपम्ने ।

—सूक्ततांग

अर्थात् जो अपनी प्रज्ञा के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह मन्द-बुद्धि और दूसरे शब्दों में बालप्रज्ञ है ।

शास्त्र के इन वचनों से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को अपनी प्रज्ञा का अहंकार कदापि नहीं करना चाहिए तथा अहंकार का भाव हृदय में आये तो उसे परिषह समझकर समभाव में रहने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अब मैं ‘प्रज्ञा-परिषह’ की मुख्य बात को लेता हूँ । आपको स्मरण होगा कि ‘श्री उत्तराध्ययनसूत्र’ की पूर्व में कही हुई गाथा के अनुसार ज्ञान प्राप्त होने पर उसका गर्व करना तो परिषह है ही साथ ही ज्ञान प्राप्त न कर सकने पर हृदय में खेद, खिन्नता या हीनता के भाव लगना भी ज्ञान का परिषह है । किसी के द्वारा प्रश्न किये जाने पर अगर उसका उत्तर देने की क्षमता न हो तो यह सोचना कि ‘मैं कुछ भी नहीं जानता’ यह उचित नहीं है । प्रज्ञा का अभाव हीनता का कारण नहीं है ।

इस संसार में प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति तो कुशाग्र बुद्धि के होते हैं और कुछ मन्द बुद्धि के। बुद्धि की परीक्षा कम उम्र के बालकों की सहज ही हो जाती है। जो छात्र तीव्र बुद्धि के धनी होते हैं वे हर वर्ष अपनी श्रेणी में पास होते जाते हैं और अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण होते हैं। किन्तु जिनकी बुद्धि मन्द होती है, वे परिश्रम करते रहने पर भी एक ही कक्षा में कई वर्ष तक बने रहते हैं। पर ऐसा होना उनका दोष नहीं है यह ज्ञानावरणीय कर्मों का दोष होता है, जिनके क्षय न होने के कारण वे जल्दी विद्या या ज्ञान हासिल नहीं कर पाते।

ऐसी स्थिति में सदा यह विचार करके दुखी होना उचित नहीं कि “मैं मन्द बुद्धि वाला हूँ और मुझे ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है।”

बुद्धि की तीव्रता के अभाव में चाहे वह छात्र हो या साधक, उसे प्रथम तो यह चाहिए कि वह बिना दुःख और हीन भावनाओं के निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहे। ऐसा करने से तथा ज्ञानाभिलाषा के हृदय में सतत् बने रहने से धीरे-धीरे उसके ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता चला जाएगा और वह ज्ञान का अधिकारी बन सकेगा।

यह आवश्यक नहीं है कि जो व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ में अर्थात् बाल्यावस्था में मन्द बुद्धि का होता है वह जीवन के अन्त तक भी वैसा ही बना रहे। प्रयत्न करने पर तो पत्थर पर भी लकीरें बन जाती हैं तो फिर मानव के मस्तिष्क में तो चेतना है तथा उसके हृदय में लगन और ग्राह्य शक्ति बनी रहती है। इसलिए बुद्धि की ओर से निराश हो जाना या अपने आपको सर्वथा हीन समझ लेना उचित नहीं है। प्रत्येक मन्द बुद्धि वाले ज्ञान-पिपासु को यह दोहा कभी नहीं भूलना चाहिए—

रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निसान।
करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।

दोहे का अर्थ सरल है और यही है कि जिस प्रकार कुए के पास पड़े हुए पत्थर पर रस्सी के बार-बार आने-जाने से निशान बन जाता है, उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से जड़बुद्धि वाला व्यक्ति भी एक दिन महापण्डित बन सकता है।

तो निरन्तर अभ्यास और उसके साथ-साथ विद्याभिलाषी व्यक्ति को सदा यह ध्यान भी रखना चाहिए कि उसके हृदय में वे अवगुण धर न कर पाएँ जो कि ज्ञान-प्राप्ति में बाधक बनते हैं।

‘श्री उत्तराध्ययनसूत्र’ में एक स्थान पर कहा गया है—

अहं पंचहिं ठाणोहिं, जेहिं सिक्खा न लब्धई ।
थंभा, कोहा, पमाएणं, रोगेणात्सस्सएण वा ॥

अर्थात्—अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग एवं आलस्य इन पाँच कारणों से व्यक्ति शिक्षा या ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता ।

शास्त्र के इन वचनों पर हृदय श्रद्धा रखते हुए ज्ञानेच्छु को इन सभी दुर्गुणों से बचना चाहिए तथा सरलता एवं विनयपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने में संलग्न होना चाहिए ।

‘श्री ठाणांगसूत्र’ में भी ज्ञान प्राप्ति के चार कारण या उपाय बताये गये हैं । वे इस प्रकार हैं—

“(१) इत्थीकहं, भत्तकहं, वेसकहं रायकहं नो कहेत्ता भवति । (२) विवेगेण विउत्सयेणं सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवति । (३) पुब्बरत्तावरत्तकाल समयंसि धम्म जागरियं जागरित्ता भवति । (४) फानुयत्स एसणिज्जत्स उच्छत्स सामुबाणियत्स सम्मं गवेसित्ता भवति ।”

शास्त्र के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख एवं प्रथम कारण है चित्त की एकाग्रता । विकथाएँ जो कि चार प्रकार की बतायी गयी हैं—स्त्रीकथा, भक्तकथा अर्थात् भोजनकथा, देशकथा और राजकथा । ये सब करते रहने से मन एकाग्र नहीं रह पाता और ज्ञान-प्राप्ति में बाधा पड़ती है । इसलिए इन व्यर्थ की विकथाओं से ज्ञानाभिलाषी को बचना चाहिए ।

ज्ञान प्राप्ति का दूसरा साधन है—उचित् चिन्तन-मनन, शान्ति एवं विचार-विमर्ष । इस विषय में नन्दीसूत्र में भी कहा गया है—

सुत्सुसई पडिपुच्छइ, सुणइ गिह्हाइ ईहए वावि ।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा कम्मं ॥

अर्थात्—ज्ञान प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति आठ प्रकार के साधनों से ज्ञान हासिल करने का प्रयत्न करता है । (१) वह सुनने की इच्छा करता है, (२) पूछता है, (३) उत्तर को ध्यान से सुनता है, (४) सुनकर ग्रहण करता है, (५) तर्क-वितर्क से ग्रहण किये हुए को तौलता है, (६) तौलकर निश्चय करता है (७) निश्चित अर्थ को धारण करता है, और (८) धारण कर लेने पर उसके अनुसार आचरण करता है ।

इस प्रकार करने पर ही साधक ज्ञानार्जन के पथ पर अग्रसर होता है । तो, ठाणांगसूत्र के अनुसार हमने ज्ञान-प्राप्ति के दो कारणों को समझा है और अब तीसरा कारण हमें समझना है ।

ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा कारण या साधन है—धर्म जगरण करना । धर्माराधन अथवा ज्ञानाराधन के लिए शास्त्रों में सबसे उपयुक्त समय रात्रि का बताया गया है । दिन के समय कोलाहल बना रहता है तथा नाना प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होकर साधक के मन की एकाग्रता को भंग कर देती हैं । किन्तु रात्रि के समय सांसारिक शोर नहीं रहता तथा वातावरण पूर्णतया शांत हो जाता है, अतः उस समय ज्ञानाराधन सुचारु रूप से किया जा सकता है । इसलिए साधक को रात्रि के समय ही अधिकांश ज्ञान दोहराना या कंठस्थ करना चाहिए ।

अब आता है ज्ञान-प्राप्ति का चौथा कारण । वह है—शुद्ध एवं पवित्र आहार करना । प्रथम तो ज्ञानार्थी को सदा अल्पाहार करना चाहिए । अधिक मात्रा में ठूस-ठूसकर खाने से जीवन में आलस्य बढ़ता है और आलस्य ज्ञान-प्राप्ति में घोर बाधक बनता है । कहा भी है—

तद्वा भोतव्वं जहा से जाया माता य भवति ।

न य भवति विबभभो, न भंसणा वा धम्मस्स ॥

—प्रश्नव्याकरण २/४

अर्थात् ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवनयात्रा एवं संयम-यात्रा के लिए उपयोगी बन सके, और जिससे किसी प्रकार का विभ्रम न हो तथा धर्म की भ्रंसना भी न हो ।

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म-साधना हो या ज्ञान-साधना, उसे भली-भाँति चलाने के लिए अल्प और शुद्ध आहार करना आवश्यक है । अधिक खाने से आलस्य बढ़ता है और मांस-मदिरादि तामसिक वस्तुओं को ग्रहण करने से मन और मस्तिष्क में विकृति आती है तथा बुद्धि मन्द होती है । अतः ज्ञानेच्छु को ज्ञान में सहायक मानकर अल्प एवं पवित्र आहार ही ग्रहण करना चाहिए । ऐसा करने पर ही वह ज्ञान हासिल कर सकेगा ।

बन्धुओं, अभी हमने ज्ञान-प्राप्ति के कारणों पर विचार किया है, जिनकी सहायता से मन्दबुद्धि साधक भी निरन्तर प्रयत्न करते हुए ज्ञान हासिल कर सकता है । किन्तु मुझे यहाँ एक बात और भी आप लोगों के समक्ष रखनी है । और वह यह है कि अगर कोई व्यक्ति या साधक इन सब कारणों का ध्यान रखते हुए भी निविड़ ज्ञानावरणीय कर्मों के कारण पुस्तकीय या शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता है, तब भी उसे कदापि निराश नहीं होना चाहिए और घोर दुःख, पश्चात्ताप अथवा आर्तध्यान करके नवीन कर्मबन्धन नहीं करने चाहिए । भगवान के आदेशानुसार 'मैं अज्ञानी हूँ अतः मुझे मानव-जीवन का

लाभ नहीं मिल सकेगा' ऐसे विचार उसके चित्त में कभी नहीं आने चाहिए। ऐसे साधक को केवल यही सोचना चाहिए कि मेरे ज्ञानावरणीय कर्मों का उदय है और इनका उदय में रहना प्रज्ञा-परिषह है, जिसे मुझे समभाव से सहन करना है।

मानव-जीवन का उद्देश्य

गम्भीरता से विचार किया जाय तो मानव-जीवन का उद्देश्य पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेना ही नहीं है अपितु आत्मा को कर्मों से मुक्त करना है। हमारा इतिहास तो बताता है कि अनेक प्राणी जिन्होंने किताबी ज्ञान प्राप्त नहीं किया वे भी अपनी आत्मा को सरल, शुद्ध एवं कषायरहित बनाकर इस संसार से मुक्त हो गये हैं।

शास्त्र भी कहते हैं—

सम्भारंभ-परिग्रहं निबलेवो सम्भूतसमया य ।
एककगमण समाहीणया य, ऊहएत्तिओ मोक्खो ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४५८५

अर्थात्—सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियों के प्रति समता और चित्त की एकाग्रतारूप समाधि—बस इतना मात्र ही मोक्ष है।

गाथा में मुक्ति की कितनी सरल, स्पष्ट और यथार्थ परिभाषा दी गई है? वस्तुतः जिस प्राणी की आत्मा वैर-विरोध, मोह-माया एवं कषायों से रहित होती है तथा सांसारिक सुखों और भोग-विलास के साधनों के प्रति जिसकी पूर्णतया उपेक्षा होती है, उसकी मुक्ति न हो यह कैसे हो सकता है?

इसलिए प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को भले ही उच्च ज्ञान हासिल न हो सके किन्तु फिर भी अपने वर्तमान जीवन से कदापि निराश न होना चाहिए तथा ज्ञान-प्राप्ति न होने पर भी आर्तध्यान, खेद, दुःख या हीनता का भाव मन में न लाते हुए अपने मानस को सरल, कषायरहित, सेवा, त्याग, सद्भाव एवं तपादि सद्गुणों से युक्त बनाते हुए जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि जो व्यक्ति उच्च ज्ञान प्राप्त करता है वही मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। अगर ऐसा होता तो अर्जुनमाली जैसा हत्यारा और अंगुलिमाल जैसा क्रूर डाकू किस प्रकार संसार से मुक्त होता? प्रत्येक मुमुक्षु को यह विश्वास रखना चाहिए कि आत्मा कर्मों से कितनी भी बोझिल क्यों न हो अगर प्राणी उसे शुभ और दृढ़ संकल्प के द्वारा पापों से बचाता रहे तो शनैः-शनैः वह मुक्ति की ओर निश्चय ही बढ़ेगी। भले ही यह

महान् कार्य एक जन्म में सम्पन्न न हो पाए किन्तु प्रयत्न करते रहने पर क्रमशः आगामी भवों में मुक्ति का द्वार उसके निकट आता जाएगा ।

इसके अलावा प्रायः देखा जाता है उच्च ज्ञान अहंकार का कारण बनता है और अहंकार एक ऐसी मजबूत दीवार होती है जो आत्मा को परमात्मा नहीं बनने देती या दूसरे शब्दों में भगवान की प्राप्ति में बाधक बन जाती है । इस सम्बन्ध में मैंने कहीं एक छोटी सी कथा पढ़ी थी वह इस प्रकार है—

अपङ्ग भक्त का भगवत् दर्शन

किसी शहर में एक पंडित रहते थे । उनके लिए कहा जाता था कि वे अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे और आध्यात्मिक ज्ञान का गूढ़ अध्ययन कर चुके थे ।

पंडितजी प्रतिदिन गंगा-स्नान के लिए जाया करते थे और पाँच बार सूर्य देवता को जल-अर्पण करके पाँचों बार ही गंगा में डुबकियाँ लगाया करते थे ।

उनकी इस क्रिया को एक भोला किसान प्रतिदिन देखता था क्योंकि वह उसी समय अपने बैलों को लेकर खेत की ओर जाया करता था । किसान बड़ा सरल, ईमानदार एवं भगवान का भक्त था । वह भी प्रातःकाल मंदिर में जाकर भगवान की प्रतिमा के समक्ष मस्तक झुकाता था और तत्पश्चात् अपनी दिनचर्या प्रारंभ करता था । वह पंडितजी पर बड़ी श्रद्धा रखता था और उन्हें भगवान का दूसरा रूप मानकर दूर से ही हाथ जोड़ लिया करता था ।

किन्तु एक दिन जब पंडितजी से उसका सामना हुआ तो वह पूछ बैठा— “भगवन् ! आप तो स्वयं ही भगवान के अवतार हैं, पर कृपा करके बताइये कि आप गंगा मैया में पाँच बार डुबकियाँ किसलिए लगाते हैं ? मैं तो महा-मूर्ख हूँ, अतः आपसे कुछ सीखना चाहता हूँ ।”

पंडितजी अपनी विद्वत्ता के कारण किसान जैसे अज्ञानी लोगों से बात करने में भी अपनी हेठी समझते थे और फिर स्वयं को भगवान का दूसरा रूप कहने पर तो और भी फूलकर कुप्पा हो गये थे । वे किसान को अत्यन्त तुच्छ समझकर झुंझलाते हुए बोले—

“देवकूफ ! तू भक्ति का मर्म क्या जानेगा ? मैं जो कुछ करता हूँ उससे भगवान मिलते हैं ।” इतना कहकर पंडितजी चल दिये पर किसान बेचारा बड़ा भला और भोला था । उसके मन में कहीं किसी पाप की छ्छाया नहीं थी । वह अवाक् खड़ा सोचने लगा— ‘पंडितजी बड़े ज्ञानी और भक्त हैं अतः उन्हें प्रति

दिन भगवान मिलते हैं। मैं मूर्ख और अपढ़ हूँ, पर क्या मुझे भगवान केवल एक दिन भी दर्शन नहीं देने ?'

उसके मन में बड़ी उथल-पुथल मच गई और सारी रात वह भगवान के दर्शन की उत्कण्ठा लिये जागता रहा। अगले दिन वह पौ फटने से पहले ही गंगा की ओर दौड़ा। वह सोच रहा था कि भगवान कहीं पंडितजी को दर्शन देकर चले न जाँय।

गंगा के तट पर पहुँचते ही उसने अपने कपड़े उतारे और जल में छलांग लगा दी। पानी के अन्दर ही वह हाथ जोड़कर और पालथी लगाकर बैठ गया तथा मन ही मन भगवान को पुकारने लगा।

इधर गंगा-स्नान के लिए आते हुए पंडितजी ने जब उसे नदी में कूदते हुए और शीघ्र वापिस निकलते हुए नहीं देखा तो सोचने लगे—'यह मूर्ख पानी में ही मर जाएगा और मेरे सिर हत्या आण्सी', यह सोचकर आसपास के लोगों को अपनी सफाई देते हुए देखी हुई सारी घटना बता दी।

लोग भी एक प्राणी की जान जाती देखकर चिन्ता में पड़ गए और तैरना जानने वालों को पुकार कर शोरगुल मचाने लगे। इसी में काफी समय निकल गया।

किन्तु सच्चा भक्त पानी में हठपूर्वक आसन जमाये बैठा था और कह रहा था—“प्रभु! आज तो आपके दर्शन किये बिना बाहर नहीं निकलूँगा चाहे जान चली जाय।”

सच्चे भक्त की पुकार सचमुच ही भगवान को सुननी पड़ती है, और हुआ भी यही। किसान की निवृद्धल पुकार को सुनकर और यह भली-भाँति समझकर कि आज यह भोला भक्त जान दे देगा, भगवान को आकर उसे दर्शन देना पड़ा।

किसान तो मानों निहाल हो गया और उनके चरणों में गिर पड़ा। भगवान ने पूछा—“वत्स! तूने मुझे जीत लिया है, अब बोल क्या चाहता है ?”

गद्गद होकर वह बोला—“प्रभो! आपके दर्शन हो गये फिर मेरे लिए और क्या माँगने को रह गया ? मुझे कुछ नहीं चाहिए, दर्शन ही चाहिए थे वह हो गये। मेरा तो जीवन धन्य हो गया।”

अब किसान खुशी से फूला न समाता हुआ पानी से बाहर आया। किनारे पर भीड़ इकट्ठी हो गई थी और पंडितजी भी राम-नाम जपते हुए एक ओर खड़े थे। लोग तो लाश के स्थान पर किसान को बड़े आनन्द से आता हुआ

देखकर दंग रह गये । पर किसान ने किसी की ओर भी नहीं देखा और सीधा जाकर पंडितजी के चरणों पर गिरता हुआ बोला—

“आप सचमुच भगवान के रूप हैं पंडितजी ! और रोज ही भगवान से मिलते हैं । किन्तु आपके बताने पर मैंने तो आज एक बार ही भगवान के दर्शन कर लिए इसी में मेरे तो जनम-जनम सफल हो गये ।”

पंडितजी की आंखें आश्चर्य से फटी की फटी रह गयीं पर वे मन में समझ गये कि किसान की भक्ति सच्ची है मैं तो केवल दिखावा करता हूँ और इसीलिए बरसों गंगा-स्नान करने पर और पूजा-पाठ पढ़ने पर भी मुझे भगवान के दर्शन नहीं हो सके । मेरी विद्वत्ता और शास्त्रों के ऐसे ज्ञान से क्या लाभ है, जबकि मुझ में उसका गर्व है और पंडित कहलाने की हृदय में आकांक्षा बनी हुई है । मुझसे तो यह निरक्षर किसान ही अच्छा है जिसके हृदय में भगवान के प्रति दृढ़ श्रद्धा और सच्ची लगन है ।

बन्धुओ, इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि भगवान ने ज्ञान प्राप्त करने पर भी उसका गर्व न करने का तथा उसकी प्राप्ति न होने पर खेद-खिन्न न होने का आदेश क्यों दिया है ? वस्तुतः ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही व्यक्ति की आत्मा संसार-मुक्त नहीं हो जाती और न ही उसके अभाव से वह संसार-भ्रमण करती ही रहती है । आत्मा की कर्मों से मुक्ति धर्म के द्वारा होती है और धर्म है आत्मा की शुद्धि होना ।

श्री स्थानांगसूत्र में कहा गया है—

चत्तारि धम्मदारा ।

खंती, मुत्ती, अज्जवे, मह्वे ॥

अर्थात्—क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता—ये चार धर्म के द्वार हैं ।

गाथा से स्पष्ट है कि जो भव्य पुरुष इन चारों को अपनाता है, धर्म उसके हृदय में निवास किये बिना नहीं रह सकता । धर्म संसार के समस्त संतापों का शमन करके आत्मा को अनन्त शांति की उपलब्धि कराता है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि साधक निरंतर अपने दोषों और त्रुटियों की ओर दृष्टि रखे तथा बीतराग के वचनों पर दृढ़ श्रद्धा रखता हुआ अपने आचरण को श्रेष्ठ बनाए ।

श्रद्धा की महत्ता के विषय में कहा गया है—

जं सबकं तं कीरइ, जं न सबकइ तयम्मि सदहणा ।

सदहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥

—धर्मसंग्रह २।२१

अर्थात्—जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए एवं जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जीव भी जरा एवं मरणरहित मुक्ति का अधिकारी होता है।

तो बन्धुओ, जानावरणीय कर्मों का क्षय होने पर ज्ञान प्राप्त होना बड़े सौभाग्य की बात है किन्तु उसके प्राप्त न होने पर भी अपने जीवन को निरर्थक मानना उचित नहीं है। मोक्ष-पथ के पथिक को तो दोनों ही अवस्थाओं में समभाव रखना चाहिए। स्वयं को बुद्धिहीन समझकर साधक को अपनी बुद्धि अथवा प्रज्ञा की मन्दता पर दुःख करते हुए आर्तध्यान न करके उसे प्रज्ञा-परिषह समझना चाहिए तथा उस पर विजय प्राप्त करके संवर-भाग पर हृद् कदमों से बढ़ना चाहिए।

○

गहना कर्मणो गतिः

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनों !

हमारा कल का विषय 'प्रज्ञा-परिधह' था। उसमें बताया गया था कि अगर साधक में बुद्धि या प्रज्ञा की प्रचुरता है तो वह उसका गर्व न करे तथा प्रज्ञा की मन्दता हो तो उसके लिए मन में खेद न लावे। यह स्वाभाविक है कि लोग साधु से विविध विषयों पर प्रश्न करते हैं, किन्तु अगर वह उनके उत्तर देने की क्षमता न रखता हो और प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा का समाधान न कर पाता हो तो भी वह कदापि यह विचार न करे कि—“मैं अज्ञानी हूँ, मन्दबुद्धि हूँ अतः कुछ भी नहीं जानता।” ऐसी स्थिति में साधक को केवल यह सोचना चाहिए कि मेरे ज्ञानावरणीय कर्मों का अभी क्षय नहीं हुआ है और मुझे उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करना है।

इसी विषय पर श्री उत्तराध्ययन सूत्र की अगली गाथा में कहा गया है—

अह पच्छा उइज्जति, कम्माऽणाणफला कडा ।

एवमस्सासि अप्पाणं, णच्चा कम्मविवागर्थं ॥

—अध्ययन २, गाथा ४१

इस गाथा में भगवान ने कर्मों की गहनता बताते हुए कहा है कि बंधे हुए कर्म कभी अल्पकाल में, कभी अधिक काल में या उसके बाद भी उदय में अवश्य आते हैं। इसलिए उनका उदय होने पर शोक या दुःख न करते हुए प्राणी को यह विचार करना चाहिए कि—“ये कर्म मैंने अज्ञानवश किये हैं अतः इन्हें भोगना ही पड़ेगा। निरर्थक दुःख करने पर तो नये कर्म और भी मेरी आत्मा को जकड़ लेंगे। अतः मुझे समतापूर्वक इन्हें सहन करना है।”

वस्तुतः 'गहना कर्मणो गतिः' यह उक्ति थयार्थ है। शास्त्रों में अनेक स्थानों पर बताया गया है कि कर्म एक-दो जन्म तक तो क्या अनेक जन्मों तक

भी जीव का पीछा नहीं छोड़ते और वह उनके अनुसार नाना शोनियों में घोर दुःख पाता रहता है ।

‘श्री उत्तराध्ययन सूत्र’ के तीसरे अध्याय में कर्मों की विचित्रता बताते हुए कहा गया है—

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल बुक्कसो ।
तओ कीड पर्यंगो य, तओ कुंथु पिक्कीलिया ॥

अर्थात् कर्मों के कारण ही जीव कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी वर्णशंकर तथा कभी-कभी कीट, पतंगा, कुंथुआ और चींटी के रूप में आ जाता है ।

कर्मों के करिश्मे

नन्दन मणिहार बड़ा समृद्ध व्यक्ति था । वह अपार ऋद्धि का स्वामी था किन्तु भगवान महावीर का सच्चा श्रावक था । एक महीने में छः पौषध एवं उपवास, बेले, तेले आदि की तपस्या भी किया करता था ।

किन्तु जब तक भगवान महावीर के उपदेश वह सुनता रहा, तब तक तो उसकी भावनाएँ दृढ़ रहीं और जब वे प्राप्त नहीं हुए तो विचार करने लगा— “अब छोटे-छोटे संतों से क्या उपदेश सुनना ?” परिणाम यह हुआ कि इन संतों की संगति छूट गई और अन्य मत के संतों की संगति बढ़ी । इस कारण व्रत-बन्धन भी ढीले पड़ गये ।

एक बार नन्दन मणिहार ने तेला किया । गर्मी के दिन थे अतः जिह्वा सूखने लगी । उस समय उसे विचार आया कि तेला करने से मेरी यह हालत हो गई है पर जिन गरीबों को पीने के लिए पानी नहीं मिलता, उनकी क्या दशा होती होगी ? उसकी भावना बदली और राजा श्रेणिक की आज्ञा लेकर उसने जगह-जगह कुएँ, बावड़ियाँ बनवाई और भूखों को भोजन प्राप्त हो, इसके लिए दानशाला भी खुलवा दी ।

यद्यपि दान में पाप नहीं था किन्तु तप-त्याग के प्रति उसकी उदासीनता हो गई और जो समय वह आत्मचिंतन एवं धर्मारोधन में लगाता था, वह समय दूसरे कर्मों में व्यतीत करने लगा । कुछ समय पश्चात् उसके शरीर को सोलह भयानक रोगों ने जकड़ लिया । उसने मुनादी भी करवाई कि ‘जो कोई मेरा एक भी रोग दूर करेगा उसे मुँह माँगा इनाम दूँगा ।’ पर किसी के द्वारा उसे रोग से मुक्ति नहीं मिल सकी और उसका अन्तिम समय आ गया ।

यद्यपि अन्तिम समय में बारह व्रतधारी श्रावक के हृदय में पूर्ण समाधि भाव होना चाहिए था पर नन्दन मणिहार संतों की संगति छोड़ चुका था और

भगवान् के उपदेशों का अस्तित्व भी उसके हृदय से मिट गया था। अतः जैसा कि उसने अपने जीवन का पिछला समय व्यतीत किया था—दानशाला व बावड़ी आदि बनवाने में, उन्हीं का उस समय उसे स्मरण रहा और ध्यान आया—“अरे ! मैंने दानशाला बनवाई, बावड़ी खुदवाई, पर उन्हें आँखों से देख भी नहीं सका।” वस, इन्हीं भावनाओं के कारण वह अपनी ही खुदवाई बावड़ी में मेंढक बन गया।

ऐसी होती है कर्मों की विचित्रता। नन्दन मणिहार ने अपनी भावनाओं के अनुसार कर्मों का बन्ध किया और उनका फल पाया। प्रथम तो उसने यह विचार किया कि “छोटे संतों का उपदेश क्या सुनना ?” जिससे ऐसे बन्ध किये कि शरीर रोगों से भर गया। उसके पश्चात् अन्तिम समय तक अपनी खुदवाई हुई बावड़ी में आसक्ति रहने के कारण उसमें मेंढक बना।

कौन बड़ा और कौन छोटा ?

ब्रन्धुओ, यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि संतों को बड़ा और छोटा समझना व्यक्ति की बड़ी भारी भूल है। आखिर आप बड़े और छोटे की पहचान किस प्रकार करते हैं ? यह संभव है कि ज्ञानावरणीय कर्मों का अधिक क्षय होने के कारण कोई संत अधिक विद्वत्ता हासिल कर लेते हैं और वे आपको अधिक उपदेश दे सकते हैं और जिन्हें आप छोटा मानते हैं वे कम बोल पाते हैं। किन्तु वे भी तो जो कुछ कहते हैं, वीतराग के वचनों में से ही आपको सुनाते हैं। फिर अधिक उपदेश देने वाला बड़ा और कम उपदेश देने वाला छोटा क्योंकर हुआ ? क्या अधिक उपदेश सुनकर उन सभी को आप अमल में लाते हैं और कम सुना हुआ ग्रहण नहीं कर पाते ?

मेरे भाइयो ! अमल में लाने वाला जिज्ञासु श्रोता तो दो वाक्य सुनकर भी अपने जीवन में आमूल परिवर्तन कर सकता है और आपको तो बड़े-बड़े संतों के उपदेश सुनते हुए बरसों बीत गये पर आप वहीं हैं जहाँ थे। फिर संतों को छोटा-बड़ा कहने का आपको क्या अधिकार है ? और उससे लाभ भी क्या है ?

इसके अलावा मैं समझता हूँ कि जिन संतों के स्थान पर अधिक दर्शनार्थी आया करते हैं और जिनके चानुमासों में अधिक धन व्यय होता है, उन्हें भी आप बड़ा मान लेते हैं। क्या बड़प्पन का यही नाप है ? नहीं, साधु का बड़प्पन अपने महाव्रतों का मली-भाँति पालन करने में और साधनाभय जीवन विताने में है। इस दृष्टि से गुदड़ी में लाल के समान आपको ऐसे-ऐसे संत मिल सकते हैं जो भले ही उपदेश नहीं दे सकते और जिनके यहाँ दर्शनार्थियों की धकापेल भी नहीं होती पर वे यथार्थ रूप में बड़े और महान् संत कहलाने के अधिकारी

होते हैं। इसलिए किसी भी व्यक्ति को संत के बड़प्पन और छोटेपन का विचार किये बिना उनके द्वारा प्रदत्त वीतराग-वाणी को चाहे वह कर्म मात्रा में हो या अधिक मात्रा में, ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

नन्दन मणिहार ने भगवान के अलावा अन्य संतों को छोटा मानकर उनकी अवज्ञा की इस भावना के कारण प्रथम तो उसके शरीर में रोगों ने घर किया और अन्त समय में आसक्ति की भावना बनी रहने से उसे अपनी ही बावड़ी में मेंढक के रूप में जन्म लेना पड़ा। पर फिर भी उसके कृत पुण्यों का संचय था और उनके प्रभाव से फिर उसके जीवन ने पलटा खाया।

वह इस प्रकार कि जब वह अपनी ही बावड़ी में मेंढक के रूप में समय व्यतीत कर रहा था, एक बार कुछ व्यक्ति बावड़ी पर आकर नन्दन मणिहार के दानादि गुणों की सराहना करने लगे। मेंढक संजी था और एक ही जन्म का बीच में अन्तराल था। अतः लोगों के द्वारा बोले गये शब्द उसे परिचित लगे और पुण्योदय से उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। फलस्वरूप उसे अपना नन्दन मणिहार वाला जीवन करकंकणवत् दिखाई देने लगा। ऐसा होते ही वह चिंतन में लीन हो गया और पश्चात्ताप करने लगा कि 'मैंने किस प्रकार बड़े और छोटे का मन में भेद-भाव लाकर संतों की संगति त्यागी थी, जिसके परिणामस्वरूप अपनी त्याग-तपस्या को छोड़कर आज मनुष्यगति से तिर्यचगति में आ पड़ा हूँ।'

घोर पश्चात्ताप करते हुए नन्दन मणिहार के जीव मेंढक ने सोचा—'हि आत्मन् ! जो कर्म किये थे वे तो भुगतने ही पड़ेंगे पर फिर भी कोई हर्ज नहीं, अब भी चेत जाऊँ तो ठीक है।'

यह विचारकर उसने श्रावक के ग्यारह व्रत पुनः धारण किये क्योंकि बारहवाँ व्रत दान देना तो तिर्यचगति में सम्भव नहीं था। उसने बेला करना भी प्रारम्भ कर दिया और आत्म-चिन्तन में लीन हो गया।

सौभाग्य से भगवान महावीर पुनः उस शहर में पधारे और मेंढक को बावड़ी के ऊपर लोगों की बातों से यह ज्ञात हुआ कि राजा श्रेणिक एवं सभी सेठ-साहूकार उनके दर्शनार्थ जा रहे हैं। मेंढक के हृदय में भी अपार श्रद्धा उमड़ी और उसकी इच्छा महावीर भगवान के दर्शन करने की हुई। फलस्वरूप वह बावड़ी से बाहर निकला और धीरे-धीरे उसी मार्ग पर चल दिया जिस पर होकर अनेक दर्शनार्थी जा रहे थे। मेंढक का हृदय आनन्द विभोर एवं श्रद्धा से विगलित हो रहा था कि आज भगवान के दर्शन कर सकूँगा। किन्तु कर्म बली होते हैं, वे किसी जीव की भावनाओं को नहीं देखते। मेंढक के अशुभ कर्मों का भी उदय हुआ और वह भगवान के दर्शन नहीं कर सका।

ठीक उसी समय जबकि वह शनैः-शनैः आगे-आगे बढ़ रहा था, महाराज श्रेणिक भी ससैन्य उधर से गुजरे। फिर क्या था, श्रेणिक के घोड़े की एक टॉप पड़ते ही मेंढक धायल होकर मरणासन्न हो गया। किन्तु उस समय भी उसकी भावना दृढ़ श्रद्धा, आस्था एवं समता से परिपूर्ण थी। उसने विचार किया—“भगवान के दर्शन करने जा रहा था पर कर्मों के चक्र में पड़ने से पहुँच नहीं सका अतः यहीं से उन्हें वन्दन-नमस्कार करता हूँ।” इस प्रकार पूर्ण सम-भाव रखने के कारण अगले ही क्षण वह मृत्यु को प्राप्त होकर सीधा स्वर्ग-लोक में पहुँच गया।

महावीराष्टक में चौथा श्लोक इसी विषय पर है। वह इस प्रकार है—

यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्वुर इह,
क्षणदासीत् स्वर्गो गुणगण-समृद्धः सुखनिधिः।
लभन्ते सद्भक्ताः शिवसुख-समाजं किमु तदा ?
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥

इस श्लोक के द्वारा यही प्रार्थना की गई है कि—“हे प्रभो ! प्रमुदित हृदय से तो आपकी शरण में आने पर जब दर्वुर मेंढक जैसे तिर्यच भी क्षण भर में ही गुणों के समूह से समृद्ध स्वर्ग में पहुँच सकते हैं तो फिर हम मनुष्य क्यों नहीं आपकी आराधना करने पर शुभ गति की प्राप्ति कर सकते हैं ?”

पर बन्धुओ, ऐसा होगा कब ? तभी, जबकि हमारी भावनाएँ पूर्णतया विशुद्ध होंगी। हमारे हृदयों से विषय-विकारों का निष्कासन होगा और अपने पापों के लिए सच्चा पश्चात्ताप होगा। संसार को बढ़ाने और घटाने का मुख्य कारण मन की भावनाएँ ही होती हैं। अगर भावनाएँ कलुषित अथवा राग-द्वेष से परिपूर्ण रहीं तो व्यक्ति चाहे श्रावक के व्रत धारण करले अथवा साधु के बाने को अपना ले, इससे कोई लाभ होने वाला नहीं है। अन्त में तो उसे पश्चात्ताप करना ही पड़ेगा कि मैंने सम्पूर्ण क्रियाएँ मात्र दिखावे के लिए की थीं।

किसी गुजराती कवि ने ऐसे ही पश्चात्ताप को पद्यों में अंकित करते हुए लिखा है—

ठगवा विभु ! आ विश्व ने,
वैराग्य ना रंगो धर्या।
ने घर्म नो उपदेश रंजन,
लोक ने करवा कर्या ॥

विद्या भण्यो हूँ वाद माटे,
केटली कथनी कहूँ ।
साधु थई ने बाहर थी,
दांभिक अंदर थी रहूँ ॥

इन पद्यों से स्पष्ट है कि भले ही व्यक्ति अपने-आपको वैरागी साबित करने के लिए सफेद या गेरुए वस्त्र धारण करले और लच्छेदार भाषा में उपदेश देकर लोगों को प्रसन्न करदे । इतना ही नहीं वाद-विवाद करके अपनी विद्वत्ता का सिक्का औरों पर जमा दे तथा सम्पूर्ण क्रियाएँ साधुता का प्रदर्शन करने वाली करने लग जाय, किन्तु अगर उसके अन्तर्मानस को वे छूती न हों और वह दम से भरा हुआ हो तो सब वृथा हो जाता है और अन्त में कहना पड़ता है—

भूत भावी ने सांप्रत तणे,
भव नाथ हूँ हारी गयो ।
स्वामी त्रिशंकु जेम हूँ,
आकाश मां लटकी रह्यो ॥

वस्तुतः बाह्यवेष एवं बाह्य क्रियाओं के ठीक होने पर भी अगर भावनाएँ इनके अनुसार न होकर उलटी और विकृत होती हैं तो मनुष्य त्रिशंकु के समान ही बीच में रह जाता है । न तो वह इस लोक के सुख या यश को स्थायी रख पाता है और न ही पर-लोक में शुभ फल की प्राप्ति कर पाता है । इसलिए साधक को या गृहस्थ को अपने बाह्य आचरण के अनुसार ही मन की भावनाओं को भी साधना चाहिए ताकि कर्म-बन्धनों से बचा जा सके और पूर्णतया बचाव न भी हो सके तो कम से कम निविड़ कर्म तो न बँधें । कर्मों के हलकेपन और चिकनेपन पर शास्त्रों में एक उदाहरण आता है—

एक बार गौतमस्वामी भगवान की आज्ञा लेकर आहार की गवेषणा के लिए गये । चलते-चलते जब वे एक घर के द्वार पर पहुँचे तो देखा कि गृह-स्वामिनी दरवाजे पर बैठी हुई सब्जी सुधार रही थी । यह देखकर मुनि आगे बढ़ गये ।

जब उस बहन ने मुनिराज को द्वार पर से लौटते हुए देखा तो उसे घोर पश्चात्ताप हुआ कि—‘अगर मैं इस प्रकार दरवाजे में बैठकर वनस्पति का छेदन न कर रही होती तो सन्त मेरे द्वार से खाली नहीं लौटते ।’

इधर गौतमस्वामी जब दूसरे घर की ओर गए तो संयोगवश उस घर की बहन भी हरी सब्जी ही तैयार कर रही थी । मुनि वहाँ से भी चल दिये ।

किन्तु उस बहन के दिल में यह भावना आई कि—‘मैं रास्ते में बैठी थी अतः सन्त लौट गये हैं, पर कुछ समय पश्चात् घूम-फिरकर आ जाएँगे।’

गौतम स्वामी जब आहार लेकर अपने स्थान पर लौटे तो उन्होंने उत्सुकता-वश भगवान से पूछ लिया—‘भगवन् ! आज मुझे दो घरों पर एक जैसा संयोग मिला था। कृपया बताइये कि दोनों घर की बहनों में से किसके कर्म अधिक बँधे ?’

भगवान ने फरमाया—‘पहले घर की बहन को तुम्हारे लौट जाने पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ था अतः उसके कर्म-बन्धन कम हुए। किन्तु अगले घर की बहन ने सोचा कि सन्त थोड़ी देर बाद घूम-घामकर आ जाएँगे। उस बहन को अपने पाप पर कोई पछतावा नहीं हुआ अतः उसके ज्यादा पापकर्म बँधे हैं।’

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि भावना ही हलके कर्म बाँधती है और भावना ही चिकने। कर्मों का क्षय भी भावना ही करती है और उन्हें इकट्ठा करना भी उसी का कार्य है। भावों की मिश्रता के उदाहरण आप आए दिन देखते भी हैं, जैसे—तिजोरी की चाबी न देने पर डाकू व्यक्ति का शरीर शस्त्र से काट देता है और डॉक्टर रोगी की जान बचाने के लिए उसके शरीर को चीरता है। शस्त्र डाकू और डॉक्टर दोनों ही चलाते हैं किन्तु डाकू के द्वारा अंग-भंग किये जाने के पीछे महान् क्रूरता और निर्दयता होती है तथा डॉक्टर के द्वारा शरीर चीरे जाने या कोई सड़ा हुआ अंग काटे जाने के पीछे दया, सहानुभूति, प्राण-दान और कर्तव्य की भावना रहती है। इन कार्यों को देखकर आप सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार का कार्य करने पर भी चोर-डाकू के कर्म किस प्रकार के बँधेंगे और डॉक्टर के किस प्रकार के ?

कोई भी समझदार व्यक्ति पाप हो जाने पर प्रसन्न नहीं होता उलटे दुःखी होता है, जबकि अज्ञानी व्यक्ति को उससे भय नहीं लगता। किन्तु उन कर्मों का जब उदय होता है तो मामला उलटा हो जाता है। अर्थात्—अज्ञानी व्यक्ति तो रो-रोकर उन्हें भोगता है और ज्ञानी यह सोचकर कि—‘मैंने अज्ञानवश जो कर्म किये हैं, उन्हें भोगना तो पड़ेगा ही फिर दुःख किसलिए ?’ यह विचारता हुआ समतापूर्वक उन्हें सहन कर लेता है।

‘मगवती सूत्र’ में वर्णन आता है कि नरक में भी जीव समदृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्रदृष्टि होते हैं। किन्तु समदृष्टि जीव यह सोचते हैं—‘हे आत्मन् ! तुने जैसे कर्म बँधे हैं उन्हें भुगतना तो पड़ेगा ही फिर दुःखी होकर आर्तध्यान करते हुए नवीन कर्म क्यों बाँधना ?’ पर मिथ्यादृष्टि वाले नारकीय प्राणी रोते-पीटते हैं, हाहाकार करते हैं और इस प्रकार अनेकानेक नये कर्म और भी बाँधते चले जाते हैं।

कहने का आशय यही है कि सम्यक्त्वी जीव चाहे मनुष्य हों, तिर्यच हों या नारकीय, पापकर्मों के फल उन्हें भोगने ही पड़ने हैं और उनके अनुसार दुःख और वेदना भी उन्हें उतनी ही होती है जितनी मिथ्यात्वी जीवों को होती है। किन्तु मिथ्यात्वी जहाँ रोते-झींकते हुए दुःखों को सहन करते हैं वहाँ सम्यक्त्वी कर्मों को पुराना कर्ज समझकर उन्हें समता और शान्ति से चुकाते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके पूर्वकर्मों की निर्जरा तो होती रहती ही है साथ ही नवीन कर्मों की गठड़ी पुनः नहीं बँधती।

इसीलिए भगवान आदेश देते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अगर हमें कुशाग्र बुद्धि की प्राप्ति न भी हो तो उसके लिए खेद नहीं करना चाहिए अपितु पापकर्मों का उदय समझकर उस अभाव को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। इसके साथ ही हमारा मुख्य लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि पूर्व-कर्मों की निर्जरा हो और नवीन कर्मों का उपार्जन न हो क्योंकि कर्मों का बन्धन होना तो बहुत सरल है पर उनका भुगतान करना बहुत कठिन हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह श्रावक हो या साधु, उसे वीतराग के बचनों पर विश्वास करते हुए अपनी आत्मा के दोषों को देखना चाहिए और उन्हें दूर करते हुए आत्मा को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि वह अपनी आत्मिक-शक्ति को पहचाने तथा औरों से अपनी तुलना करना छोड़ दे। अनेक भक्त अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए भगवान से प्रार्थना करते हुए देखे जाते हैं। कोई तो शिव से, कोई राम से, कोई हनुमान से और कोई अन्य देवताओं से याचना करते हैं कि 'मेरा अमुक कार्य सिद्ध करो।' वे भूल जाते हैं कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि अपने परिश्रम से और अपने ही आत्मबल से होती है। अपनी आत्मा में जो अनन्त शक्ति छिपी हुई है, उसे न पहचानते हुए अन्य किसी के समक्ष दीन बनकर याचना करने मात्र से कुछ नहीं होता।

एक संस्कृत के कवि ने चातक को सम्बोधन करते हुए कहा है—

“रे रे चातक सावधान मनसा मित्र ! क्षणं श्रूयताम्,
अम्भोदा बहुवोऽपि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ।
केचिद् बृष्टिभिराद्रयन्ति धरणीं गर्जन्ति केचिद् वृथा,
यं यं पश्यति तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥

श्लोक में कहा गया है—“अरे मित्र चातक ! क्षणभर सावधान होकर मेरी बात सुनो। इस गगन में अनेक बादल हैं लेकिन सभी समान नहीं हैं। इनमें से कोई तो बरसकर पृथ्वी को गद्गद करते हैं और कोई वृथा ही गर्जना

करते रहते हैं। इसलिए तुम जिस-जिस बादल को भी देखो उसी के समक्ष दीन बनकर याचना मत करो।”

चातक के माध्यम से कवि मानव को भी सीख देता है कि आत्मा की अनन्त प्यास मिटाने के लिए तुम मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा तथा विभिन्न तीर्थों में भटकते हुए मत फिरो। क्योंकि आत्मा को संसार से मुक्त करने के लिए कोई भी बाह्य शक्ति या कोई भी देवी-देवता समर्थ नहीं बन सकता। आत्म-मुक्ति केवल आत्म-शक्ति ही करा सकती है। जो साधक वीतराग के वचनों पर अनन्य श्रद्धा रखता हुआ इसे पहचान लेता है और अपनी दृष्टि को बाहर के सम्पूर्ण पदार्थों से हटाकर अन्दर की ओर रखता है वही आत्मानन्द का अनुभव करता है तथा शनैः-शनैः अपनी अनन्तकाल की प्यास मिटाने में समर्थ बनता है।

सच्ची इबादत

कहा जाता है कि एक फकीर हज करने के लिए रवाना हुए। यात्रा के दौरान उनकी एक साधु से भेंट हुई और उन्होंने पूछा—“फकीर साहब; आप कहाँ जा रहे हैं ?”

फकीर ने उत्तर दिया—“हज करने के लिए जा रहा हूँ।”

साधु ने फिर प्रश्न किया—“वहाँ जाकर आप क्या करेंगे ?”

फकीर साधु की बात से कुछ नाराज होकर बोला—“यह भी कोई पूछने की बात है ? लोग मक्का मदीना किसलिए जाते हैं ? वहाँ जाकर खुदा की इबादत करूँगा।”

“पर खुदा की इबादत करने के लिए वहाँ जाने की क्या जरूरत है ? यहीं क्यों नहीं आप खुदा की इबादत और हज कर लेते हैं ?”—साधु ने शांत भाव से कहा।

“वाह ! मक्का मदीना यहाँ कहाँ है जो मैं यहाँ बैठे-बैठे हज कर लूँगा ? सच्ची इबादत तो वहीं जाकर हो सकती है। तुम कैसे साधु हो जो मक्का मदीना जैसे पाक स्थान पर जाने के लिए मना कर रहे हो ?”

साधु ने मुस्कुराते हुए कहा—“फकीर साहब ! क्या हमारा दिल मक्का मदीना नहीं है, और उसमें अल्लाह नहीं होता ? सच्चा हज तो अन्दर की ओर झाँकने से ही हो सकता है। बाहर भटकने से नहीं।”

फकीर साधु की बात से अत्यन्त प्रभावित हुए और समझ गये कि वास्तव में ही खुदा हमारे अन्दर है और उसकी इबादत के लिए दुनिया का चक्कर

लगाना व्यर्थ है। सच्चा हज तभी हो सकता है जबकि बाहर का ध्यान छोड़कर अन्दर की ओर ध्यान दिया जाय।

बन्धुओ ! ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति बाह्य-क्रियाओं और बाह्य-आडंबरों को ही कर्म-मुक्ति का कारण न मानकर आन्तरिक शुद्धि करते हैं वे अपने उद्देश्य में सफल होते हैं। यहाँ मेरा आशय यह कदापि नहीं है कि बाह्य-क्रियाएँ की ही न जाँय और उन्हें निरर्थक मानकर छोड़ दिया जाय मेरा अमिप्रायः यही है कि हमारी बाह्य-क्रियाओं और शुभ कर्मों के अनुसार ही हमारी अन्तर्भावनाएँ होनी चाहिए। आप पूजा-पाठ, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, दान एवं सेवा आदि जितने भी शुभ कर्म करते हैं, वे आचरण को उन्नत बनाते हैं तथा शुभ फल की प्राप्ति कराते हैं। किन्तु अगर वे सब केवल यश प्राप्ति और लोगों पर अपनी धार्मिकता का सिक्का जमाने के लिए ही किये गये तो उनसे रचमात्र भी लाभ आत्मा को नहीं होता। आत्मा को लाभ यानी कर्मों की निर्जरा केवल तभी होगी, जबकि आपकी भावनाएँ भी उनके अनुरूप या उनसे बढ़कर होंगी। क्योंकि कार्य भले ही एक जैसे किये जाँय, पर कर्म-बन्धन उनके पीछे रही हुई भावनाओं के अनुसार होता है इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

एक श्लोक में बताया गया है—

मनसैवकृतं पापं, न शरीरकृतं कृतम् ।

येनैवालिक्रिता कान्ता, तेनैवालिक्रिता मुता ॥

अर्थात्—पाप शरीर के द्वारा नहीं अपितु मन के द्वारा होता है। जिस शरीर से पत्नी का आलिंगन किया जाता है, उसी शरीर से पुत्री का भी। किन्तु एक ही जैसी क्रियाओं में भावनाओं का कितना अन्तर होता है ? एक में वासना का बाहुल्य होता है और दूसरी में शुद्ध वात्सल्य का। इसीलिए एक सरीखी क्रियाएँ होने पर भी दोनों के पीछे रही हुई भावनाओं के कारण उनके परिणामों में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है।

इसीलिए मैं आपसे कह रहा हूँ कि जिनके हृदय में क्लुषित भावनाएँ नहीं होतीं तथा धन, मान एवं यश-प्रतिष्ठा की प्राप्ति का लोभ नहीं होता उनकी समस्त धर्म-क्रियाएँ एवं बाह्य-आचरण शुभ-कर्मों के बन्धन में सहायक बनते हैं और उन क्रियाओं के करने या न कर पाने पर भी पाप कर्मों का उपार्जन नहीं होता।

कवि जौक ने अपने एक शेर में कहा भी है—

सरापा पाक हैं, धोये जिन्होंने हाथ दुनिया से ।
नहीं हाजत कि वह पानी बहाएँ सर से पावों तक ॥

यानि जो भव्य प्राणी दुनिया से विरक्त हो गये हैं तथा जिनके मन से विषय विकार एवं राग-द्वेषादि का कालुष्य वैराग्य के निर्मल जल से धुल चुका है, उन्हें आपाद-मस्तक अपने शरीर को रगड़-रगड़ कर धोने और साफ करने की आवश्यकता ही क्या है ?

वस्तुतः जब साधक के मन में वासनाएँ तथा इच्छाएँ नहीं रहती तब उसके मन से मित्रता-शत्रुता, ईर्ष्या-द्वेष एवं आसक्ति आदि सब कुछ दूर हो जाते हैं । ऐसे व्यक्ति को फिर दिखावे के लिए धर्म-क्रियाएँ करने की, मक्का मदीना या अन्य तीर्थों में जाने की तथा गंगा-स्नान करके शरीर को शुद्ध करने की जरूरत नहीं होती ।

मेरे कहने का सार यही है कि प्रत्येक मुमुक्षु को सर्वप्रथम अपने विकार-ग्रस्त मन को साधना चाहिए तथा भावनाओं को शुद्ध एवं निष्पाप बनाना चाहिए । ऐसा करने पर ही उसके द्वारा की गई प्रत्येक शुभ-क्रिया एवं धर्मा-चरण अपना सही फल प्रदान करेगा ; व्यक्ति पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करेगा और नवीन कर्मों के बन्धनों से वच सकेगा ।

ध्यान में रखना चाहिए कि कर्मों का बन्धन पल-पल में होता रहता है । आप और हम सभी जानते हैं कि मन बड़ा चंचल होता है और इसमें विचारों का परिवर्तन क्षण-क्षण में होता रहता है । अतः ज्यों-ज्यों मन के विचार या मन की भावनाएँ परिवर्तित होती हैं, त्यों-त्यों उनकी श्रेष्ठता या जघन्यता के अनुसार कर्म बँधते चले जाते हैं ।

तारीफ तो यह है कि संसार में लिप्त रहने वाले व्यक्ति को पता भी नहीं चलता और ध्यान भी नहीं रहता कि आमोद-प्रमोद एवं सुख-भोग भोगते हुए उसकी आत्मा तो कर्मों से निरंतर बोझिल होती चली जाती है । कर्मों का ध्यान उसे तब आता है, जबकि वे उदय में आते हैं और आधि, व्याधि या उपाधि के रूप में अपना भुगतान प्रारम्भ करते हैं । उस समय व्यक्ति रोता है, चीखता है और ईश्वर को कोसता है ।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने कहा है—

क-का कर्म की अजब गति है,
मत करना कोई नर नारी ।
हँसते हँसते बाँधे जीवड़ा,
भुगते फिर मुश्किल भारी ॥

पद का अर्थ सरल और स्पष्ट है कि कर्मों की गति बड़ी विचित्र होती है, अतः कोई भी नर और नारी इनका उपार्जन मत करना। इन कर्मों को जीव हँसते खेलते बाँध तो सहज ही लेता है। किन्तु जब भोगने का समय आता है तो बड़ी मुश्किल सामने आती है।

और साहूकार तो हाथ-पैर जोड़ने पर पैसा लेने में कभी कमी कर देता है और दया करके ब्याज आदि छोड़ भी देता है, किन्तु पापकर्म रूपी साहूकार तो लाख मित्रों और प्रार्थनाएँ करने पर भी अपने हिसाब का अंशमात्र भी कम नहीं करता तथा पूरा का पूरा वसूल करके छोड़ता है।

शास्त्रों में भी यह बात स्पष्ट रूप से बताई गई है—

जं जारिसं पुढ्वमकासि कम्मं ।

तमेव आगच्छति संपराए ॥

—सूत्रकृतांग १-५-२

अर्थात्—अतीत में जैसा भी कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।

इसीलिए भगवान पुनः-पुनः जीवों को बोध देते हैं कि कर्मों की विचित्रता और उनकी बारीकी को समझकर संवर-मार्ग पर चलते हुए पूर्व कर्मों की निर्जरा करो और नवीन कर्मों के संचय से बचो। कर्मों की विचित्रता इससे बढ़कर और क्या होगी कि बँधे हुए कर्मों के लिए भी खेद, दुःख, शोक या आतंघ्यान करने से उनमें और भी वृद्धि होती जाती है।

इसलिए साधक को बड़ी सतर्कता और सावधानी से कर्मों के उदय को परिषह समझकर उन्हें भी समभाव और शांतिपूर्वक सहन करना चाहिए। हमारा विषय इस समय प्रज्ञा-परिषह को लेकर चल रहा है। साधारण तौर से देखा जाय तो बुद्धि की मन्दता और उसका अभाव होने पर मन को दुःख होना कोई बड़ी बात नहीं है और इसके लिए दुःख करना पाप भी दिखाई नहीं देता।

किन्तु जब हम बीतराग की वाणी को सुनते हैं और गम्भीर चिंतन करते हैं तो महसूस होता है कि भगवान का आदेश यथार्थ है और इसमें कहीं भी शंका या सन्देह करना अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी मारना है। प्रज्ञा-परिषह भी ऐसा एक परिषह है जिसे अगर साधक जीत न पाए तो वह अनेक नवीन कर्मों का बन्ध कर देगा तथा आत्मा को संसार में अधिकाधिक भटकने के लिए बाध्य कर देगा।

इसलिए बन्धुओ, मैं पुनः आपको यही स्मरण दिला रहा हूँ कि हमें प्रज्ञा की प्राप्ति के फलस्वरूप ज्ञान हासिल कर लेने पर तनिक भी मन में गर्व का अनुभव नहीं करना है और प्रज्ञा के अर्थात् बुद्धि के अभाव में रंचमात्र भी खेद-खिन्न नहीं होता है। हमें केवल यही विचार करना है कि—‘मेरे पापकर्मों के उदय से ही मुझे बुद्धि की प्राप्ति नहीं हुई और इसीलिए मैं जिज्ञासु व्यक्तियों के द्वारा प्रश्न किये जाने पर अथवा वाद-विवाद करके आध्यात्मिक विषयों को स्पष्ट करने में असमर्थ हूँ।’

इस प्रकार अगर मन में समभाव रहेगा और चित्त में शांति बनी रहेगी तो निश्चय ही हमारे पूर्व कर्मों का क्षय हो सकेगा और नए कर्मों का बन्धन नहीं होगा। प्रज्ञा की प्राप्ति पर गर्व और उसके अभाव में हीनता का अनुभव होना, इन दोनों प्रकार के भावों को हमें जीतना है तथा दोनों स्थितियों में मन को सम्हालना है। ऐसा करने पर ही हमारी आत्मा इहलोक और परलोक में सुखी बन सकेगी।



३

सत्य ते असत्य दिसे

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों में से अट्ठाईसवें भेद “प्रज्ञा परिषह” का वर्णन हमने किया था। आज उन्नीसवें भेद ‘अज्ञान परिषह’ यानी अज्ञानपरिषह को लेना है।

इस विषय में ‘श्री उत्तराध्ययन सूत्र’ के दूसरे अध्याय की बयालीसवीं गाथा में भगवान ने फरमाया है—

निरद्वगम्मि विरओ, मेहुणाओ सु-संबुडो ।

जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण-पावणं ॥

संसार का प्रवृत्तिमार्ग छोड़कर निवृत्तिमार्ग में प्रवेश करके व्यक्ति पंच महाव्रत धारण कर साधु बन जाता है किन्तु ज्ञान प्राप्ति के अभाव में जब वह दूसरों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का समाधान नहीं कर पाता तो विचार करने लगता है—“अरे, मैं पावन और कल्याणकारी धर्म को भलीभाँति नहीं जानता अतः दुनियादारी छोड़कर मेरा साधुपना लेना और महाव्रतों का धारण करना निरर्थक हो गया।”

साधक के हृदय में ऐसे विचारों का आना अज्ञानदशा का परिचायक है। अज्ञान के कारण ही वह विचार करता है कि—‘इस साधुत्व और व्रत-संयम की अपेक्षा तो संसार के सुखोपभोग अच्छे थे।’ किन्तु ऐसा विचार करना साधक के लिए उचित नहीं है। उसे केवल यही विचार करना चाहिए कि—‘मेरे पूर्वोपाजित कर्मफलों के कारण ही मुझे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है और मैं धर्म के मर्म को समझ नहीं पाया हूँ पर भगवान के द्वारा निर्देशित संवर-मार्ग पर तो चल सकता हूँ और अपने गृहीत व्रतों का दृढ़ता से पालन कर सकता हूँ। अज्ञान दशा मेरे लिए परिषह है और मुझे उस पर समभाव से विजय प्राप्त करना है।’

अज्ञान के बुष्परिणाम

अज्ञानावस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहें वह श्रावक ही या साधु, महान् अनिष्टकारी है। ऐसी स्थिति में प्राणी सत्य को असत्य और असली को नकली समझने लगता है। साथ ही वह असली को नकली एवं असत्य को ही सत्य मानकर जीवन के उद्देश्य को भूल जाता है तथा संवर-मार्ग से भटककर आश्रव की ओर बढ़ने लगता है। ऐसा व्यक्ति पशु से भी गया बीता माना जा सकता है क्योंकि पशु कम से कम अपने मालिक के इशारे पर तो चलता है। मराठी भाषा के एक पद्य में तो अज्ञानी प्राणी की भर्त्सना करते हुए कहा है—

सत्य ते असत्य दिसे, त्यास या जगी ।
बोध करूनी लाभ काय होय मगजनी ॥

कहते हैं कि ऐसे अभागे व्यक्ति को उपदेश देने से भी क्या लाभ है, जो सत्य को असत्य मानता है और बोध देने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता।

वस्तुतः जो बुद्धिहीन तो है ही, साथ ही वीतराग के वचनों पर और संत-महात्माओं के उपदेश देने पर भी सही मार्ग पर नहीं चलता उसे पशु से गया-बीता कहने में अत्युक्ति नहीं है। पशुओं में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वे स्वयं सही मार्ग पर बढ़ सकें, किन्तु घुड़सवार के संकेत करते ही घोड़ा और गाड़ीवान के लगाम खींचते ही बँल उनके इशारों को समझ लेते हैं और निर्देशित मार्ग की ओर मुड़कर चल पड़ते हैं।

पर इसके विपरीत निर्बुद्धि और अज्ञानी व्यक्ति तनिक सा परिषह सामने आते ही श्रावक के व्रतों को या साधु के महाव्रतों को भी निरर्थक मानने लग जाते हैं और सांसारिक सुखों का त्याग कर देने के लिए पश्चात्ताप करते हैं। कदाचित् लोकलज्जा से वे अपने बाने का त्याग नहीं भी कर पाते, किन्तु मन की भावनाओं से संसार के भोगों में गूढ़ होकर कर्म-बंधन कर लेते हैं।

शास्त्रों में कहा भी है—

अणाणाय पुट्टा वि एगे नियट्ठंति,
मंदा मोहेण पाउडा ।

—आचारंगसूत्र ६-२-२

अर्थात्—अज्ञानी साधक संकट आने पर धर्मशासन की अवज्ञा करके फिर संसार की ओर लौट पड़ते हैं।

संकट का अर्थ परिषह ही है। अज्ञान परिषह भी संकट है और जो साधक इसे नहीं जीत पाते वे या तो अपने व्रत, वेश एवं इनके योग्य आचरणों का भी

त्याग करके पुनः संसार में लिप्त हो जाते हैं और नहीं तो अपनी अवस्था पर पश्चात्ताप करते हुए भावनाओं से उसमें गृह्य रहते हैं। दोनों ही स्थितियाँ घोर कर्म-बन्धन का कारण बनती हैं। मुख्य रूप से तो भावनाएँ पहले आत्मा को पतित करती हैं और उसके पश्चात् आचरण को।

जब अज्ञान का अँधेरा आत्मा पर छा जाता है तो साधु अपने संयम से विचलित हो जाता है और श्रावक अपने व्रतों से। अनेक व्यक्ति तो लोकलज्जा से दान देकर भी बाद में उसके लिए पश्चात्ताप करते हैं और उनसे जघन्य व्यक्ति आहार दान देकर भी अफसोस करने लगते हैं। इन सबका परिणाम कर्म-बन्धन ही होता है। साधक साधना की क्रियाओं को करता हुआ भी अगर खेदखिन्न बना रहता है तो उसकी साधना उसी प्रकार निष्फल जाती है, जैसे—

जह्महाउतिष्ण गओ, बहुअंतरं रेणुयं शुभइ अंगे ।

सुदठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणो भलं चिणइ ॥

—बृहत्कल्पमाध्य ११४७

अर्थात्—जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर बहुत सारी घूल सूँड़ से अपने ऊपर डाल लेता है, वैसे ही अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल संचय करता जाता है।

होना तो यह चाहिए कि साधक जिस निष्ठा और उत्साह से साधना-मार्ग को ग्रहण करता है, उससे भी अधिक श्रद्धा और हृदयापूर्वक सम्पूर्ण संकटों या परिषहों पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने निर्वाचित मार्ग पर बढ़ता चले किन्तु ऐसा सभी कर नहीं पाते क्योंकि सभी की आस्था एवं परिषहों को सहने की शक्ति समान नहीं होती।

इसी विषय को लेकर 'ठाणंगसूत्र' में चार प्रकार के पुरुषों का वर्णन किया है—

प्रथम प्रकार के पुरुष के विषय में कहा गया है कि वह सियार के समान डरता हुआ व्रतों को ग्रहण करता है, किन्तु धीरे-धीरे हृदया धारण करता हुआ सिंह के समान उनका पालन करता है। अर्थात् कभी किसी के उपदेश को सुनकर भावुकता में आकर और कभी किसी की देखादेखी से भी व्रत ग्रहण कर लेता है। उस समय तो उसका मन कमजोर होता है किन्तु शनैः-शनैः वह हृदया धारण कर लेता है और फिर मन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण कण्ट्रोल करके शेर के समान व्रतों का पालन करता हुआ साधना के पथ पर बढ़ा चला जाता है।

हरिकेशी मुनि के विषय में आप जानते ही हैं कि उनका जन्म चाण्डाल कुल में हुआ था तथा अपने अति अपमान एवं भर्त्सना से दुःखी होकर उन्होंने

संयम का मार्ग अपनाया था। उच्च जाति एवं अपने आपको उच्च कुल का मानने वाले व्यक्तियों ने फिर भी उनका अनादर करने की कोशिश में कमी नहीं रखी, किन्तु उन्होंने पूर्ण जितेन्द्रिय एवं क्षमा के सागर बनकर पूर्ण सिंह वृत्ति से संयम का पालन किया तथा अपने साथ दुर्व्यवहार करने वालों को भी सही मार्ग बताया। तभी कहा गया है—

सोबागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।

हरिएसबलो नाम आसि भिक्षू जिइन्दिओ ॥

अब नम्बर आता है दूसरे प्रकार के पुरुष का। इस विषय में कहा गया है कि इस प्रकार का साधक सिंह के समान व्रत ग्रहण करता है और सिंह के समान ही उनका पालन करता है। इस श्रेणी के साधकों के अनेकानेक उदाहरण हमारे धर्मग्रन्थों में पाये जाते हैं। मुनि गजसुकुमाल ने तो केवल आठ वर्ष की अल्पवय में ही मुनिधर्म अंगीकार कर लिया था तथा उसी दिन अपने ससुर सोमिल ब्राह्मण के द्वारा मस्तक पर धधकते अंगारे रखने पर भी अपने परिणामों को रंचमात्र भी विचलित नहीं होने दिया। बालवय में ही सिंहवृत्ति से संयम अपनाना और उसी वृत्ति से पालन कर लेने का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है? सच्चे साधक इसी प्रकार महाव्रत ग्रहण करते हैं और पूर्णतया निर्भय रहकर मरणांतक परिषहों से भी विचलित न होते हुए उनका पालन करके सदा के लिए संसार-मुक्त हो जाते हैं।

‘ठाणगसूत्र’ के अनुसार तीसरे प्रकार के पुरुष वे होते हैं जो प्रारम्भ में तो सिंह के समान गर्जना करते हुए व्रत धारण करते हैं, किन्तु उसके पश्चात् संयम के मार्ग में आने वाली छोटी-छोटी बाधाओं और तकलीफों से घबराते हुए किसी न किसी प्रकार सियार के समान रोते-रोते उनका पालन करते हैं। अज्ञान-परिषह के सामने आने पर, और उससे घबरा जाने वाले व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। बुद्धि के अभाव में जब वह ज्ञान हासिल नहीं कर पाते और लोगों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते तो अपने अज्ञान के कारण विचार करने लगते हैं कि—“मैंने व्यर्थ ही साधुत्व ग्रहण कर लिया। अगर संसार में रहता तो सांसारिक सुखों का भोग तो करता।” अज्ञान के कारण ही उन्हें संयम में दुःख और सांसारिक सुखों में आनन्द दिखाई देने लगता है। कभी-कभी उपवास या उससे अधिक, बेला-तेला ग्रहण कर लेने पर भी अगर स्वास्थ्य बिगड़ा तो सोचते हैं, तपस्या नहीं की होती तो अच्छा रहता। कहने का अमिप्राय यही है कि अज्ञान के कारण ही साधक संयम-मार्ग में आने वाले कष्टों से घबराकर अपने मुनिधर्म के व्रतों पर पश्चात्ताप करते रहते हैं और खेद-खिन्न होते हुए

नवीन कर्मों का संचय कर लेते हैं। इसी को रोते-रोते व्रतों का पालन करना कहा जाता है।

चौथे प्रकार के पुरुष सबसे निकृष्ट कहलाते हैं। वे सियार के समान रोते-रोते व्रत ग्रहण करते हैं और उसी प्रकार उनका पालन करते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी गृह-कलह के कारण, कभी निर्धनता के कारण और कभी पुरुषार्थ में प्रमाद होने के कारण मुनि बन जाते हैं, किन्तु मन की ऐसी निर्बलता को लेकर वे साधना के पथ पर भी किस प्रकार निर्भय होकर चल सकते हैं? केवल लोक-लज्जा के कारण ही कि साधुपना छोड़ने पर दुनिया क्या कहेगी, वे चलते अवश्य हैं पर अपनी आत्मा का भला रंचमात्र भी नहीं कर पाते। क्योंकि मुनिवृत्ति कोई सरल चीज नहीं है अपितु बड़ी कठिन है और निर्बल तथा कदम-कदम पर रोने वाली आत्माएँ इस पर गमन नहीं कर सकतीं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

जवा लोहमया चैव, चावेयव्वा सुदुक्करं ।

जहा भुयाहि तरिउं, दुक्करं रयणायरो ।

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करं मन्दरोगिरो ।

अर्थात्—मुनिवृत्ति मोम के दाँतों से लोहे के चने चबाना है या भुजाओं से अथाह सागर को तैर कर पार करना है अथवा सुमेश पर्वत को तुला पर रख कर तोलना है।

वस्तुतः मुनिवृत्ति एक ऐसी महान् कसौटी है जिस पर साधक के संयम, धैर्य, साहस, शांति, सहनशीलता एवं शुद्धता, सभी की परीक्षा हो जाती है। इस जबर्दस्त कसौटी पर सिंह के समान वीर पुरुष ही खरे उतर सकते हैं। कायर और अज्ञानी प्रथम तो इसे ग्रहण ही नहीं कर पाते और कदाचित् ग्रहण कर भी लेते हैं तो बिरले ही उसे यथाविधि पालन करते हैं अन्यथा सियार के समान रोते-धोते उसे पालते हैं और कभी-कभी तो पतित भी हो जाते हैं।

यह सब दुष्परिणाम अज्ञान का ही होता है। अज्ञान के कारण ही साधक सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझने लगता है। विघ्न-बाधाओं से घबराकर वह सच्ची साधना से प्राप्त होने वाले अनन्त सुख पर विश्वास नहीं करता तथा संसार के क्षणिक सुखों को सुख समझकर उन्हें ग्रहण करने की आकांक्षा करता है।

मराठी भाषा में अज्ञान को नष्ट करने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है—

अज्ञानाचे भस्म करावे, ज्ञान स्वरूपी मन विचारावे,

त्यागुनि माया नार, अजुनि तरी ।
नरा करी सुविचार अजुनि तरी ॥

कवि का कथन है कि अज्ञान को अन्तर के अतल में मरम करो और ज्ञान के द्वारा जीव, जगत्, पाप, पुण्य, बन्ध और मोक्ष पर सुविचार या चिन्तन करो ।

हमारे बहुत से मोले बन्धु कह बैठते हैं—“अज्ञान ही अच्छा है जिसके कारण व्यक्ति को न मानसिक अशांति रहती है और न ही हृदय में किसी प्रकार की उथल-पुथल । वे तो यहाँ तक कहते हैं कि दुनिया भर की दुश्चिन्ताएँ ज्ञानी को सताती हैं, अज्ञानी तो परम सुखी रहता है क्योंकि उसके दिमाग को न तो परलोक की दौड़ लगानी पड़ती है और न ही संयम, साधना और त्यागादि के पचड़े में सिर खपाना पड़ता है । किसी ने तो संस्कृत में भी कह दिया है—“अज्ञानम् एव श्रेयः ।”

किन्तु बन्धुओ, यह विचार कितना गलत है ? क्या अपनी आँखें बन्द कर लेने से कोई जीव आक्रमणकर्ता से बच सकता है ? नहीं, भले ही वह आक्रमणकारी को न देख पाए किन्तु आक्रमण करने वाला तो उसे मली-माँति देखता है और दबोच ही लेता है । ठीक यही हाल अज्ञानी का होता है । भले ही वह ज्ञान-रूपी नेत्रों को बन्द करके काल की परवाह न करे तथा पाप-कर्म रूपी शत्रुओं को न समझे, पर क्या काल उसे छोड़ देता है, और पाप-कर्म उसे भूल जाते हैं ? नहीं, वे सब तो निश्चय ही अपने समय पर आक्रमण करते हैं और जीव को उस समय छुटकारा नहीं मिल सकता । जिस प्रकार आँखें बन्द कर लेने पर प्राणी कुछ क्षणों के लिए निश्चित रहता है, उसी प्रकार अज्ञानी भी केवल कुछ समय के लिए ही निश्चित रह सकता है ।

आप कहेंगे—‘कुछ समय क्या, पूरे जीवन भर अज्ञानी आनन्द से संसार के सुखोपभोग कर सकता है ।’ पर विचार करके देखिये कि जो जीव अनन्त-काल से संसार-भ्रमण करता चला आ रहा है और घोर कष्टों को भुगतता रहा है तथा भविष्य में भी वही क्रम जारी रहेगा यानी अनन्तकाल तक उसे पुनः दुःख उठाने पड़ेंगे, उस अनन्त समय की तुलना में यह एक जीवन क्या कुछ क्षणों के समान ही नहीं है ? क्या इन थोड़े से क्षणों में ज्ञान-नेत्रों को बन्द करके अज्ञानावस्था का मिथ्या-सुख उसे चिर-शांति या चिर-सुख का अनुभव करा सकेगा ? कभी नहीं ।

इसीलिए भगवान कहते हैं—

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सच्चे ते दुक्खसंभवा ।

लुप्पंति बहुसो भूढा, संसारम्मि अणंतए ॥

—श्री उत्तराध्यायन सूत्र ६-१

अर्थात् जितने भी अज्ञानी या तत्त्व-बोधहीन पुरुष हैं वे सब दुःख के पात्र हैं। इस अनन्त संसार में वे मूढ़ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।

इसलिए अपना भला चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह यथाशक्य ज्ञान के द्वारा चिन्तन करे और अगर ज्ञानावरणीय कर्मों के उदय से स्वयं यह क्षमता न रखता हो तो संत-महापुरुषों के द्वारा कहे गये वीतराग के वचनों पर पूर्ण आस्था रखते हुए विचार करे कि—‘शरीर नाशवान है और आत्मा अनित्य है तथा कृत-कर्मों के अनुसार उनका फल भोगती है। अतः मुझे इसे परलोक के दुखों से बचाने के लिए दया, क्षमा, आति, सहिष्णुता एवं दान, शील, तपादि आत्म-धर्मों को अपनाना है।’

पर आत्मिक सद्गुण या धर्म तभी आत्मा में टिक सकते हैं जबकि मराठी पद्य के अनुसार दो शतों को पूरा किया जाय। पद्य में कहा है—‘त्यागुनि माया नार—।’ अर्थात् माया यानी धन एवं नार यानी स्त्री को त्यागा जाय।

वस्तुतः जब तक व्यक्ति की माया में आसक्ति रहती है, तब तक वह आत्मा के महान् गुण संतोष को नहीं अपना सकता। आसक्ति और संतोष दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। वे साथ-साथ नहीं रह सकते। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

सच्चा धन बाहर है या अन्दर ?

एक साहूकार था। उसने अनैतिकता एवं बेईमानी से अपार धन एकत्रित कर लिया। किन्तु जब वहाँ के राजा को यह बात मालूम हुई तो वह अत्यन्त कुपित हुआ और उसने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि अमुक साहूकार का सम्पूर्ण धन जब्त कर लिया जाय और वह गरीबों में बाँट दिया जाय।

जब साहूकार को यह बात मालूम हुई तो उसके पैरों तले से जमीन खिसक गई और वह माथा पीटता हुआ घर आकर अपनी पत्नी से बोला—“आज हम घोर दरिद्री हो गये, अब क्या होगा ?”

सेठानी ने बड़े आश्चर्य से पूछा—“बह कैसे ?”

शोकग्रस्त साहूकार बोला—“राजा ने मेरा सारा धन छीनकर गरीबों को दे देने का हुक्म दे दिया है।”

पत्नी यह सुनकर हँस पड़ी और बोली—“वाह ! राजा ने धन छीनने का आदेश दे दिया तो आप दरिद्र कैसे हो गये ?”

साहूकार के लिए तो यह बात जले हुए पर नमक के समान थी। वह क्रुद्ध होकर बोला—“क्या तुम इतना भी नहीं समझती हो ? जब धन नहीं रहेगा तो हम दरिद्र नहीं तो और क्या कहलाएँगे ?”

सेठानी बड़ी शांत और आध्यात्मिकता के ज्ञान से ओत-प्रोत थी उसने सहज भाव से पूछा—

“क्या राजा आपके शरीर को जब्त कर लेंगे ?”

“शरीर को कैसे जब्त कर सकते हैं ?”

“और मन को ?” सेठानी ने पुनः प्रश्न किया ।

साहूकार पत्नी के प्रश्नों पर अधिकाधिक क्रुद्ध होता हुआ बोला—“तुम कैसे बाह्यात प्रश्न कर रही हो ? कोई मन को भी जब्त कर सकता है क्या ?”

सेठानी हँस पड़ी और बोली—“फिर आपको किस बात की चिन्ता है ? राजा धन-दौलत ले लेंगे जो कि आती जाती ही रहती है । पर आपके हृदय में जो संतोष रूपी धन है उसे कौन ले सकता है, और उसके होते हुए भी आप घोर दरिद्र क्यों कहलाएँगे ? बल्कि धन के न रहने पर तो संतोष धन स्वयं बढ़ जाएगा और अपने साथ ही वैराग्य, त्याग, समभाव एवं सहिष्णुता आदि अनेक सद्गुणों को जन्म देगा । अतः मैं तो समझती हूँ कि इस बाह्य धन के जब्त हो जाने से आप अधिक आत्म-धनी बन जाएँगे ।”

पत्नी की इन बातों को सुनकर साहूकार की आँखें खुल गयीं और परम संतुष्टिपूर्वक उसने स्वयं भी अपने धन को गरीबों में वितरण करने में सहायता दी ।

अंगुत्तर निकाय में भी सच्चे धन की परिभाषा देते हुए कहा गया है—

सद्धाधनं, सोलधनं हिरि ओतपियं धनं,
सुतधनं, च चागो च, पज्जावे सत्तमं धनं ।
यस्स एते धना अत्थि, इत्थिया पुरिसस्स वा,
अबलिद्वोति तं आहु अमोघं तस्स जीवितं ॥

अर्थात्—जिन व्यक्तियों के पास श्रद्धा, शील, लज्जा, लोकापवाद का भय, श्रुत, त्याग एवं प्रज्ञा रूपी धन है, वे ही सच्चे धनी हैं और उन्हीं का जीवन सफल है ।

(१) श्रद्धा—श्लोक के अनुसार सर्वप्रथम श्रद्धा को धन बताया गया है और वास्तव में ही जिस व्यक्ति का वीतराग के वचनों में पूर्ण विश्वास होता है और जो बड़े से बड़ा संकट आने पर भी अपने साधना-पथ से विचलित नहीं होता वह सच्चा धनी है । कामदेव एवं आनन्द आदि अनेक श्रावक ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने अपार धन को भी धन न समझकर नाना परिषदों के सामने आने पर भी धर्म से मुँह नहीं मोड़ा एवं धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा का परिचय दिया ।

खाक में जब मिल गये.....

एक धनवान व्यक्ति किसी संत का भक्त था तथा कमी-कमी उनके दर्शन करने जाया करता था। एक दिन वह बोला—“भगवन् ! आज मुझे ऐसा उपदेश संक्षेप में दीजिये, जिसे मैं जीवन भर न भूल सकूँ और उस एक ही उपदेश के द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर सकूँ। क्योंकि मेरे पास तो रोज घंटों बैठकर आपका उपदेश सुनने का वक्त ही नहीं है।

पास ही एक श्मशान था जहाँ कुछ समय पहले ही एक लक्षाधिपति को और एक धोर दरिद्री को लोग जला गये थे। संत ने जब अपने धनी भक्त की बात सुनी तो वे उसी वक्त उसे पकड़कर श्मशान में ले गये।

भक्त धबराकर बोला—“गुरुदेव मुझ जीवित को ही आप श्मशान में किसलिए लाये हैं ?”

संत मुस्करा दिये और बोले—“धबराओ मत ! मैं तुम्हें संक्षेप में उपदेश देने के लिए ही यहाँ लाया हूँ।”

“क्या वह उपदेश श्मशान में ही दिया जा सकता है ?”

“हाँ।” कहते हुए संत ने उन जले हुए दोनों शवों के स्थानों से एक-एक मुट्टी राख अपने दोनों हाथों में उठाई और भक्त से पूछा—“बताओ ! मेरी किस मुट्टी में धनी व्यक्ति के शरीर की राख है और किस मुट्टी में दरिद्र व्यक्ति के शरीर की ?

भक्त नम्रता से बोला—“भगवन् ! यह मैं कैसे बता सकता हूँ ? राख तो धनवान के शरीर की और गरीब के शरीर की भी एक ही जैसी हो जाती है।”

अब संत बोले—“वत्स ! मेरा बस यही एक छोटा सा उपदेश है, जिसे कमी मत भूलना कि कोई व्यक्ति चाहे करोड़पति हो और जीवन भर ऐश-आराम करता रहे और कोई चाहे सदा दरिद्रता की चक्की में पिसता रहे, मरने पर तो दोनों के शरीर समान राख के रूप में परिणत हो जाते हैं। धन किसी के साथ नहीं जाता, साथ में केवल पुण्य और पाप ही चलते हैं। इसलिए अपने धन का गर्व और दुरुपयोग मत करना तथा दीन-दरिद्रों को नफरत की निगाह से मत देखना। क्योंकि मृत्यु धनी एवं निर्धन, दोनों को ही समान बना देती है।

किसी शायर ने भी कहा है—

कितने मुफलिस हो गये, कितने तवंगर हो गये।

खाक में जब मिल गये, दोनों बराबर हो गये ॥

तो बन्धुओ, मैं आपको अभी यह बता रहा था कि रुपया-पैसा सच्चा धन

नहीं है अपितु वीतराग-वाणी में श्रद्धा होना श्लोक के अनुसार प्रथम प्रकार का धन है ।

(२) शील—इस विशाल संसार में व्यक्ति के लिए माया, ममता, यश आदि अनेक प्रकार के आकर्षण हैं जिनके वश में होकर वह अपने आपको या अपनी आत्मा की भलाई को भूल जाता है किन्तु इन सब आकर्षणों से बढ़कर जो आकर्षण है, वह है काम-विकार । इसे जीतना संसार में सबसे कठिन है । मूर्खों की तो बात छोड़ भी दी जाय पर बड़े-बड़े विद्वान और ज्ञानी भी कभी-कभी इसके चंगुल में फँसकर अपना यह लोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ बैठते हैं । किन्तु अनेक इन्द्रिय विजयी पुरुष ऐसे भी होते हैं जो लाख प्रयत्न करने पर भी अपने मन को शील-धर्म से पराङ्मुख नहीं करते । सेठ सुदर्शन ऐसे ही मव्य प्राणी थे, जिन्होंने सूली पर चढ़ना कबूल कर लिया किन्तु अपने धर्म से च्युत नहीं हुए ।

पूज्य श्री अमीरूषिजी महाराज ने भी कुशील का त्याग करने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

परतिय संग किये हारे कुल कान दाम,
 नाम धाम धरम आचार दे विसार के ।
 लोक में कुजस, नहीं करे परतीत कोउ,
 प्रजापाल दंडे औ विटंबे मान पारि के ॥
 पातक है भारी दुःखकारी भवहारी नर,
 कुगति सीधावे वश होय परनारि के ।
 यातें अमीरिख धारे, शियल विशुद्ध चित्त,
 तजो कुव्यसन हित-सीख उर धारि के ॥

वस्तुतः कुशील का सेवन करने वाले अधम पुरुष अपने कुल का गौरव, यश, मान-मर्यादा तथा धन आदि सभी खो बैठते हैं तथा संसार में कुकीर्ति के भाजन बनकर दुर्गति में जाते हैं । जवानी के जोश में अन्धे होकर वे यह भी नहीं सोचते कि आखिर यह उम्र रहती भी कितने दिन तक है ? कहा भी है किसी शायर ने—

रहती है कब बहारे जवानी तमाम उम्र ?
 मानिन्द बूये गुल, इधर आई, उधर गई ॥

अर्थात्—युवावस्था की बहार भी कोई उम्र भर थोड़े ही रहती है यह तो पुष्प की सुगन्ध के समान इधर से आकर उधर चली जाती है।

पर यह जानते हुए भी व्यक्ति दयाधर्म की परवाह नहीं करते और शील रूपी धन की कद्र न करके उसे निरर्थक बना देते हैं ।

(३) लज्जा—यह व्यक्ति का तीसरा धन बताया गया है । हिंसा, चोरी, असत्य एवं अन्य किसी भी प्रकार के पापाचरण से अपने परिवार या कुल में कलंक लगेगा इस तरह की भावना रखना लज्जा-धन कहलाता है । जो अज्ञानी पुरुष इस बात को नहीं समझता वह धीरे-धीरे पतन के मार्ग पर बढ़ता चला जाता है । क्योंकि जीवन में अगर एक भी दुर्गुण आ गया और उसके लिए मानव के मन में लज्जा का उदय न हो तो उस दुर्गुण के अन्य साथी भी शनैः-शनैः अवश्य आ इकट्ठे होते हैं ।

(४) अब्रह्मण्य या लोकापवाद का भय—मनुष्य के हृदय में अगर लोकापवाद का भय भी बना रहे तो वह अपने मानस को सद्गुण युक्त बना सकता है । हमारा मूल विषय अमी 'अज्ञान-परिषह' पर चल रहा है । और तो और कमी-कमी साधु भी अज्ञान के कारण अपने ब्रतों के लिए तथा संयम अपना लेने के लिए पश्चात्ताप कर बैठते हैं कि इस जीवन से तो संसार के सुखों का उपभोग करना अच्छा था । किन्तु मन में ऐसे विचार आने पर भी अगर उन्हें अपने वेश का ध्यान रहता है तथा उसे छोड़ देने से लोकापवाद होगा, ऐसा भय रहता है तो वे किसी दिन अपने सही मार्ग पर पुनः आ जाते हैं । इसलिए लोकापवाद के भय को भी आन्तरिक धन बताया गया है ।

(५) श्रुत—वीतराग-प्ररूपित सच्चे ज्ञान का श्रवण करना श्रुत धन कहलाता है । आज की दुनिया में साधु वेशधारी अनेक प्रकार के उपदेशकों की कमी नहीं है । किन्तु वेश परिवर्तन कर लेना ही सच्चे साधुत्व का लक्षण नहीं है । सच्चे साधु को वेश के साथ-साथ अपने मन, बुद्धि एवं आत्मा का भी परिवर्तन करना पड़ता है । और इस प्रकार अगर आन्तरिक परिवर्तन न किया जाय तो उसके अभाव में बाह्य वेश का परिवर्तन कुछ भी महत्त्व नहीं रखता ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

न दि मुषिद्वेण समणो, न ओंकारेण ब्रह्मणो ।

न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

—अध्ययन २५

अर्थात्—केवल सिर मुड़ा लेने से कोई साधु नहीं बन जाता और न ही ओंकार शब्द का जप करने से कोई ब्राह्मण हो सकता है । इसी प्रकार केवल अटवी में निवास कर लेने से ही न कोई मुनि हो सकता है और न डाम यानी घास का वस्त्र पहन लेने से ही कोई तपस्वी कहला सकता है ।

अपितु सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र की आराधना करने वाला ही सच्चा श्रमण या साधु कहलाने का अधिकारी बनता है और वही वीतराग की वाणी को सही तौर से जिज्ञासु व्यक्तियों को समझाने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों में सच्चा उपदेशक वही बन सकता है जो मलिन और मन्द भावनाओं के काले मेघों को छिन्न-भिन्न करके अपनी आत्मा में क्षमा, दया, विरक्ति, संतोष, तप एवं त्यागमय भावनाओं की शुद्ध एवं ज्ञानपूर्ण ज्योति जगाता है तथा जिसकी दृष्टि में त्रिलोक का राज्य घूल के समान और कनक-कामिनी कुणति का मार्ग दिखाई देते हैं। ऐसे आत्म-रूप में रमण करने वाले साधु या महापुरुष की वाणी को सुनना श्रुत धन कहलाता है। ऐसे ही धन की आकांक्षा करना मुमुक्षु के लिए कल्याणकारी है।

(६) त्याग—त्याग की भावना भी धन कहलाती है। आप विचार करेंगे कि ये दोनों तो विरोधी बातें हैं, फिर इनका मेल कैसा ?

इस शंका का समाधान इस प्रकार होता है कि व्यक्ति सांसारिक मोह-ममता का और धन-दौलत के प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग करे। सांसारिक सम्बन्धियों के प्रति अपार ममता में गृद्ध रहना कर्म-बन्धन का कारण होता है और धन के प्रति आसक्ति रखने से भी नाना प्रकार के पाप करते हुए कर्म-बन्धन किये जाते हैं। जबकि इस देह के छूटते ही सम्पत्ति तो घर पर ही रह जाती है और जिन सम्बन्धियों के लिए व्यक्ति जीवन भर नाना कुकर्म करता है वे श्मशान तक ले जाकर साथ छोड़ देते हैं।

मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि आप सब अपनी दौलत लुटा दें और गृह त्याग करके साधु बन जाँय, तभी अपनी आत्मा का कल्याण कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि अगर आप संयमी जीवन को नहीं अपना सकते तो सच्चे भावक तो बनें ही। श्रावक के व्रतों का पालन करते हुए भी अगर आप निस्पृही बने रहते हैं और सम्पूर्ण सांसारिक कार्यों को पूरा करते हुए भी सांसारिक वैभव एवं भोग-विलास के प्रति आसक्ति नहीं रखते यानी लोभ-लालच का त्याग कर देते हैं तो शुभ-कर्म रूपी धन का संचय करते चले जा सकते हैं। और वह धन निश्चय ही सच्चा धन कहलाएगा क्योंकि आपके साथ चलेगा।

ध्यान में रखने की बात यह है कि कर्म-बन्धन भावना से होते हैं। एक गृहस्थ भी अगर संसार में रहते हुए, और सांसारिक कार्यों को करते हुए उनसे निर्लिप्त रहता है तो कर्म-बन्धनों से बच जाता है तथा दूसरी ओर एक साधु घर-बार छोड़कर भी अगर मन में विषय-विकार और इर्ष्या-द्वेष पालता है तो अनेकानेक कर्मों का बन्धन कर लेता है।

ऐसे साधु स्वयं तो कुगतिगामी बनते ही हैं, साथ ही जन-समाज को भी पाप-मार्ग पर चलाते हैं। किसी ने कहा भी है—

गृहीतलिङ्गस्य हि चेद् धनाशा,
गृहीतलिङ्गो विषयाभिलाषी ।
गृहीतलिङ्गो रसलोलुपश्चेद्,
विडम्बनं नास्ति ततोऽधिकं हि ॥

अर्थात्—साधु का वेश धारण कर लेने पर भी यदि धन की आशा बनी रही, विषयों की अभिलाषा न मिटी और रस लोलुपता का क्षय न हुआ तो इससे बढ़कर जीवन में और क्या विडम्बना हो सकती है ?

स्वयं तो डूबे ही, औरों को भी ले डूबे !

एक बार किसी गाँव में कुछ साधुओं का आगमन हुआ। उनमें से एक गुरु था और बाकी उसके शिष्य। गुरुजी पढ़े-लिखे थे और प्रतिदिन धन-दौलत की बुराई और उसका त्याग करने का उपदेश दिया करते थे।

उनके उपदेश का लोगों पर बड़ा असर हुआ और वे साधुजी को सच्चा संत मानकर भेंट के लिए रुपये आदि लाने लगे। किन्तु प्रारम्भ के दिनों में उन्होंने रुपया-पैसा लेने से इन्कार कर दिया।

यह देखकर गाँव के दो साहूकारों ने विचार किया—“हम महात्माजी को भेंट करने के लिए पाँच-पाँच हजार रुपये लेकर चलें। महात्माजी रुपये तो लेंगे नहीं, और हमारी कीर्ति दानवीरों के रूप में फैल जाएगी।”

दोनों साहूकारों ने ऐसा ही किया। अगले दिन जब महात्माजी का उपदेश समाप्त हुआ तो साहूकारों ने दस हजार रुपये उनके चरणों के समीप रख दिये तथा इन्तजार करने लगे कि महात्माजी इन्कार करें तो हम अपने रुपये उठालें। किन्तु महात्माजी ने तो उलटे अपने शिष्यों को रुपये उठाने का संकेत किया और उनके सधे हुए चेलों ने आनन्द से रुपये उठाकर यथास्थान रख लिए।

दोनों साहूकार अपनी प्रसिद्धि के लोभ में पड़कर रुपये गँवा बैठे और महात्माजी ने रुपयों के लोभ में आकर अपनी साधना को गँवा दिया। इस प्रकार साधु और भक्त दोनों ने ही कर्मों का बन्धन कर लिया। इसीलिए कहा गया है कि समस्त सांसारिक पदार्थों पर से आसक्ति हटाना यानी ममत्व का परित्याग करना ही सच्चा धन है। इसका उपाजर्जन करने से कर्मों की निर्जरा होती है और व्यक्ति संवर के मार्ग पर बढ़ता है।

(७) प्रज्ञा—प्रज्ञा को भी धन माना जाता है यह आन्तरिक धन है। बाह्य धन को तो चोर चुरा सकते हैं, जल बहा सकता है, अग्नि मसम कर सकती है और राजा छीन लेता है, किन्तु प्रज्ञा रूपी धन को किसी प्रकार का भय नहीं होता। प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति जीव और जगत् के रहस्यों को भली-भाँति समझ सकता है तथा चिन्तन करता हुआ संसार की अनित्यता को जानकर संयोग एवं वियोग में पूर्ण समभाव रख सकता है।

जातस्य ही ध्रुवं मृत्युः...

कहा जाता है कि एक स्थान पर कुछ भक्त परमात्मा का भजन करने में तल्लीन थे कि एक व्यक्ति वहाँ आया और रोने लगा।

सभी व्यक्ति आगत पुरुष को रोते हुए देखकर चौक पड़े और एक व्यक्ति ने उससे रोने का कारण पूछा। संयोग की बात थी कि रोने का कारण पूछने वाले व्यक्ति का युवा और इकलौता पुत्र ही किसी दुर्घटना से काल कवलित हो गया था।

किन्तु जब उसने अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुना और वहाँ बैठे हुए व्यक्तियों की आँखों में आँसू देखे तो पूर्ण शान्ति और गम्भीरता पूर्वक गीता का एक श्लोक कहा—

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहरार्थं, न त्वं शोचिषुमर्हसि ॥

अर्थात्—जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरा है वह निश्चित पुनः जन्म लेगा। अतः इस अवश्यम्भावी विषय को लेकर आप लोगों को दुःख करना उचित नहीं है।

मृतपुत्र के पिता की यह बात सुनकर और उसके असीम धैर्य एवं समभाव को देखकर वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति दंग रह गये और उससे सच्ची प्रेरणा लेकर आत्म-चिन्तन में निमग्न हो गये।

अपनी प्रज्ञा का जो भव्य पुरुष इस प्रकार लाम उठाते हैं, वे स्वयं तो अपनी आत्मा को उन्नत बनाते ही हैं साथ ही अपनी संगति करने वाले अन्य व्यक्तियों को भी सन्मार्ग पर ले आते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि प्रज्ञा अथवा बुद्धि का समुचित उपयोग किया जाय। उसे पाकर भी अगर व्यक्ति ने आत्म-चिन्तन नहीं किया तथा वीतराग के बताये हुए मार्ग पर चलने का संकल्प न करते हुए मन को अज्ञान के वशीभूत हो जाने दिया तो फिर प्रज्ञा का होना न होना समान हो जाएगा।

बन्धुओ, प्रसंगवश मैंने आत्मा के कुछ सद्गुण जिन्हें सच्चा धन या आत्म-धन कहा जा सकता है, उनके विषय में आपको बताया है। वह इसलिए कि इन गुणों को अपना लेने वाला मुमुक्षु संवर के मार्ग पर बढ़ सकता है और निश्चय ही आत्म-कल्याण करने में समर्थ बनता है।

वैसे हमारा मूल विषय अज्ञान-परिषह को लेकर चल रहा है। यहाँ आपको कुछ शंका यह भी हो सकती है कि कुछ समय पहले ही मैंने आपको 'पञ्जापरिषह' यानी प्रज्ञा परिषह के विषय में बताया था और अब 'अज्ञान-परिषह' के विषय में बता रहा हूँ। तो प्रज्ञा और अज्ञान में क्या अन्तर है? यह आपके लिए विचारणीय हो सकता है। अतः मैं इसी अन्तर को आपके समक्ष कुछ स्पष्ट करना चाहता हूँ।

प्रज्ञा का अभाव

प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि! बुद्धि की मन्दता या तीव्रता व्यक्तियों में होती है और हम सहज ही इनके उदाहरण कुछ व्यक्तियों में प्राप्त कर सकते हैं। पर बुद्धि की मन्दता होना या बुद्धि का न होना इतना हानिकारक नहीं है जितना हानिकारक अज्ञान का होना है। बुद्धि की मन्दता होने पर भी आत्म-कल्याण का अभिलाषी व्यक्ति संत-महात्माओं के द्वारा सुनाए गये वीतराग के वचनों पर विश्वास करता हुआ अनेक सद्गुणों को हृदय में धारण करता हुआ अपने आचरण को शुद्ध, निष्पाप और त्याग तथा तप युक्त बना सकता है। दूसरे शब्दों में वह सच्चे उपदेशकों के द्वारा बताये हुए सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता हुआ भी मानव-जीवन को सफल बना सकता है अर्थात् मनुष्य-भक्ति के उद्देश्य को हासिल कर लेता है। प्रज्ञा का अभाव हानिकारक तभी होता है जबकि साधक उसके लिए घोर दुःख करे तथा शोकमग्न होकर आर्त-ध्यान करता हुआ नवीन कर्मों का बन्धन करे। पर अगर ऐसा न करके वह प्रज्ञा के अभाव को पूर्वकर्मों का उदय मानकर समभाव रहने और अन्य आत्मिक सद्गुणों की सहायता से अपने आचरण को उन्नत बनाये तो प्रज्ञा के अभाव में भी वह कर्मों की निर्जरा करता चला जाता है और संवर के मार्ग पर बढ़ता हुआ एक दिन अपने उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

अज्ञानावस्था

अभी मैंने आपको बताया है कि प्रज्ञा या बुद्धि की मन्दता से अधिक हानिकर अज्ञान का होना है। वह इसलिए कि अज्ञानी व्यक्ति न तो वीतराग वाणी पर पूर्ण आस्था रखता है और न धर्मोपदेशकों के बताए हुए सत्पथ पर ही चल पाता है। क्योंकि अज्ञानावस्था के कारण वह सत्य को असत्य और यथार्थ को मिथ्या समझ लेता है।

‘आचारांग सूत्र’ में कहा भी है—

वितहं पप्पऽखेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ।

अर्थात्—अज्ञानी साधक जब कभी असत्य विचारों को सुन लेता है, तो वह उन्हीं में उलझकर रह जाता है ।

परिणाम यह होता है कि वह साधुत्व ग्रहण करके और महाव्रतों को अंगीकार करके भी नासमझी के कारण सोचने लगता है—“मैंने निरर्थक ही संसार के सुखों का त्याग किया, अच्छा तो यही था कि मानव-जन्म पाकर संसार के सुखों का उपभोग करता ।”

इस प्रकार वह सांसारिक सुखों को जोकि नकली हैं, असली समझने लगता है और आत्मिक सुख जो कि असली हैं, उन्हें नकली मानकर साधु-वेश धारण कर लेने पर भी पश्चात्ताप में डूबा रहता है और अपने मन को सांसारिक प्रवृत्तियों में रमाता हुआ घोर कर्मों का बन्धन करके आत्मा को अधिकाधिक बोझिल बना लेता है । इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी साधक को अज्ञानपने से बचते हुए बड़ी सावधानी से संवर-मार्ग पर चलना चाहिए, तभी आत्मा की सद्गति हो सकती है ।

○

४

धर्माचरण निरर्थक नहीं जाता

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनों !

संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों पर हमारा विवेचन चल रहा है और उनमें से उन्नीसवें भेद यानी इक्कीसवें परिषह पर हमने कल विचार किया था। इक्कीसवाँ भेद 'अज्ञान-परिषह' यानी अज्ञान परिषह है।

इस परिषह को लेकर कल मैंने 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की बयालीसवीं गाथा आपके सामने रखी थी। उसका सारांश यही था कि साधक अज्ञान के कारण शुभ कार्य करके भी यही सोचता है कि मैंने यह काम निरर्थक किया। ज्ञान के अभाव में जब वह औरों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का समाधान नहीं कर पाता तो यह विचार करने लगता है कि—“जब मैं धर्म के पावन और कल्याणकारी मार्ग को नहीं समझ सका तो मेरा साधुपना ग्रहण करना व्यर्थ है और इससे तो सांसारिक सुखोपभोग करना ही अच्छा था।”

इस प्रकार अज्ञानावस्था में वह सही कार्यों को गलत और गलत कार्यों को सही समझने लगता है। किन्तु इसके परिणामस्वरूप वह संवर का मार्ग छोड़कर आश्रव के मार्ग पर बढने लगता है और अपनी आत्मा का अकल्याण कर बैठता है।

इसी विषय पर 'उत्तराध्ययन सूत्र' की अगली गाथा कही गई है और वह इस प्रकार है—

तबोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ,
एवं पि बिहरओ मे, छउमं न नियट्ठई ॥

अ० २—गा० ४३

इस गाथा में भी यह बताया गया है कि साधु अज्ञान परिषह के वशीभूत होकर कभी यह चिन्तन न करे कि—“मैंने तप और उपधान तपों का अनुष्ठान

किया, साधु की बारह प्रतिमाओं को भी ग्रहण किया तथा साधु के उपयुक्त ग्रामानुग्राम अप्रतिबद्ध होकर विचरण किया, किन्तु मेरा 'छउम' अर्थात् छद्मस्थ भाव दूर नहीं हुआ अतः यह सब निरर्थक गया ।

वस्तुतः अगर साधु यह विचार करता है कि—“उपवास, आयम्बिल एवं द्वादशभेदी तप करके भी मुझे इनसे किसी विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति अथवा सिद्धि हासिल नहीं हुई तो यह सब करना व्यर्थ है और शास्त्रों का यह कथन कि घोर तपश्चर्या से अतिशय बढ़ता है और नाना सिद्धियाँ हासिल होती हैं, असत्य है ।” तो उसकी यह धारणा 'अज्ञान परिषह' के कारण ही बनती है ।

क्योंकि किसी भी प्रकार की लौकिक या अलौकिक सिद्धियाँ हासिल होना या विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होना पूर्व कर्मों के क्षयोपशम पर निर्भर होता है । जब तक कृतकर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक कोई भी विशेष ज्ञान या केवल ज्ञान कैसे हासिल हो सकता है ? इसलिए साधक को अपने अज्ञभाव के दूर न होने पर यही विचार करना उचित है कि—“अभी मेरे बद्ध कर्मों का विपाक नहीं हुआ है ।” उसे स्वप्न में भी अपने तपादि अनुष्ठानों के लिए खेद करना और उन्हें निरर्थक समझना उचित नहीं है । अगर वह ऐसा करेगा तो पूर्व कर्मों का क्षय तो दूर, नवीन कर्मों का संचय हो जाएगा ।

किन्तु अगर वह पूर्ण शांति एवं समत्व के साथ अपनी मुनि-चर्या पर हृद रहे और अज्ञान परिषह पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करे तो निश्चय ही उसके कर्मों की निर्जरा होती रहेगी और अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान के लिए अपना स्थान रिक्त कर देगा । यानी एक दिन ज्ञान का प्रकाश होगा और अज्ञानांधकार का लोप । किन्तु इसके लिए मन, वचन और शरीर को बड़ा सतर्क और सावधान रखने की आवश्यकता है । मन का संमालना बड़ा कठिन है और विरले व्यक्ति ही इस पर काबू पाते हैं ।

समर्थ रामदास स्वामी ने मन को समझाने के लिए बहुत से श्लोक लिखे हैं । मराठी भाषा में उनकी पुस्तक का नाम है—'मनाचे श्लोक ।' यहाँ मैं संस्कृत का एक श्लोक आपके सामने रखता हूँ—

समस्तेःसुखं संयुतः कोस्ति लोके,
मनःसद् विचारंः शनैर्निश्चिनु त्वम् ।
मनोयत्त्वया संचितम् पूर्वकर्म,
तदेवेह भोग्यम् शुभं वाऽशुभं वा ॥

इस श्लोक में मन को संबोधित करते हुए कहा है—'अरे मन ! इस लोक में सम्पूर्ण सुखों से युक्त कौन होता है ? कोई नहीं, अतः तू मन में सद्विचार

रखता हुआ धैर्य पूर्वक विचार कर कि तूने पूर्व में जिन कर्मों का संचय किया है वे शुभ हों या अशुभ, भोगने ही पड़ेंगे ।

वस्तुतः कर्मों की गति बड़ी विचित्र होती है । एक पाप कर्म भी अपना बदला लिए नहीं रहता चाहे व्यक्ति उसके बदले में हजार शुभ कर्मों का फल न्योछावर कर दे । उदाहरणस्वरूप एक व्यक्ति किसी से अपनी हीनावस्था में एक रुपया कर्ज ले ओर भान्योदय के कारण बाद में अपार सम्पत्ति का स्वामी बनकर उसी को दान में एक हजार रुपया दे दे, तब भी वह एक रुपया तो जब कर्ज के बतौर चुकाएगा तभी कर्ज उतारना माना जाएगा । विचार करने की बात है कि दाता उसी व्यक्ति को हजार रुपया दान में देने से उसके अनुसार पुण्य कर्मों का संचय तो अवश्य कर लेगा, किन्तु अगर वह कर्ज में लिया हुआ एक रुपया भुगतान की भावना से नहीं देगा तो उस एक रुपये का कर्जदार अवश्य बना रहेगा और उसे चुकाने पर ही कर्ज से मुक्त माना जाएगा ।

इसीलिए कवि ने श्लोक में मन को बोध देते हुए कहा है कि—“संचित शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल तो तुझे निश्चय ही भोगना पड़ेगा अतः अशुभ कर्मों का उदय होने पर भी तू मन में खेद मत कर तथा यही सुविचार कर कि इस संसार में कोई भी ऐसा नहीं है जिसने पूर्व में केवल शुभ कर्म ही संचित किये हैं और उनके कारण वह केवल सुखों को ही प्राप्त कर रहा है । अपितु यह विचार कर कि इस जगत में सभी प्राणी ऐसे हैं जिनके शुभ और अशुभ, दोनों ही प्रकार के कर्मों का संचय होता है और वे भी कर्मों के अनुसार कभी दुःख और कभी सुख की प्राप्ति करते हैं ।”

अगर प्रत्येक मुमुक्षु साधु इस प्रकार अपने मन को बोध देता है तथा कर्मों की क्रिया को समझ लेता है तो उसके मन में यह विचार नहीं आता कि मैंने उपवास-आयम्बिल किये, बारह प्रतिमाएँ धारण की, साधुचर्या के अनुसार विचरण किया किन्तु इतना सब करने पर भी मुझे कोई लाभ नहीं हुआ अतः यह सब मैंने व्यर्थ किया और इससे अच्छा तो सांसारिक सुखों का उपभोग करना ही था ।

बन्धुओ, छद्मस्थ भाव दूर होकर अतिशय का बढ़ना, सिद्धियों का हासिल होना और विशिष्ट ज्ञान या केवल ज्ञान की प्राप्ति का होना तो चारों प्रकार के धार्मिक कर्मों का क्षय होने पर निर्भर है । अतः जब तक पूर्व कर्म शेष हैं, उनका भुगतान बाकी है, दूसरे शब्दों में आत्मा पूर्णतः शुद्ध एवं कर्म-रहित नहीं है, तब तक कुछ धर्म-क्रियाएँ कर लेने से या तपादि का अनुष्ठान कर लेने से ही पूर्णता हासिल कैसे हो सकेगी ?

आप जानते हैं कि हलवाई जब पकवान बनाता है और उसके लिए शक्कर की चासनी तैयार करता है तो उसे कितनी सतर्कता रखनी पड़ती है ? चासनी अगर तनिक भी पतली हो या तनिक भी कड़क हो तो पकवान ठीक नहीं बनता । इसी प्रकार विद्यार्थी परिश्रम करता है और परीक्षा में कुछ नम्बर भी पा लेता है, किन्तु दो-चार नम्बरों की भी अगर कमी रह जाय तो वह पास नहीं होता, फेल हो जाता है ।

तो जिस प्रकार परीक्षार्थी को उत्तीर्ण होने के लिए पूरे नम्बर चाहिए, उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी आत्मा की कर्मों से पूर्णतः मुक्ति होनी चाहिए । पर अगर ऐसा नहीं हो पाता, यानी द्वात्रिंशत् दो-चार नम्बरों की कमी से परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाता तो क्या उसे निराश होकर अपने परिश्रम को व्यर्थ मानना चाहिए ? नहीं, उसे यही विचार करके मन में साहस रखना चाहिए कि मैं शत-प्रतिशत अंक प्राप्त करके पास होता पर ऐसा न होने पर भी नब्बे प्रतिशत अंक मुझे मिले हैं, और मेरी इतनी योग्यता तो बढ़ ही गयी है । थोड़ी और मेहनत करूँगा तो अगली बार दस प्रतिशत की कमी भी पूरी करके पास हो जाऊँगा ।

ठीक ऐसे ही विचार साधक के भी होने चाहिए । उसे बड़ी गंभीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए कि—“मैंने यथाशक्ति तप किया, आर्यविलादि उपधानों का अनुष्ठान किया तथा अपने व्रतों का पालन भी कर रहा हूँ पर अगर मुझे विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है तो इसका कारण पूर्व कर्मों का शेष होना है । पर इससे क्या हुआ ? मैं जो कुछ भी कर सका हूँ, इससे मेरे कुछ अशुभ कर्मों की निर्जरा तो हुई ही होगी और शेष कर्मों की निर्जरा करने के लिए मुझे प्रयत्नशील रहना है । अगर मैं दृढ़तापूर्वक आश्रव से बचता हुआ संवर के मार्ग पर बढ़ूँगा तो इस जन्म में न सही, अगले जन्मों में तो मैं अपनी आत्मा को कर्मों से सर्वथा मुक्त करने में समर्थ बनूँगा ।”

बन्धुओ, ऐसे विचार और ऐसा दृढ़ संकल्प जिस साधक का होगा वही संवर के मार्ग पर बढ़ता हुआ आत्मा को निरंतर शुद्ध बना सकेगा तथा अपने मन, वचन एवं शरीर को इस कार्य में सहायक बनाएगा । ऐसा साधक कभी भी अपनी साधना या तपस्या को निरर्थक न मानकर बड़े धैर्यपूर्वक सम्पूर्ण परिषहों पर विजय प्राप्त हुआ कर्मों का कर्ज अदा करेगा तथा उनके उदय को अकाट्य समझकर पूर्ण समभावपूर्वक उनके क्षय की प्रतीक्षा करेगा । वह सदा अपने मन पर नियन्त्रण रखेगा तथा उसे कभी विचलित न होने देता हुआ बोध देता रहेगा ।

स्वामी रामदासजी ने भी मराठी भाषा में यही कहा है—

जगी सर्व सुखी असा कोण आहे,
विचारी मना तूचि शोधूनी पाहे ।
मना तूचि रे पूर्वसंचित केले,
तथा सारखे भोगणे प्राप्त झाले ॥

स्वामीजी का कथन है—“रे मन ! तू विचार करके देख कि इस जगत में पूर्ण सुखी कौन है ? सभी अपने कर्मों के अनुसार सुख और दुख प्राप्त करते हैं और इसी नियम के अनुसार तुझे भी शुभ और अशुभ फल कर्मानुसार भोगने पड़ेंगे ।”

बन्धन और मुक्ति

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक साधक को अपने मन, वाणी एवं शरीर को बड़ी सावधानीपूर्वक रखना चाहिए। हमारे शास्त्र कहते हैं कि कर्म-बन्धन का कार्य बड़ा बारीक होता है। मानव समझ नहीं पाता कि कर्म किस प्रकार और कौन-कौनसे मार्ग से आकर आत्मा पर लिपटते चले जाते हैं तथा किस प्रकार उनसे छुटकारा भी होता जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि कोई व्यक्ति स्वयं आठ दिन का तप नहीं कर पाता किन्तु ऐसा तप करने वाले का अनुमोदन करता है और उसकी सराहना करता है, तब भी पुण्य कर्मों का उपाजन कर लेता है और इसके विपरीत अशुभ कार्य स्वयं न करने पर भी दूसरों के अशुभ कार्यों का अनुमोदन करके पाप-कर्म पल्ले में बाँध लेता है। तारीफ की बात तो यह है कि पाप-कर्म मन, वचन एवं शरीर से बँधते हैं और इन्हीं के द्वारा छूटते भी हैं।

मान लीजिये, किसी के बारे में हमने अशुभ चिंतन किया तो पाप पल्ले में बँध गया। किन्तु अगर मन ने पलटा ख्याया और यह विचार आया कि—“अरे, मैंने ऐसा क्यों सोचा ? यह मेरी भूल है। जो जैसा करेगा वह वैसा स्वयं ही भोगेगा मैंने ऐसा विचार करके बुरा किया है।” तो ऐसा विचार करते ही, यानी अपने अशुभ विचारों के लिए सच्चा पश्चात्ताप करते ही वह पाप हमारी आत्मा से अलग हो जाएगा।

इसी प्रकार किसी को हमने जुबान से कड़े शब्द कह दिये तो पाप बँध गया पर तुरन्त खयाल आते ही उससे कहा—“भाई ! मुझे भान नहीं रहा, अतः तुम्हारा मन दुखाकर मैंने गलती की है, माफ करे।” यह कहते ही पाप छूट जाएगा। यही हाल शरीर की क्रियाओं का है। भीड़-भाड़ के कारण और कहीं

पहुँचने में देर न हो जाए इससे शीघ्रतापूर्वक चलते हुए किसी को ठोकर लगा दी तो समझो कि पाप आत्मा के समीप आ गया। परन्तु उसी समय जिसे ठोकर लगी थी, उससे हाथ जोड़कर हादिक पछतावे के साथ क्षमा माँग ली तो समझो कि पाप से बचाव हो गया। शर्त केवल यही है कि अपने मन, वचन और शरीर से की गई भूल के लिए पश्चात्ताप भी सच्चे और शुद्ध अन्तःकरण से किया जाय। बनावटी और दिखावे का पश्चात्ताप पापों से कदापि छुटकारा नहीं दिला सकेगा।

ध्यान में रखने की बात है कि प्रत्येक क्रिया के पीछे भावनाएँ जैसी होती हैं, फल वैसा ही मिलता है। जिस प्रकार दिखावे की क्षमा-याचना पाप से छुटकारा नहीं दिला सकती, इसी प्रकार दिखावे की भक्ति और साधना भी शुभ कर्मों का संचय नहीं कर सकती। इसलिए शुभक्रियाएँ मने ही शारीरिक क्षमता के अनुसार सही और पूर्णरूप से न हो सकें तो भी साधक को अपनी भावनाएँ सही और श्रेष्ठ रखनी चाहिए। एक छोटा-सा उदाहरण है—

महत्त्व शब्दों का या भावनाओं का ?

एक वृद्ध फकीर बड़े सरल, शुद्धात्मा एवं खुदा के सच्चे भक्त थे। अपना अधिकांश समय वे खुदा की इबादत या नमाज पढ़ने में व्यतीत किया करते थे। हमेशा सही वक्त पर नमाज पढ़ते थे और अल्लाह से दुआ माँगते थे।

एक बार जब वे नमाज पढ़ रहे थे तो एक अन्य व्यक्ति भी उनके पास बैठा था। फकीर को अरबी भाषा अच्छी तरह नहीं आती थी, अतः नमाज पढ़ते वक्त उनकी जुबान से एक स्थान पर अलहमद की बजाय अहलमद उच्चरित हो गया।

समीप बैठे हुए व्यक्ति ने जब शब्द का इस प्रकार गलत उच्चारण सुना तो वह फकीर का उपहास करता हुआ बोला—“फकीर साहब ! इस प्रकार नमाज के शब्दों का गलत उच्चारण करने से खुदा आपसे कभी प्रसन्न नहीं होगा।”

फकीर बड़ा सहनशील था। उसने उपहास करने वाले व्यक्ति की बात का तनिक भी बुरा न मानते हुए सहजभाव से उत्तर दिया—

“भाई ! भाषा की अज्ञानता के कारण मुझसे नमाज पढ़ते समय शब्दों की अनेक भूलें हो जाती हैं, किन्तु खुदा मेरे शब्दों को नहीं, वरन् भावनाओं को अवश्य ही समझ लेगा। क्योंकि मेरी भावनाओं में कहीं दिखावा, ढोंग या छल नहीं है और मुझे इसीलिए पूरा विश्वास है कि मेरे गलत शब्द मुझे खुदा से मिलने में बाधक नहीं बनेंगे।”

समीपस्थ व्यक्ति भावनाओं के सच्चे महत्त्व को समझ गया और फकीर के प्रति किये गये अपने उपहास के लिए स्वयं ही लज्जित होता हुआ तथा उम पर पश्चात्ताप करता हुआ वहाँ से चला गया ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो सच्चा साधक होता है और अपनी की गई शुभ क्रियाओं के प्रति, उसमें रही हुई कमियों के प्रति और छद्मस्थ अवस्था के कारण हो जाने वाली भूलों के प्रति भी अविश्वास एवं अश्रद्धा नहीं रखता तथा उनके द्वारा प्रत्यक्ष फल प्राप्त न होने पर भी खेद प्रकट नहीं करता । वह शनैः-शनैः संवर के मार्ग पर बढ़ता हुआ एक दिन अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में अवश्य समर्थ बन जाता है । किन्तु जो व्यक्ति थोड़ा सा शुभ कर्म या कुछ शुभ क्रियाएँ करके ही उनके फल की प्राप्ति की आशा करता है और ऐसा न होने पर अपने उन कार्यों को निरर्थक मानने लगता है वह आश्रव के कुपथ पर चलकर अपनी आत्मा की शोचनीय दशा बना लेता है ।

सामायिक से घाटा नहीं होता

एक बार की बात है कि हमने पूना से बिहार किया और उस समय एक पचास या सैंबवतः साठ वर्ष की उम्र के व्यक्ति हमें कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए साथ चले ।

मार्ग में चलते-चलते मैंने सहज भाव से उनसे पूछ लिया—“क्यों साहब ! आप सामायिक तो प्रतिदिन करते हैं ?”

“नहीं महाराज ! मैं तो सामायिक नहीं करता ।” उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया ।

सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । और मैंने कहा—

“ऐसा क्यों ? आपकी उम्र तो अब बहुत हो गयी है और आप बिलकुल नास्तिक हो ऐसा भी नहीं लगता, क्योंकि प्रायः आप प्रवचन में आया करते हैं और इस समय हमें पहुँचाने में भी साथ ही हैं, यह लक्षण धर्म-भावना से रहित व्यक्ति जैसे तो नहीं हैं । फिर सामायिक-प्रतिक्रमण के बारे में आपकी ऐसी उपेक्षा क्यों ?”

वे सज्जन बोले—“महाराज ! असली बात यह है कि मेरे पिताजी रोज सामायिक करते थे, पर उनको बहुत घाटा लगा इसलिए उन्होंने सामायिक करना छोड़ दिया था और मुझे भी न करने का आदेश दिया था । बस, इसीलिए मैं सामायिक नहीं करता और कोई बात नहीं है ।”

उस सज्जन की सरल और स्पष्ट बात सुनकर मुझे हँसी आ गई पर मैंने

उनकी निष्कपटता को जानकर पुनः कहा—“भाई ! आपके पिताजी को व्यापार में घाटा जरूर हुआ होगा । किन्तु वह सामायिक करने से नहीं, वरन् पूर्वकृत पापकर्मों के उदय से हुआ होगा । भला तुम्हीं बताओ कि मिश्री खाने से भी किसी के दाँत गिर सकते हैं क्या ?”

“किसी-किसी के गिर भी सकते हैं ।”—वह बोले ।

“तो जिनके दाँत मिश्री खाने से गिरते हैं वे पहले से कमजोर और हिलने वाले नहीं होते होंगे क्या ? जिनके दाँत पूर्णतया मजबूत होते हैं वे तो मिश्री क्या उससे भी कड़ी चीज ‘बेर की गुठलियाँ’ आदि भी चबा सकते हैं । बचपन में मैं भी ऐसा करता था । छोटे बेरों को गुठलियों समेत चबा जाया करता था पर उस समय मेरा एक भी दाँत नहीं गिरा ।”

वे वृद्ध सज्जन कुछ अप्रतिभ होकर बोले—

“महाराज, आपकी बात सत्य है । पहले से हिलने वाले दाँत ही मिश्री खाने से गिर सकते हैं, अन्यथा नहीं ।”

“तो फिर ऐसा क्यों सोचते हो कि सामायिक करने से मेरे पिताजी को घाटा लगा था ? घाटा तो पहले के पाप कर्मों के कारण लगा होगा, जिस प्रकार पहले से हिलने वाले दाँत मिश्री खाने से गिरते हैं । पूर्व कर्मों के उदय से तो सेठ सुदर्शन को सूली पर चढ़ना पड़ा था, वह क्या उनकी वर्तमान धर्म-क्रियाओं के कारण हुआ था ? गजसुकुमाल के सिर पर अंगारे रखे गये थे तो क्या ऐसा उपसर्ग उनके साधुपना लेने के कारण आया था ? नहीं, नफा-नुकसान तो पूर्व संचित शुभ और अशुभ कर्मों के उदय से होता है । सामायिक जैसी शुभ क्रियाओं से कभी अशुभ फल प्राप्त नहीं हो सकता ।”

मेरी यह बात सुनकर उन वृद्ध व्यक्ति की धारणा बदल गई और नियमित रूप से सामायिक करने का नियम लेकर वे लौट गये ।

बन्धुओ, एक और भी संयोग मुझे ऐसा ही मिला था । बहुत समय पहले एक बार मैंने प्रवचन के बीच में प्रसंगवश कहा कि—“धर्म से कभी नुकसान नहीं होता ।”

उस समय एक वृद्धा भी वहाँ बैठी थी साथ ही और भी कुछ बहनें थीं । प्रवचन की समाप्ति पर वह वृद्धा बोली—“महाराज ! मी एकादशी करीत असे परन्तु माझा मुलगा एकादशीच्या दिवशीच गेला तेव्हां पासून मी एकादशी करीत नाही ।”

उस वृद्धा के ऐसा कहने पर उसके साथ की एक और बहिन बोली—
“महाराज ! मेरा लड़का भी आयम्बिल की लड़ी करते समय मरा इसलिए
फिर मैंने आयम्बिल करना छोड़ दिया ।”

उन बहनों की बात सुनकर मुझे उनकी अज्ञानावस्था पर बड़ा दुःख हुआ
पर मैंने पूछा—“क्या एकादशी और आयम्बिल छोड़ देने से तुम्हारे पुत्र वापिस
आ गये ?”

“महाराज ! मरे हुए भला वापिस कैसे आते ?”

यह सुनकर मैंने उन्हें समझाया—“बहनो ! जब एक चीज चली गयी और
वह वापिस नहीं आ सकती तो फिर हाथ में रही हुई दूसरी चीज को क्यों फेंक
रही हो ? तुम्हारे लड़के पाप कर्मों के उदय से गये, पर अब व्रतों में सन्देह
और अविश्वास करते हुए उनका त्याग करके नये कर्मों का बन्धन किसलिए
कर रही हो ?”

कहने का सारांश यही है कि अज्ञानावस्था के कारण अनेक स्त्री-पुरुष धर्म
को गलत समझ बैठते हैं या उसका तुरन्त ही शुभ फल न मिलने पर धर्माचरण
को व्यर्थ मानकर त्याग देते हैं । वे भूल जाते हैं कि हमें जो दुःख प्राप्त हो रहे
हैं वे हमारे पूर्व-संचित अशुभ कर्मों का फल भी तो हो सकता है । मोहनीय
कर्मों के उदय में रहने पर तो स्वयं गौतम स्वामी को भी केवलज्ञान हासिल
नहीं हुआ था, जबकि उनके पश्चात् दीक्षित होने वाले संत केवलज्ञानी बन
चुके थे । उस स्थिति में गौतम स्वामी ने क्या साधना और संयम का त्याग कर
दिया था ? क्या उन्होंने यह समझा था कि मेरा अब तक का धर्माचरण
निरर्थक था ?

नहीं, भगवान ने उन्हें यही बताया था कि केवलज्ञान प्राप्त न होने का
कारण तुम्हारे पूर्व कर्म हैं और भगवान की वही वाणी आज भी साधु के लिए
है कि अपने तप, उपधान एवं व्रतों के अनुष्ठानों का विशिष्ट फल प्राप्त न होने
पर खेद मत करो और उन्हें निरर्थक मानकर मन को विषय-विकारों की ओर
मत झुकने दो । ऐसा करने पर ही आत्म-कल्याण संभव होगा ।

○

अश्रद्धा परमं पापं , श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संवरतत्त्व के सत्तावन भेदों में से उन्नीसवाँ भेद 'अज्ञान परिषह' समाप्त किया था। आज बीसवें भेद 'दर्शन परिषह' को लेना है। 'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' के दूसरे अध्याय में बाईस परिषहों का स्पष्टीकरण किया है और 'दर्शन परिषह' अन्तिम परिषह है।

दर्शन का एक अर्थ होता है देखना और दूसरा है श्रद्धा करना। आध्यात्मिक दृष्टि से श्रद्धा का बड़ा भारी महत्त्व है। अगर मन में श्रद्धा न हो तो एक भी धर्म-क्रिया अपना फल प्रदान नहीं कर सकती। जिस प्रकार चासनी बिगड़ जाने से सभी पकवान बिगड़ जाते हैं, उसी प्रकार संदेह, शंका या अविश्वास के कारण श्रद्धा के बिगड़ जाने पर धर्म-कार्य खोखले रह जाते हैं या बिगड़ जाते हैं।

आपके व्यावहारिक जीवन में विश्वास के बिना एक कदम भी आप आगे नहीं बढ़ पाते। कोई आपसे पाँच रुपये उधार माँगे तो आप उस पर विश्वास हुए बिना नहीं देते। किसान विश्वास के आधार पर ही हजारों टन मिट्टी में अनाज बोता है कि यह कई गुना होकर फसल के रूप में आएगा, बहनें विश्वास होने पर ही दूध में जावन देती हैं कि यह दही अवश्य बन जाएगा। पर अनाज उगने से पूर्व अविश्वास के कारण किसान अगर बीज को उखाड़कर देखेगा तो फिर वह फसल हासिल नहीं कर सकेगा और बहनें दही जमने से पहले ही अविश्वास के कारण दूध को बार-बार हिला-डुलाकर देखेंगी तो वह बिगड़ जाएगा।

तो सांसारिक जीवन में भी जब अविश्वास के कारण सफलता हासिल नहीं

होती तो फिर आध्यात्मिक जीवन तो बड़ा गम्भीर एवं दुरूह है, फिर इसमें अनास्था और संशय होने पर आत्म-कल्याण किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

श्री आचारांगसूत्र में कहा भी है—

“वितिगिच्छासभावज्ञेणं अप्पाणेणं,
नो लहइ समाहि ।”

अर्थात्—शंकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नहीं मिलती ।

गाथा से स्पष्ट है कि शंकाशील हृदय वाले को कभी समभाव प्राप्त नहीं होता और समभाव के अभाव में जबकि संदेह की तरंगें सदा मानस को झकझोरती रहती हैं, धर्म-क्रियाओं में एकाग्रता कैसे आ सकती है ? और उस स्थिति में कौनसी धर्म-क्रिया भली-भाँति की जा सकती है ? कोई भी नहीं । जहाँ सन्देह होता है, वहाँ कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता और जब कार्य ही सही रूप से नहीं होगा तो वह सही फल कैसे प्रदान करेगा ? आत्म-विश्वास या अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ आस्था हो तो असम्भव भी सम्भव हो जाता है । एक छोटा-सा उदाहरण है—

श्रद्धारूपी सुदृढ़ दुर्ग

यूरोप में स्टिवन नाम का एक बड़ा धार्मिक, सत्यवादी एवं आत्म-शक्ति पर दृढ़ आस्था रखने वाला व्यक्ति रहता था । अनेक नास्तिक पुरुष उसकी धर्म-भावना से ईर्ष्या करते थे तथा उसके शत्रु बन गये थे ।

यह देखकर एक बार स्टिवन के मित्रों ने कहा—“बन्धु ! अनेक धर्मद्रोही व्यक्ति तुमसे शत्रुता रखते हैं, अतः कभी उन लोगों ने अचानक तुम पर आक्रमण कर दिया तो फिर क्या होगा ?”

स्टिवन ने निश्चिन्ततापूर्वक उत्तर दिया—“इसके लिए चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? मैं मेरे लौहदुर्ग में प्रविष्ट हो जाऊँगा । वहाँ मेरा कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा ।”

स्टिवन की इस बात को उसके मित्र तो सही ढंग से नहीं समझ पाए किन्तु उसके विरोधियों को इन गर्व भरे शब्दों का पता चल गया और उन्होंने इसे स्टिवन का दर्प समझकर उसे चूर्ण करने का निश्चय कर लिया ।

संयोगवश ऐसा अवसर भी आ गया । स्टिवन एक दिन किसी कार्यवशात् शान्तिपूर्वक किसी मार्ग से गुजर रहा था कि उसके नास्तिक शत्रुओं ने उसे चारों ओर से घेर लिया और बोले—“बताओ ! अब तुम क्या करोगे ? कहाँ जाओगे, और कौनसा वह दुर्ग है जिसमें प्रविष्ट होकर सुरक्षित रहोगे ?”

स्टिवन ने अपनी शान्ति और गम्भीरता को पूर्णरूप से कायम रखते हुए निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया—

“माइयो ! मेरा दुर्ग कहीं बाहर नहीं है । मेरे हृदय के अन्दर ही है, जिसका नाम है अपने धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा । जब तक मैं इस ‘आत्म-श्रद्धा’ रूपी दुर्ग में स्थित हूँ, तब तक आप लोग मेरा रंजमात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकते । अनिष्ट केवल मेरे शरीर का हो सकता है, पर इसकी मुझे परवाह नहीं है । मैं तो अपने श्रद्धा रूपी दुर्ग की रक्षा करना चाहता हूँ और वह कर लूंगा चाहे आप सब मिलकर मेरे इस अनित्य शरीर को नष्ट भी कर दें । आखिर यह तो एक दिन जाना ही है । बाद में न जाकर आज ही सही ।”

स्टिवन के विरोधी उसकी इस बात से चमत्कृत हो गये और बिना कुछ कहे अपने-अपने गंतव्य की ओर चले दिये ।

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जिस व्यक्ति की धर्म पर दृढ़ श्रद्धा या विश्वास होता है उसे संसार की कोई भी शक्ति पराजित नहीं कर सकती ।

इस संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप अथवा बन्धन-मुक्ति और परलोक के संशय में ही पड़े रहते हैं । ऐसे व्यक्ति कभी किसी की सत्संगति या उपदेशों के प्रभाव में आकर कुछ काल तक धर्माचरण करते भी हैं, किन्तु उनका तुरन्त ही कुछ विशिष्ट फल प्राप्त न होने पर श्लेध करने लगते हैं कि मैंने व्यर्थ ही इन क्रियाओं में समय गँवाया । ऐसा वे श्रद्धा के मजबूत न होने के कारण ही कहते हैं ।

इसी विषय को लेकर भगवान ने कहा है—

नत्थि नूणं परे लोए, इड्ढी वाचि तबस्सिणो ।

अबुवा बच्चिओमि त्ति, इइ भिक्खु न चिंताए ॥

—श्री उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २, गा० ४४

गाथा में कहा गया है—साधु कभी ऐसा चिन्तन न करे कि—‘नत्थि नूणं परे लोए’ अर्थात् निश्चय ही परलोक तो है नहीं और न ही तपस्वी को किसी प्रकार की ‘इड्ढी’ यानी ऋद्धि ही प्राप्त हो सकती है । अतः मैं छला गया हूँ ।

ऐसा जो साधक सोचता है, उसका इहलोक तो डाँवाडोल होकर बिगड़ता ही है, परलोक भी बिगड़ जाता है । श्रद्धा के अभाव में प्रथम तो वह साधना के सुमार्ग पर चल ही नहीं पाता और कदाचित् चल पड़ता है तो सन्देह और शंकाओं के तूफान से अपने आपको सम्हाल नहीं पाता तथा तिनकों के समान इधर से उधर उड़ता हुआ निरुद्देश्य भटकता रहता है और ऐसी स्थिति में

जबकि वह अपना उद्देश्य ही निश्चित करने में असमर्थ रहता है तो फिर प्रगति करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

नत्थिनूणं परेलोए

श्रद्धाविहीन या नास्तिक व्यक्तियों का सबसे बड़ा तर्क यही होता है कि परलोक किसने देखा है ? यह शरीर तो पृथ्वी आदि पंचभूतों के मेल से बना है और मरने पर उन्हीं में मिल जाएगा ।

ऐसे अज्ञानियों से पूछा जाय कि परलोक अगर नहीं देखा गया है तो वह हो नहीं सकता, तब फिर तुमने अपने दादा-परदादा या उनसे भी पहले के पूर्वजों को कब देखा है ? पर तुम्हारे देख न पाने से क्या वे थे नहीं, अगर वे नहीं होते तो उनकी वंश-परम्परा में तुम कैसे आते ?

दूसरे अगर यह शरीर पंचतत्त्वों से निर्मित हुआ है तो फिर इसमें चेतना कहाँ से आई ? और शरीर के मृत होने पर वह कहाँ जाती है ? सबसे बड़ी बात तो यह है कि जड़ या असत् भूतों से सत् की उत्पत्ति कभी नहीं होती । अगर चेतनाशक्ति जड़ भूतों के मेल का परिणाम मान भी ली जाय तो पृथ्वी आदि उन जड़ भूतों के पृथक्-पृथक् होने पर भी उनमें कुछ न कुछ चेतना अवश्य होती । पर यह कदापि सम्भव नहीं है तो फिर जड़ भूतों के इकट्ठा कर देने से ही चेतना शक्ति का आविर्भाव क्योंकर हो सकता है ? पाँच ही क्या पचास और पचास हजार जड़ भूतों का पहाड़ खड़ा कर देने पर भी उनमें चेतना का आना असम्भव है । वह इसलिए कि उनमें चेतनाशक्ति हो नहीं सकती और जो वस्तु होती नहीं उसका आविर्भाव कैसे हो सकता है ? जड़ अलग है और चेतन अलग । जड़ वस्तु में लाख प्रयत्न करने पर भी चेतनता लाना किमी भी वैज्ञानिक के लिए सम्भव नहीं है और कभी सम्भव होगा भी नहीं ।

इससे स्पष्ट है कि चेतनाशक्ति पंचभूतों के मेल का परिणाम नहीं है अपितु वह स्वतन्त्र और सदा अपना अस्तित्व रखने वाली एक महान् शक्ति है, जो कि जड़ शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहती है और तब तक रहेगी, जब तक कि वह अपने कर्मों के आवरणों को छिन्न-भिन्न करके सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर लेगी । और सिद्धावस्था में भी अनन्त काल तक रहेगी अर्थात् वह सदैव रहने वाली शक्ति है । उस चेतना शक्ति का नाम ही आत्मा है प्रत्येक शरीर से पृथक् होती है, पर अपने शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार निम्न या उच्च योनियों में शरीर प्राप्त किया करती है । पाप कर्मों के कारण वह नरक एव तिर्यक् योनि में भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर पाती है और पुण्य कर्मों के कारण मनुष्य एवं देव-शरीर को धारण करती है । यहाँ प्रत्येक साधक को ध्यान में रखना चाहिए कि मानवयोनि देवयोनि से कम नहीं वरन् उससे अधिक महत्त्व

रखती है। क्योंकि देवता अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप केवल कुछ काल के लिए ही स्वर्ग में अपार-सुखों का उपभोग करते हैं, किन्तु आत्मा को कर्म-मुक्त करने का प्रयत्न नहीं कर सकते। जबकि मानव अगर सच्ची साधना में लग जाय तो गज मुकुमाल मुनि के समान अल्प-काल में ही समस्त गुणस्थानों को पार करता हुआ पूर्ण कर्मों का क्षय करके सदा के लिए कर्म-मुक्त होकर सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है। स्वर्ग तो उसके समक्ष चीज ही क्या है ?

तो बन्धुओं, मैं श्रद्धाविहीन व्यक्तियों के कुतर्कों के विषय में बता रहा था कि ऐसे व्यक्ति शंका और अविश्वास के कारण सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। हम अचानक ही उत्पन्न न होकर कर्मों के अनुसार कहीं से आए हैं और कर्मों के अनुसार ही कहीं जाना पड़ेगा। पूर्वजन्म हमारा था और अगला जन्म भी होगा। आत्मा की आदि नहीं है और अन्त भी नहीं होगा, यह अजर, अमर और अक्षय है। इस अकाश्रय सत्य के प्रति उनका ध्यान नहीं जाता और इसे समझने की जिज्ञासा उनमें नहीं रहती।

इस प्रकार के व्यक्ति आत्मा का भला कभी नहीं कर पाते। शास्त्र की गाथा में बताया है कि श्रद्धाहीन साधक यह विचार करता है कि—“किसी तपस्वी को मैंने सिद्धियाँ हासिल करते नहीं देखा और न ही कोई लब्धि या चमत्कार किसी में पाया है, अतः यह सब झूठ है और मैं भी इस झूठ या मिथ्या भावना में पड़कर छला गया हूँ।”

बड़े खेद की बात है कि ऐसी निर्बल आत्माएँ जो लोक-परलोक, पुण्य-पाप अथवा बन्धन-मुक्ति पर भी विश्वास नहीं करती, वे सिद्धियों या लब्धियों के पाने का स्वप्न देखती हैं और उन्हें न पाने पर अपने किये गये थोड़े से धर्माचरण पर ही पश्चात्ताप करने लगती हैं।

इस प्रकार के व्यक्ति सिद्धियों या विशिष्ट ज्ञान पाने की बातों को मिथ्या मानते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं कि इस वर्तमान युग में क्या साधक अपनी साधना में आने वाली बाधाओं को या प्रत्येक प्रकार के परिषहों को सहन कर पाता है ? उस युग में जबकि भव्य-प्राणी सिद्धियाँ हासिल करते थे, धर्म पर किस प्रकार अनन्य श्रद्धा रखते थे तथा मरणांतक उपसर्ग आने पर रंचमात्र भी मन को डोलने नहीं देते थे। साधु की तो बात ही क्या है, आनन्द और कामदेव जैसे श्रावक, जिन्हें विचलित करने के लिए देवता आते थे और भयंकर से भयंकर उपसर्गों के द्वारा उनकी आस्था की परीक्षा लेते थे। पर धन्य थे वे महापुरुष, जो धर्म के लिए प्राणों की बाजी लगाना पसन्द करते थे पर उससे डिगते नहीं। ऐसी मजबूत श्रद्धा होने पर ही उन्हें अपनी साधना और

धर्माचरण का फल मिलता था तथा सिद्धियाँ उनके चरणों पर स्वयं झुकती थीं। आज भी उनका विलीनीकरण नहीं हो गया है और विरले महा-मानवों में उनका कुछ न कुछ अस्तित्व पाया जाता है। इससे यह तो निश्चय ही है कि पूर्व में साधक महान् सिद्धियों के अधिकारी होते थे। अन्तर केवल यही है कि वे साधक केवल कर्मों से मुक्त होना ही अपना उद्देश्य समझते थे, सिद्धियाँ हासिल करना नहीं। सिद्धियाँ तो उन्हें स्वयं ही हासिल हो जाती थीं। किन्तु आज का साधक थोड़ा धर्माचरण करके ही सिद्धियों के स्वप्न देखता है और वे प्राप्त न होने पर अविलम्ब अपने उस किये-कराये पर भी पानी फेरकर पश्चात्ताप करने लग जाता है कि मैंने व्यर्थ में इतने दिन तपानुष्ठान किये, इससे तो सांसारिक सुखोपभोग करना अच्छा था। जो साधक सिद्धियों को ही अपना उद्देश्य मान लेता है, वह भला कब तक अपने साधना मार्ग पर दृढ़ता से चलेगा और परिषद्दों पर विजय प्राप्त करके संवर की आराधना कर सकेगा ? जबकि उसके मानस में स्थिरता नहीं होती और सन्देह की तरंगें सदा उसके मस्तिष्क को झकझोरती रहती हैं।

ईसाई धर्म-ग्रन्थ इञ्जील में लिखा है—

A doubt minded man is unstable all his ways.

—Games 1, 8.

अर्थात्—एक श्रद्धाविहीन या सन्देहशील व्यक्ति अपने सभी कृत्यों में चलायमान रहता है। उसके दिल और दिमाग में स्थिरता नहीं होती।

वस्तुतः आज के युग में सच्ची श्रद्धा का अधिकांश में अभाव है। साधारण व्यक्तियों का तो कहना ही क्या है, वे तो चार पैसों के लिए भी अपना धर्म बेचने के लिए तैयार रहते हैं और रोगादि का थोड़ा सा आक्रमण होते ही भैरों, भवानी और हनुमान के आगे मस्तक झुकाने लगते हैं। पर बड़े-बड़े श्रावक और महाव्रतधारी साधु भी मन, वचन और कर्म से अपनी साधना पर दृढ़ नहीं रह पाते। कभी-कभी तो वे अपना वेश भी श्रद्धा के अभाव में त्याग कर संसार में लिप्त हो जाते हैं, कभी लोक-लज्जा के कारण वेश नहीं त्याग पाते तो वचन से धर्म के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए उसकी निरर्थकता साबित करने लगते हैं और कभी-कभी इन दोनों पर रोक लगा लेते हैं तो मन ही मन अपने व्रतों के ग्रहण कर लेने पर और संयम के अपना लेने पर पछताते हुए धुलते रहते हैं। पर आप यह न सोचें कि इस युग में सभी व्यक्ति या साधु ऐसे ही होते हैं। 'बहु रतानि, वमुन्धरा' इस पृथ्वी पर विरले महापुरुष और

सन्त आज भी ऐसे हैं जोकि न तो धर्म पर सन्देह करते हैं और न ही अपनी साधना में शिथिलता लाते हुए मन, वचन एवं कर्म से दृढ़तापूर्वक संवर के मार्ग पर बढ़ते चले जाते हैं ।

व्यवहार सूत्र में इसी विषय को लेकर कहा गया है—

चत्वारि पुरिसजाया

रुवेणामं एगे जहइ णो धम्मं ।

धम्मेषामं एगे जहइ णो रुवं ।

एगे रुवे वि जहइ धम्मं वि ।

एगे णो रुवं जहइ णो धम्मं ।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(१) कुछ व्यक्ति वेश छोड़ देते हैं, किन्तु धर्म नहीं छोड़ते ।

(२) कुछ धर्म छोड़ देते हैं, किन्तु वेश नहीं छोड़ते ।

(३) कुछ वेश भी छोड़ देते हैं और धर्म भी ।

(४) कुछ ऐसे भी होते हैं जो न वेश छोड़ते हैं और न धर्म ।

इन चार प्रकार के व्यक्तियों में से जघन्य कोटि के व्यक्ति वे होते हैं जो वेश और धर्म दोनों छोड़ देते हैं या वेश न छोड़ने पर भी धर्म छोड़ देते हैं । धर्म छोड़ देने पर वेश का होना न होना बराबर है, बल्कि वेश का रखना अन्य भोले लोगों के लिए और भी खराब है । भोले व्यक्ति वेशधारी अधर्मात्मा पुरुषों की बातों में आकर गुमराह हो सकते हैं और कुमार्गगामी बन सकते हैं ।

मध्यम पुरुष वे हैं जो वेश छोड़ने पर भी कम से कम धर्म को नहीं छोड़ते । यद्यपि ऐसे व्यक्ति भी सराहनीय नहीं हैं क्योंकि वेश एवं धार्मिक उपकरण भी धर्म के सहायक होते हैं तथा मन को दृढ़ और मजबूत बनाते हैं । धार्मिक व्यक्ति अगर सामायिक के उपकरण लेकर धर्म-स्थान की ओर जाता है या वह साधु के वेश में होता है तो उसका मन अधिक पवित्र एवं उच्च भावनाओं से भरा रहता है तथा अन्य व्यक्तियों पर भी उसका सुन्दर प्रभाव पड़ता है ।

जिस प्रकार सैनिक अपने अनुरूप वेश में और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर लड़ाई के मैदान में जाए तो उसका मन अपने आप में अधिक साहस और दृढ़ता का अनुभव करता है । और इसके विपरीत अगर दूल्हे के वेश में साफा और कलंगी लगाकर मैदान की ओर चले तो न तो वह स्वयं अपने मन को सन्तुलित रख सकता है और न ही देखने वाले उसे सैनिक समझकर उसकी सराहना कर सकते हैं । तो योद्धा का वेश उसके अनुरूप होना चाहिए और दूल्हे का वेश उसके अनुरूप ।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वेश अनुरूप न रहने पर व्यक्ति धर्मात्मा नहीं बना रह सकता। धर्म तो वेश से परे और आत्मा का गुण है वह चाहे किसी भी वेश के पुरुष में क्यों न हो, पर इतना अवश्य है कि पवित्र भावनाओं के अनुसार वेश भी सीधा-साधा पवित्र हो तो अपने आपको तथा औरों को भी अच्छा लगता है।

अब आते हैं उत्तम श्रेणी के पुरुष। जो कि न कभी अपना धर्म छोड़ते हैं और न वेश ही। धर्म के समान ही वे वेश को भी महत्व देते हैं। परिणाम-स्वरूप बिना किसी हिचकिचाहट और बिना लोकापवाद के भय के ऐसे व्यक्ति एकनिष्ठ एवं पूर्ण श्रद्धा सहित अपने आत्म-कल्याण के मार्ग पर अडिग कदमों से बढ़ते चले जाते हैं और अन्त में अपने उच्चतम उद्देश्य को हासिल कर लेते हैं।

श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी

बन्धुओं, सबसे बड़ी बात तो यह है कि साधक अगर अपने जीवन में किसी प्रकार की सिद्धि हासिल करना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे श्रद्धावान् होना चाहिए। श्रद्धा के अभाव से कभी भी मन में दृढ़ता, साहम और संकल्प शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

बड़े से बड़ा विद्वान् भी अगर मन में पूर्ण श्रद्धा नहीं रखता तो उसकी विद्वत्ता का कोई मूल्य नहीं है। भले ही वह अपने सैकड़ों शिष्यों को शास्त्र एवं धर्मग्रन्थ पढ़ाकर परीक्षाओं में उत्तीर्ण करा देता है यानी अपने जीवन का अधिकांश समय वह शास्त्रों को पढ़ाने में व्यतीत करता है, किन्तु उनके पाठन से स्वयं कोई लाभ नहीं उठा पाता क्योंकि स्वयं उसके मन में सच्ची श्रद्धा नहीं होती और इसीलिए दिन-रात धर्मग्रन्थ या आध्यात्मिक शास्त्र औरों को पढ़ाकर भी स्वयं कोरा रह जाता है। उसके हृदय में आध्यात्म-रस का निर्झर नहीं बह पाता।

आत्मानन्द की अनुभूति

मन्नाट अकबर तानसेन के संगीत और वाद्य के बड़े प्रशंसक थे। और इसीलिए तानसेन को अकबर के दरबार में बड़ा सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

एक दिन अकबर ने तानसेन का मनोमुग्धकारी गाना सुनने के पश्चात् अचानक ही कहा—“तानसेन ! तुम अत्यन्त सुन्दर गाते हो, पर मैं सोचता हूँ कि तुमने जिस गुरु के पास संगीत का इतना सुन्दर शिक्षण प्राप्त किया है, तुम्हारे वह गुरु कितना अच्छा गाने होंगे ? अगर वे जीवित होते तो मैं उनका संगीत अवश्य सुनता।”

तानसेन ने उत्तर दिया—“महाराज ! वे तो अभी जीवित ही हैं।”

यह सुनकर सम्राट चौंक पड़े और आग्रहपूर्वक बोले—“तब तो उन्हें एक दिन दरबार में लाओ। मैं अवश्य ही उनके संगीत का रसास्वादन करूँगा।”

सम्राट की बात सुनकर तानसेन ने धीरे से कहा—“हुजूर ! वे दरबार में कभी नहीं आ सकते।”

“ऐसा क्यों ?”—अकबर ने बहुत चकित होकर पूछा।

“इसलिए कि वे केवल अपने आनन्द के लिए और अपनी इच्छा से गाते हैं। वे सदा एकान्त में ही गाते हैं, यहाँ तक कि अगर कोई संगीत-प्रेमी उनके गाने को सुनने के लिए पहुँच जाता है तो वे गाना बन्द कर देते हैं। किन्तु अगर आपकी तीव्र इच्छा हो तो हम आड़ में छिपकर दूर से ही उनके संगीत का आनन्द उठाएँगे।”

अकबर तानसेन के गुरु का संगीत छिपकर सुनने के लिए भी तैयार हो गया। अतः एक दिन अर्धरात्रि के समय दोनों शहर से दूर निर्जन स्थान पर जहाँ तानसेन के गुरु रहते थे, वहाँ पहुँच गये।

उस समय वृद्ध संगीतकार मस्त होकर पूर्ण तन्मयता से गा रहे थे। उन्हें दीन-दुनिया की कोई सुधि नहीं थी। अपने पूर्व विचारानुसार बादशाह अकबर और तानसेन दोनों ही गुरु की कुटिया के बाहर खड़े होकर चुपचाप आत्मानन्द के लिए ही गाने वाले संगीतकार की मधुर स्वर-लहरी का रसास्वादन करने लगे।

गाना समाप्त हुआ और दोनों उसी प्रकार निःशब्द लौट पड़े। बादशाह अकबर तानसेन के गुरु के संगीत को सुनकर इतना चमत्कृत और आनन्दित हुआ कि उसकी आँखों से हर्ष के आँसू निकल पड़े। मार्ग में उन्होंने कहा—“तानसेन ! अब तक तो मैं तुम्हारी संगीत-विद्या पर ही मुग्ध था, किन्तु आज तुम्हारे गुरु का संगीत सुनने के पश्चात् तो ऐसा लगता है कि तुम्हारी विद्या पूर्णतया नीरस है। ऐसा क्यों ? अभी-अभी संगीत-विद्या का जो रस और आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है, उसमें और तुम्हारे द्वारा गाये जाने वाले संगीत में इतना अन्तर क्यों है ? आखिर तो तुमने इन्हीं के पास शिक्षण प्राप्त किया है।”

तानसेन ने तनिक भी संकूचित न होते हुए उत्तर दिया—“हुजूर ! मेरे गुरु जब गाते हैं तब उनका मन स्वयं आनन्द से भरा रहता है। वे अपनी आत्मा की पुकार पर गाते हैं और स्वयं ही आनन्द का अनुभव करते हैं। किन्तु मैं आपके और अन्य व्यक्तियों के कहने से गाता हूँ तथा मुझे तब आनन्द होता है, जबकि

चारों ओर से मेरी प्रशंसा होती है तथा आप मुझे इनाम और भेंट के तौर पर बहुत धन प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में मेरे संगीत में यश-प्राप्ति, सराहना एवं अर्थ-उपार्जन की आशा का विष घुला रहता है।”

अकबर अपने प्रिय संगीतकार तानसेन की स्पष्ट उक्ति को सुनकर चकित रह गया, पर उसकी समझ में आ गया कि किसी भी क्रिया का सच्चा फल तभी हासिल होता है जबकि वह केवल अपने आनन्द एवं सन्तोष के लिए की जाती है तथा उसका उद्देश्य फल की आकांक्षा से रहित, पवित्र एवं दृढ़ संकल्प-युक्त होता है।

बन्धुओ, आपकी समझ में भी इस उदाहरण का अर्थ आ गया होगा। वह यही है कि हमारी शुभ क्रियाएँ एवं त्याग-तपस्या भी तभी सच्चा फल एवं सिद्धियाँ प्राप्त करा सकती हैं जबकि हम उनके फल की आकांक्षा, दिखावे की भावना तथा यश-प्राप्ति की कामना का त्याग कर दें तथा उन्हें पूर्ण आत्म-विश्वास एवं दृढ़ श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते चले जायें। साथ ही मार्ग में आने वाली किसी भी बाधा से या किसी भी प्रकार के परिषह से विचलित होकर उन्हें निरर्थक न मानने लग जायें। अगर ऐसा हुआ तो हमारी वही स्थिति होगी—

न खुदा ही मिला न विसाले-सनम।

न इधर के रहे न उधर के रहे ॥

इस शेर के अनुसार वह कहावत भी चरितार्थ होती है—‘दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम।’

वस्तुतः जो साधक अपनी साधना के फल में सन्देह करने लगता है तथा उसके लिए मन ही मन पश्चात्ताप करता रहता है, वह न तो अपनी साधना के मधुर फल को पा सकता है और न ही लोकापवाद, निन्दा एवं तिरस्कार के भय से सांसारिक सुखों का उपभोग कर पाता है। दूसरे शब्दों में उसका यह लोक तो बिगड़ता ही है, साथ ही परलोक भी नष्ट हो जाता है।

ये सब अश्रद्धा के ही विषम परिणाम होते हैं। श्रद्धा के अभाव में साधक का मन प्रतिपल पारे के समान अस्थिर और चंचल बना रहता है। कभी वह एक मार्ग की ओर झुकता है तथा कभी दूसरी ओर। इसके फलस्वरूप न तो वह अपने विचारों में ही स्थिरता ला पाता है और न क्रियाओं में ही। इसीलिए अश्रद्धा को घोर पाप बताते हुए कहा गया है—

अश्रद्धा परमं पापं, श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी।

अज्ञाति पापं श्रद्धावान्, सर्वाजीर्णमिव त्वचम् ॥

अर्थात्—अश्रद्धा महापाप है और श्रद्धा पापनाशक। इसलिए विवेकी और श्रद्धाशील प्राणी पापों का इस प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी कंचुली को छोड़कर बिना पीछे मुड़कर उसकी ओर देखता हुआ सरपट वहाँ से भाग जाता है।

वास्तव में ही अश्रद्धा घोर पाप है। क्योंकि संसारी जीव जो अनन्त काल से नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहा है वह केवलमात्र अश्रद्धा के कारण ही। उसके संसार-भ्रमण में मूल कारण अश्रद्धा या श्रद्धाविहीनता ही है। हमारे जैनशास्त्र पुनः-पुनः यही कहते हैं कि अगर जीव में सम्यक्श्रद्धा आ जाय तो वह पापों से बचता हुआ निश्चय ही अपने भव-भ्रमण को कम करता चला जाता है क्योंकि सच्ची और दृढ़ श्रद्धा के समीप पाप नहीं फटक सकते।

खेद की बात तो यह है कि आज बड़े-बड़े शास्त्रों के ज्ञाता और अपने आपको आस्तिक कहने वाले भी नास्तिकों के समान ही विचार और आचरण करते हैं। इसीलिए वे न तो अपने आपको पाते हैं और न जगत् को ही पा पाते हैं। श्रद्धा का अभाव उनके जीवन को अशांति, भीरुता और संकीर्णता से भर देता है तथा ज्ञान को निष्फल बना देता है। ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति श्रद्धा में निहित होती है। अतः श्रद्धावान् ज्ञानी न होने पर भी संसार-सागर से पार उतर जाता है और ज्ञानी श्रद्धा के अभाव में अपनी पीठ पर ज्ञान का योजन लादे हुए भी उसमें गोते लगाता रहता है।

श्रद्धा अंधी नहीं होती

प्रायः कुछ लोग कहा करते हैं कि श्रद्धा में अंधता होती है और अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार बिना सोचे-समझे या देखे-भाले चल पड़ता है तथा कदम-कदम पर ठोकरें खाता है, उन्मी प्रकार श्रद्धा से अन्धा हुआ व्यक्ति भी संसार में ठोकरें खाता रहता है।

ऐसा कहने वाले नासमझ व्यक्तियों को समझना चाहिए कि उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या एवं असंगत है। क्योंकि सम्यक्श्रद्धा का पूर्ण सहायक विवेक होता है। श्रद्धाशील व्यक्ति अपने विवेक के द्वारा पाप-मार्ग और पुण्य-मार्ग के अन्तर को समझता है तथा भली-भाँति जान लेता है कि उसे किस मार्ग पर चलना है? अपने विवेकरूपी नेत्रों से वह सबर और निर्जरा के मार्ग को देखता है तथा आश्रय-मार्ग का परित्याग करके उन पर एकनिष्ठ होकर बढ़ता है। इसलिए विवेकयुक्त श्रद्धालु कभी ठोकरें नहीं खाता और किसी भी कदम पर शंका या अविश्वास को न आने देता हुआ अपने मानव-जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

बन्धुओ, आप प्रतिक्रमण करते समय दर्शन के विषय में एक गाथा बोला करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि कितने व्यक्ति उसका उच्चारण भी स्पष्ट न करते हुए तोता-रटन्त के समान उसे कह जाते हैं, और कितने व्यक्ति उसके अर्थ को भली-भाँति समझकर उससे जीवन में लाभ उठाते हैं? आज मैं वही गाथा आपके सामने रख रहा हूँ। जो इस प्रकार है—

परमत्थ-संथवो वा सुविट्ठ परमत्थ-सेवणा वाचि ।

वावस कुदंसण-वज्जणा य सम्मत्त सदहणा ॥

इस आर्या छंद में श्रद्धा को मजबूत बनाने वाली दो प्रकार की औषधियाँ बताई गई हैं और उनका पूरी तरह असर हो सके इसके लिए दो प्रकार के परहेज भी कहे गये हैं।

यद्यपि आत्मा कभी भरती नहीं है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से शरीर प्राप्त करने को जन्म और उस शरीर के नष्ट हो जाने को हम मृत्यु कहते हैं। तो आत्मा के साथ कर्मों के कारण लगे हुए इस जन्म-मरण के रोग को हटाने के लिए भगवान ने जो दो प्रकार की औषधियाँ बताई हैं उनमें से पहली है— 'परमार्थ का परिचय करना।'

'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया है—

'तत्त्वार्थं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।'

अर्थात्—जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि रखना सम्यक् दर्शन कहलाता है।

तो परमार्थ का परिचय करना, इन नौ तत्त्वों की पूर्णतया जानकारी करना होता है। जो आत्मार्थी इन्हें जानने में रुचि न रखे वह जीव-अजीव के, पाप-पुण्य के, आश्रव एवं संवर के तथा बन्ध और मोक्ष के अन्तर को कैसे जान सकता है? और फिर यह निश्चय भी कैसे कर सकता है कि मुझे किनसे बचना है और किन्हें ग्रहण करना है? क्योंकि इन्हीं तत्त्वों में ऐसे तत्त्व भी हैं जो आत्मा को कुगतियों में ले जाते हुए संसार-परिभ्रमण कराते रहते हैं, और ऐसे तत्त्व भी हैं जो आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करके अक्षय सुख एवं आनन्द की प्राप्ति कराते हैं यानी जन्म-मरण की भयंकर बीमारी से सदा के लिए छुटकारा दिला देते हैं। इसीलिए गाथा में नौ तत्त्वों की जानकारी को प्रथम औषधि बताया गया है।

अब आती है दूसरी औषधि। वह है—'परमार्थ के ज्ञाताओं की संगति करना।' अनेक व्यक्ति जो बुद्धि की मन्दता के कारण तत्त्वों की जानकारी

स्वयं भली-भांति नहीं कर सकते तो ब्रह्माना बना लेते हैं—“महाराज ! हमारी बुद्धि काम नहीं करती और इनके विषय में हम समझ न पाने के कारण कुछ जान नहीं सकते ।”

अरे भाई ! अगर तुम्हारी बुद्धि काम नहीं करती और तुम्हारे ज्ञान के नेत्र तत्त्वों की गंभीरता को नहीं देख पाते तो क्या तुम औरों के ज्ञान का लाभ नहीं उठा सकते ? क्या तुम परमार्थ के ज्ञाताओं के निर्देशन पर नहीं चल सकते ?

‘सूत्रकृतांग’ में कहा गया है—

‘अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु !’

अर्थात्—अरे, नहीं देखने वालो ! तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करने चलो ।

कितनी सुन्दर और सरल प्रेरणा दी गई तथा कहा गया है कि अगर तुम्हें स्वयं मार्ग नहीं सूझता तो सन्मार्ग के ज्ञाता महापुरुषों एवं गुरुओं के मुझाये हुए मार्ग पर तो चल सकते हो ? वही करो । पर उसके लिए भी एक शर्त है और वह है पूर्ण विनय-भाव रखना । कोई भी जिज्ञामु तभी गुरु से कुछ ग्रहण कर सकता है, जबकि अपनी उच्छ्रंखलता एवं हठ का त्याग करके उन पर पूर्ण विश्वास करता हुआ सन्मार्ग की जानकारी करे ।

विनय भी श्रद्धा का प्रतीक है अतः प्रसंगवश में विनय-भाव पर शास्त्रीय उल्लेख देता हूँ । शास्त्रों में कहा गया है—

“अउम्बिहा खलु विणयसमाही पणत्ता, ‘तं जहा--(१) अणुसासिज्जंतो सुस्सुसट्ठ, (२) सम्मं संपडिषज्जट्ठ, (३) वेयमारहट्ठ, (४) न य भवइ अत्तसंपगगहिण् ।”

अर्थात्—विनय समाधि चार प्रकार की है । यथा—(१) गुरु द्वारा शासित होकर, गुरु के सुभाषित वचनों को मुनने की इच्छा करे । (२) गुरु के वचनों को सम्यक् प्रकार से समझे-बुझे । (३) श्रुतज्ञान की पूर्णतया आराधना करे । (४) गर्व से आत्म-प्रशंसा न करे ।

इस प्रकार जो मुमुक्षु स्वयं तीव्र बुद्धि और ज्ञान न रखता हुआ गुरु की संगति एवं उनके उपदेशों से भी परमार्थ की जानकारी करता है । वह निरुच्य ही जन्म-मरण की बीमारी को मिटाने वाली दूसरी औषधि का सेवन करता है तथा उससे लाभ उठा लेता है ।

बन्धुओ, ये दो तो औषधियाँ हुई जिन्हें आत्मार्थी को सेवन करना चाहिए साथ ही दो प्रकार के परहेज भी रखने चाहिए जिन्हें मैं आपको बताने जा रहा हूँ। क्योंकि परहेज के अभाव में कभी दवा कारगर नहीं हो पाती। मराठी में कहा भी है—

“जेणे हरीमात्रा ध्यावी, तेणे पथ्य साम्भालावी।”

कमजोर को रसायन लेना बहुत उत्तम है, क्योंकि वह ताकत पहुँचाती है पर वह अपना काम तभी करेगी, जबकि पथ्य का ध्यान रखा जाएगा।

संस्कृत में भी एक श्लोक है—

औषधेन विना व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते ।

न तु प्रथ्यविहीनस्य भेषजानां शर्तरेपि ॥

कहते हैं कि—विना दवा लिए भी परहेज से ही बीमारी हट सकती है, किन्तु अगर कोई परहेज न करते हुए सैकड़ों दवाइयों भी लेवे तो कोई फायदा नहीं होता। इसलिए दवा के साथ पथ्य बराबर लेना या परहेज रखना अनिवार्य है।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि श्रद्धा को मजबूत करने के लिए प्रतिक्रमण के दर्शन-पाठ में दो औषधियाँ बताई गई हैं। जिनमें से पहली है—परमार्थ यानी नौ तत्त्वों की जानकारी, उन पर चिन्तन-मनन तथा उसके पश्चात् विवेक की सहायता से पुण्य, संवर एवं निर्जरा आदि के सुमार्ग पर चलते हुए मुक्ति प्राप्त करना। और दूसरी औषधि है—स्वयं में तत्त्वों की जानकारी या उनका ज्ञान प्राप्त करने लायक बुद्धि न हो तो जो इनके ज्ञाता हैं उन्हें गुरु मानकर उनके उपदेशों से तत्त्वों को समझना तथा उनकी संगति करके उनके जीवन से शिक्षा लेकर उसे अपने जीवन में उतारना।

अब इन दो औषधियों के साथ दो प्रकार के जो परहेज बताये गये हैं, उन्हें आपके सामने रखता हूँ। परहेजों की आवश्यकता या अनिवार्यता के विषय में तो अभी मैं संस्कृत के एक श्लोक के द्वारा बता चुका हूँ अतः अब परहेज आपके सामने रखना है।

श्रद्धा को हृढ़ बनाने वाली औषधियों के प्रयोग के साथ जिन दो परहेजों को रखना है, उनमें से पहला है—जिन व्यक्तियों ने सम्यक्त्व को पाकर भी फिर उसका वमन कर दिया है, अर्थात् उसका त्याग कर दिया है, उनकी कदापि संगति नहीं करना तथा दूसरा परहेज है—जिनके मानस में श्रद्धा का अभाव है या कुश्रद्धा है, उनके समीप भी नहीं फटकना।

साधक के लिए ये दोनों परहेज आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हैं। क्योंकि अश्रद्धालु व्यक्ति स्वयं को तो पतन की ओर ले जाता ही है, साथ ही अपनी संगति में रहने वाले व्यक्ति को भी कुमार्गगामी बना देता है। फल यह होता है कि उन व्यक्तियों का जीवन कुसंग के कारण निरर्थक चला जाता है। और तो और बड़े-बड़े साधक तथा संयमी भी कुसंगति के कारण विचलित होकर अपनी साधना को मिट्टी में मिला देते हैं।

कुसंगति का परिणाम

किसी शहर के राजा ने सुना कि हमारे शहर से कुछ दूर वन में एक महात्मा रहते हैं जो केवल कन्द-मूल खाकर और निरंजर का पानी ग्रहण करके ही सतत अपनी साधना में लगे रहते हैं। कभी भी वे शहर में नहीं आते और न ही किसी को अपने पास दर्शनार्थ आने देते हैं।

राजा ने जब उन संत की इतनी प्रशंसा सुनी तो उनके दर्शन करने का विचार किया और अपने मन्त्री को इसी उद्देश्य से संत के पास भेजा। मन्त्री ने जाकर संत से राजा की इच्छा जाहिर की और उन्हें अपने पास आने की आज्ञा देने के लिए निवेदन किया।

संत ने तो यह सुनकर वह स्थान ही छोड़कर अन्यत्र जाने का उपक्रम किया, किन्तु मन्त्री के बहुत अनुनय-विनय करने पर अपना विचार स्थगित करके राजा को एक बार आने की अनुमति दी।

इस पर राजा एक दिन अपने परिवार सहित महात्माजी के दर्शनार्थ आए। संत की सौम्य-मुद्रा एवं त्याग-तपस्या से प्रभावित होकर उन्होंने संत से प्रार्थना की कि वे कुछ दिन शहर में पधारें और राजमहल के बगीचे में ही ठहरकर स्वयं अपनी साधना करते हुए औरों को भी लाभान्वित करें।

पहले तो यह बात सुनकर संत मडक गये और क्रोधित हुए, किन्तु राजा के बार-बार कहने पर कुछ दिनों के लिए शहर में आने को अपनी अनिच्छा के बावजूद भी तैयार हुए।

राजा उसी समय उन्हें सादर ले गये और अपने महल के बगीचे में स्थित एक सुन्दर भवन में उन्हें ठहराया। भवन बड़ा विशाल एवं ऐश्वर्य के सम्पूर्ण साधनों से परिपूर्ण था। अनेक दास एवं सुन्दर दासियाँ उनकी सेवा में नियुक्त की गयीं तथा उनके भोजन के लिए राजसी व्यञ्जनों का प्रबन्ध कर दिया गया।

इसके बाद राजा कुछ राज्य कार्यों में ऐसे व्यस्त हुए कि संत के पास कई दिनों तक पहुँच ही नहीं पाये। पर एक दिन जब वे पुनः उनके पास पहुँचे तो

देखा कि तपस्या छोड़ देने के कारण और पौष्टिक पदार्थों के सेवन से उनका शरीर खूब पुष्ट हो गया है और वे बड़े आनन्द से मसनद के सहारे लेटे हुए सुन्दर ललनाओं के नृत्य-संगीत का आस्वादन कर रहे हैं। उनके चित्त में कोई विक्षोभ नहीं है तथा वे साधना या तपस्या करते हैं, इसका भी कोई लक्षण नहीं है। साथ ही संत ने राजा से वह स्थान छोड़कर पुनः अपने निर्जन वन में चले जाने का विचार भी प्रकट नहीं किया।

यह सब देखकर राजा ने चुपके से मन्त्री से कहा—

“अमात्य ! संत की तो कायापलट हो गई। लगता है कि ये अपनी सम्पूर्ण साधना एवं त्याग-तपस्या को छोड़ बैठे हैं। ऐसा क्यों हुआ ?”

मन्त्री ने सविनय उत्तर दिया—“महाराज ! यह सब संगति का परिणाम है। मनोहर भवन, भोग-विलास के साधन, सुस्वादु व्यंजन एवं इन सुन्दर नर्तकियों एवं दास-दासियों का संग ही इन्हें निवृत्ति-मार्ग से हटाकर प्रवृत्ति-मार्ग पर ले आया है।”

वस्तुतः संगति का असर हुए बिना नहीं रहता और महान् त्यागी तथा तपस्वी भी अगर दुर्जनों की संगति में रहने लग जायें तो बिरले महापुरुषों को छोड़कर अधिकांश तो प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते।

इसीलिए कहा जाता है—

कामिनां कामिनीनां च संगत् कामी भवेत् पुमान् ।
 देहान्तरे ततः क्रोधी, लोभी, मोही च जायते ॥
 कामक्रोधादिसंसर्गात् अशुद्धं जायते मनः ।
 अशुद्धे मनसि तच्च ब्रह्मज्ञानं विनश्यति ॥

कहते हैं कि—उत्तम पुरुष भी कामी व्यक्तियों और स्त्रियों की संगति से जन्मान्तर में क्रोधी, लोभी और मोही हो जाता है। साथ ही काम, क्रोध एवं मोह आदि विकारों से मन अशुद्ध होता है और अशुद्ध मन हो जाने पर साधारण हानि की तो बात ही क्या है, बड़ी साधना से प्राप्त हुआ ब्रह्मज्ञान भी सर्वथा नष्ट हो जाता है।

इसीलिए विवेकी पुरुष श्रद्धाहीन, नास्तिक या विकारग्रस्त व्यक्तियों की संगति का त्याग करते हैं तथा ज्ञानी, वैरागी एवं तपस्वियों की संगति में रह कर आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने मन को प्रेरणा देते हुए सदा यही प्रतिबोध देते हैं—

तत्त्वं चिन्तय सततं चित्ते,
परिहर चिन्तां नश्वरचित्ते ।
क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका,
भवति भवार्णव तरणे नौका ॥

भव्य पुरुष कहते हैं—“रे मन ! तू सदा तत्त्वों का चिन्तन कर; चंचल धन की चिन्ता छोड़ । यह संसार अल्पकालीन है और इसमें सज्जनों की संगति ही भवसागर से पार उतारने वाली नौका के सदृश है ।”

श्लोक से स्पष्ट है कि प्रत्येक साधु और साधक को सदा सम्यक्श्रद्धायुक्त ज्ञानी पुरुषों की संगति करनी चाहिए तथा मिथ्यात्वी एवं अश्रद्धालु पुरुषों की संगति को कुपथ्य के समान मानकर उससे परहेज करना चाहिए, अर्थात् उससे बचना चाहिए । क्योंकि कुसंगति से उत्तम पुरुष भी निकृष्ट बन जाता है एवं श्रद्धालु साधक मिथ्यात्वी में परिवर्तित हो सकता है ।

कुसंगति का परिणाम बताते हुए संत तुकारामजी कहते हैं—

“बुधाचिया अंगी मीठाचा शितोडा, नाशतो रोकडा केला असे, कस्तुरीचे पोते हिंगाने नासले, मोल ते तुलं अर्धक्षणे ।”

अर्थात्—सेर भर दूध में अगर दो टुकड़े नमक के डाल दिये जाँय तो वे पूरे दूध का सत्यानाश कर देंगे और कस्तूरी के पोते (बोरी) के पास हींग रखदी जाय तो कस्तूरी की खुशबू नष्ट हो जाएगी ।

ये बातें गलत नहीं हैं । आप किराने के व्यापारियों से जानकारी कर सकते हैं कि जो कुछ मैंने कहा है, वह यथार्थ है । उन व्यापारियों के मुँह से तो आप यह भी जान सकते हैं कि नारियल के थैले के पास अगर चावल का थैला रख दिया जाय तो सारे नारियल खराब हो जाएँगे । भले ही नारियल के ऊपर छाल होती है और उसके नीचे का हिस्सा भी इतना कड़ा होता है कि उसे बिना पत्थर पर पटके या पत्थर से फोड़े-टूटता नहीं ।

ठीक यही हाल साधक का होता है । भले ही वह वर्षों तक साधना करके अपने मन और इन्द्रियों को अत्यधिक मजबूत बनाले तथा तपस्या के द्वारा शरीर को कठोर भी कर ले, किन्तु अगर कुछ समय दुर्जनों, नास्तिकों एवं भोगासि-लाषियों की संगति में रह जाये तो बहुत संभव है कि वह अपने साधना-मार्ग से च्युत हो जाएगा । इतिहास उठाने पर हमें अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा और संत भी कुसंग के कारण अपनी वर्षों की साधना

को छोड़ बैठे थे । आज भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है । बिरले महापुरुष ही अपने आपको कुसंग के प्रभाव से पूर्णतया निर्लिप्त रख पाते हैं ।

इसलिए बन्धुओ, जैसा कि भगवान् ने कहा है—न तो साधु और न ही श्रावक, कभी परलोक पर अविश्वास करे और न अपनी साधना या तपस्या के लिए पश्चात्ताप करते हुए यह विचार करे कि—“मैं छला गया हूँ और त्याग-तपस्या आदि किसी भी कार्य से कभी सिद्धि मिलने वाली नहीं है ।”

ऐसा विचार न करने वाला तथा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाला साधक ही पापों से बचता हुआ संवर के कल्याणकारी मार्ग पर बढ़ सकता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है ।

○

आध्यात्मिक दशहरा मनाओ !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज विजयादशमी है। इस नाम का कारण यह है कि आज के दिन मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने महाबली रावण को मारकर उस पर विजय प्राप्त की थी। इस दिन का भारत में बड़ा भारी महत्त्व माना जाता है तथा देश के कोने-कोने में आज का यानी दशहरे का दिन रावण के पुतले को जलाकर बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है। लोग रावण का विशालकाय पुतला बनाते हैं तथा नकली राम और लक्ष्मण बनाकर उनके द्वारा रावण के पुतले को नष्ट करते हैं और साबित करते हैं कि इसी प्रकार दीर्घकाल पूर्व भी राम ने रावण पर विजय प्राप्त की थी।

आज के दिन को दशहरा और विजयादशमी दोनों नामों से पुकारा जाता है। अर्थ भी दोनों नामों का एकसा ही ध्वनित होता है। दशहरा नामकरण यह बताता है कि इस दिन दस मस्तकों वाले रावण को मारा गया था और विजयादशमी भी यही कहती है कि उस रावण पर विजय प्राप्त की गई थी।

वैसे विजयादशमी का अगर हम आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से अर्थ करें तो यह महसूस होता है कि आज के दिन धर्म ने अधर्म पर, न्याय ने अन्याय पर, शील ने कुशील पर एवं स्वामिमान ने अभिमान पर विजय पाई थी। ध्यान रखने की बात यही है कि दशहरा मनाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आज का दिन केवल यही मानकर नहीं मनाना चाहिए कि इस दिन एक व्यक्ति ने दूसरे को मारा था और जीत हासिल की थी, अपितु यह विचार कर मनाना चाहिए कि इस दिन पुण्य ने पाप पर विजय पाई थी।

इस विषय पर परमज्ञानी और आगमों के मर्म तक पहुंच जाने वाले पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी ने अहमदनगर के समीप वाम्बोरी क्षेत्र में जब

१९३८ में चातुर्मास किया था, तब एक कविता बनाई थी। उसी के भाव में आज आपके सामने रखूंगा और आप स्वयं उन्हें समझकर महाराज श्री की विद्वत्ता और उनकी आगमज्ञान की गंभीरता के कायल हो उठेंगे।

अभी तो मैं पूज्यश्री अमीरुषि जी महाराज ने उनकी महत्ता बताते हुए जो 'तिलोकाष्टक' लिखा है, उसका एक पद्य आपके सामने रखता हूँ। महापुरुषों के जो जीवन-चरित्र लिखे जाते हैं या पद्यों में उनकी गुण-गारिमा बताई जाती है वह हृदय के गद्गद होने पर गद्य अथवा पद्य में स्वयं निर्धारित होती चली जाती है, क्योंकि वह बनावटी नहीं होती। श्रद्धा और भक्ति के आवेग में लिखने वाला व्यक्ति शब्दों के सुन्दर चयन की परवाह नहीं करता और रसालंकारों की ओर भी ध्यान नहीं देता। वह केवल अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है, भाषा चाहे जटिल हो या सरल।

श्री अमीरुषि जी महाराज ने भी बड़े भाव-भीने शब्दों में जैनागम के अनुरागी और धर्म को प्रकाशित करने वाले स्वर्गस्थ पूज्य श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज के संबंध में लिखा है—

व्हे गयो जगत जाल पातकर्ते दूर, शूर,
धर्म दया मूलभेद रसनातें के गयो।
के गयो अनेक मत आगम के भेद भार,
अमृत जिन वेन चंद्र आननतें चे गयो ॥
चे गयो अमर धाम आतम आराम काम,
घने भव्य जीवन को ज्ञानदान दे गयो।
दे गयो सुमत चित्त अमृत अखंड सो,
'तिलोकरिख' स्वामी गुणनामी एक व्हे गयो ॥

जगत को आगम का आगम-ज्ञान दान दे जाने वाले उस भव्य महा-पुरुष की कितनी सहज, सत्य, सुन्दर एवं भाव-विभोर कर देने वाली स्तुति कवि ने की है। और आप अभी देखेंगे कि यह स्तुति यथार्थ है, इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। महाकवि श्रद्धेय श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने राम एवं रावण की कथा को किस प्रकार आध्यात्मिक विषय में घटाया है, यह जानकर आप निश्चय ही चमत्कृत हो उठेंगे।

तो आप उत्सुक हो रहे होंगे अतः मैं श्री त्रिलोकऋषिजी महाराज की कविता के भाव आपके समक्ष रख रहा हूँ और बताने का प्रयत्न करता हूँ कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से हम किसे राम कह सकते हैं? किसे रावण? और किस प्रकार राम की विजय को धर्म की अधर्म पर विजय कहा जा सकता है?

महाराजश्री का कथन है कि यह संसार एक विशालकाय या असीम सागर है, जिसमें कर्म-रूपी अथाह जल भरा हुआ है। आप शंका करेंगे कि क्या एक व्यक्ति के इतने कर्म होते हैं ? नहीं, आशय यह है कि संसार में अनंत जीव हैं और सभी के न्यूनाधिक कर्म हैं, अतः सभी के कर्म मिलकर संसाररूपी सागर बना हुआ है। इसीलिए इसे कर्मों का सागर माना गया है।

यह तो सागर के विषय में कहा गया। पर आप और हम सभी जानते हैं कि सागर में कहीं-कहीं द्वीप होते हैं, उन द्वीपों पर प्राणी रहते हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसमें जल की भयंकर तरंगों के द्वारा भँवर पड़ जाते हैं, जिनमें फँस जाने पर प्राणी का पुनः निकलना असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य हो जाता है। संसार-सागर में यह सब कैसे है, इसके विषय में भी कवि ने कहा है—

भ्रम-रूपी भँवर

संसार-रूपी समुद्र में कर्मरूपी जल है और स्थान-स्थान पर उस जल में मिथ्यात्व, अविश्वास या शंकारूपी भँवर पड़ते हैं। कल मैंने आपको बताया था कि जहाँ साधक के हृदय में सन्देह का अंकुर पैदा हुआ कि उसकी साधना नष्ट हो जाती है और वह पतन के मार्ग पर गिरता चला जाता है। आज यही बात यहाँ घटाई जा रही है कि संसार-सागर में कर्मरूपी जल तो होता ही है, और साधक अपनी साधना के द्वारा कर्मों के जल को काटता हुआ उसे तैर कर पार करने का प्रयत्न करता है। किन्तु साधनारूपी तैरने की कला को जानने वाला तैराक या साधक भी अगर शंकारूपी भँवर में फँस जाता है तो उसका पुनः उबरना कठिन हो जाता है और वह भँवर में घूमता हुआ अपना इहलोक तो नष्ट करता ही है, परलोक भी गँवा बैठता है।

शंकाशील व्यक्ति कहता है—

ना कोई देखा आवता, ना कोई देखा जात।

स्वर्ग, नरक और मोक्ष की गोलमोल है बात ॥

बस, ऐसा विचार जिस साधक के हृदय में आ जाय, समझना चाहिए कि वह कर्मजल में पड़े हुए महाभयानक भ्रम-रूपी भँवर में फँस गया है और इस भँवर से निकालना आसान नहीं है। किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति कभी धर्म के प्रति या पाप-पुण्य एवं लोक-परलोक के प्रति स्वप्न में भी सन्देह नहीं करता तथा हृदयपूर्वक संवर के मार्ग पर बढ़ता है वह चाहे साधु हो या श्रावक कर्म-जल में रहकर भी उससे ऊपर कमल के समान निर्लिप्त रहता है।

कहा भी है—

जहा योम्मं जले जायं, नोव लिप्पइ वारिणा ।

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २५, गा० २७

अर्थात्—वह भोगोपभोग के साधनों से उसी प्रकार अलग रहता है, जिस प्रकार जल में जलज यानी कमल ।

निश्चय ही संसार से विरक्त रहने वाला व्यक्ति भले ही कर्म-जल में रहे पर उसमें पड़े हुए भ्रम के भँवरों में वह नहीं फँसता और धीरे-धीरे अपनी साधना के द्वारा तैरता हुआ पार हो जाता है ।

लंका नगरी और उसका राजा

आगे कहा गया है—संसार-समुद्र में मनदण्ड, वचनदण्ड एवं कायादण्ड-रूपी त्रिकूट द्वीप है, जिस पर लालचरूपी लंका नगरी बसी हुई है । आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस नगरी का राजा महामोहरूप रत्नश्रवा और रानी क्लेशरूपी कैकसी है । यह स्वाभाविक ही है क्योंकि जहाँ मोह होगा वहाँ क्लेश होना अनिवार्य है ।

इस संसार में सहज ही देखा जा सकता है कि व्यक्ति धन, मकान, जमीन एवं परिवार आदि के मोह में पड़कर नाना प्रकार के लड़ाई-झगड़े करता है और क्लेशपूर्ण वातावरण अपने चारों ओर बना लेता है । कभी वह धन के लिए अपने भाई-बन्धुओं के प्राण लेता है और कभी स्त्री के मोह में पड़कर अपना सभी कुछ गँवा बैठता है । इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं—

दारा सुत आदि मोहपाश में बँधायो मूढ,
करत ममत कूड कपट की खान है ।

अष्टादश पाप कर बाँधत करम शठ,
कालमुख जाय मन करे पछतान है ।

पद्य का अर्थ स्पष्ट और सरल है कि मूर्ख प्राणी पत्नी पुत्रादि के मोह एवं पाश में बँधकर नाना प्रकार के कपटपूर्ण कृत्य और धोखेबाजी करता हुआ अठारहों प्रकार के पापों का बन्धन करता है तथा अपने क्लेश की सामग्री जुटाता है किन्तु जब मृत्यु का समय आता है तो उसे पश्चात्ताप के अलावा और कोई उपाय दिखाई नहीं देता ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जहाँ मोह होता है वहाँ क्लेश भी रहता है । यही बात पूज्य श्री त्रिलोकऋषिजी महाराज ने कही है कि संसाररूपी सागर में जो त्रिकूट है वहाँ महामोहरूपी राजा रत्नश्रवा और उसकी क्लेशरूपी रानी

कौकसी है। दम्पति सन्तानविहीन भी नहीं है। उनके सन्तान है, जिनके विषय में आगे कहा जा रहा है।

तीन पुत्र

महामोह और बलेशरूपी दम्पति के तीन पुत्र हैं। उनमें से प्रथम है—
(१) मिथ्यामोहरूपी रावण। इसका अर्थ है—झूठे लालच में फँसना। मिथ्या-मोह वस्तुतः रावण है, क्योंकि इसके दस मस्तक और बीस भुजाएँ भी हैं। वे दस मस्तक और मुख तथा बीस भुजाएँ कौनसी हैं? इस विषय में जानने की आपको उत्सुकता होगी अतः उन्हें भी बताता हूँ।

आशा है आप दस मिथ्यात्वों के विषय में जानते होंगे। जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना, धर्म के अधर्म और अधर्म को धर्म समझना तथा धर्म के मार्ग को पाप का मार्ग और पाप के मार्ग को धर्म का मार्ग समझना आदि-आदि जो दस मिथ्यात्व हैं ये मिथ्या, मोहरूपी रावण के दस मुख हैं तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तीनों योगों को ढीला रखना तथा अयतना-पूर्वक लेना आदि-आदि बीस प्रकार के आश्रव इसकी बीस भुजाएँ होती हैं जिनके द्वारा यह पापों का संचय करता रहता है। पापकर्मों का उपाजन कपट से होता है अतः कपट-विद्या भी इसने हासिल कर रखी है।

कपट-विद्या के कारण ही रावण ने राम को ठगना चाहा था तथा स्वर्णमृग के रूप में सीता का हरण किया था, किन्तु उसका परिणाम क्या निकला? सीता को तो वह प्राप्त कर नहीं सका, उलटें अपना सर्वस्व और प्राण भी गँवाकर आत्मा को कुगति में ले गया। दूसरे शब्दों में राम को ठगने गया किन्तु स्वयं ही ठगा गया।

इसीलिए कहते हैं—

भुवनं वञ्चयमाना, वञ्चयति स्वयमेव हि ।

—उपदेश प्रसाद

अर्थात्—जगत को ठगने का प्रयत्न करने वाला कपटी पुरुष वास्तव में तो अपने आपको ही ठगता है।

(२) अब आता है मिथ्यामोह रावण के दूसरे भाई यानी महामोहरूपी रत्नश्रवा के दूसरे पुत्र सम्यक्त्वमोहनीय का नम्बर। यह पुत्र सही मार्ग पर चलता है तथा सच्चे को सच्चा और गलत को गलत ही मानता है। विभीषण ऐसा ही था। उसने सीता-हरण को अन्याय समझा था और इसीलिए नाना प्रकार से रावण को समझाया था कि—'अन्याय मत करो तथा राम की पत्नी

सीता को वापिस कर दो।' पर रावण अगर सरलता से इस बात को मान लेता तो क्यों सदा के लिए अपने माथे पर कलंक का टीका लगाकर इस संसार से जाता ? उसने भाई की बात नहीं मानी और खिन्न होकर विभीषण ने राम की शरण ली।

एक भजन में कहा भी है कि विभीषण ने राम से प्रार्थना की—

कुटुम्ब तजि शरण राम, तेरी आयो !

तजि गढ़ लंक महल औ मन्दिर नाम सुनत उठ धायो ।

इस पर फिर राम ने क्या किया ?

दीनानाथ दीन के बन्धु मधुर वचन समझायो ।

आवत ही लंकापति कीन्हो हरि हँस कंठ लगायो ॥

इस प्रकार शत्रु के भाई का भी धर्मरूपी राम ने स्वागत किया और उसे 'लंकापति' सम्बोधन सहित सहर्ष अपने हृदय से लगाकर सान्त्वना दी।

(३) महामोह का तीसरा पुत्र है मिश्रमोहनीय। यह खिन्न जाएगा उधर ही लुढ़क जाएगा। रावण से कहेगा—'तुम राजा हो, शक्ति-सम्पन्न भी हो, अतः अपने बल से अगर सीता को ले आए तो क्या हुआ ?' दूसरी ओर राम से कहेगा—'रावण ने अन्याय किया है, उसका बदला लेना ही चाहिए।'

इस प्रकार रावण के दो भाई हुए और पत्नी मन्दोदरी। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रपंच-माया-कपटी वृत्ति। अपने पति की आज्ञानुसार इसने भी सीता को बहकाने का प्रयत्न किया था, किन्तु अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सकी। महासती सीता ने इसकी तीव्र भर्त्सना करते हुए तथा अपमानित करते हुए भगा दिया।

मिथ्यामोह रावण का प्रथम पुत्र—इन्द्रजीत

रावण की पत्नी मन्दोदरी से उत्पन्न दो पुत्र थे और वे रावण को अत्यन्त प्रिय लगते थे। प्रथम का नाम था इन्द्रजीत और दूसरे का मेघवाहन। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रजीत को विषय-विकार एवं मेघवाहन को अभिमान कहा जा सकता है। मिथ्यामोह रावण समझता था कि विषय-वासनारूपी इन्द्रजीत एवं अभिमान रूपी मेघवाहन, दोनों ही मुझे अत्यन्त सुख पहुँचाने वाले हैं। किन्तु सच पूछा जाय तो इन दोनों के समान दुःखदायी इस संसार में और कुछ नहीं है।

प्रथम विषय-विकार को ही लिया जाय तो स्पष्ट समझा जा सकता है कि

यह शरीर को क्षणिक और झूठा सुख प्रदान करता है तथा आत्मा को पतन की ओर लेजाकर कर्म-बन्धनों में जकड़ देता है ।

क्रिमी ने विषय-विकार की बुराई करते हुए कहा भी है—

यह रस ऐसो है बुरो, मन को देत बिगार ।
या के पास न जात है, है जो ठीक होशियार ॥

विषय-विकारों के लिए कहा गया है कि इनकी प्रबलता मन को पापपूर्ण एवं क्लुषित बना देती है । अतः विवेकी और ममझदार व्यक्ति इनके समीप भी नहीं फटकता । लोगों का विश्वास होता है कि इन विकारों पर विजय प्राप्त करना असंभव है । पर उन्हें यह कमी नहीं भूलना चाहिए कि विकार भले ही कितने भी प्रबल और शक्तिशाली हों, आत्मा की शक्ति से बढ़कर उनकी शक्ति नहीं है । आत्मा में अनन्त शक्ति है और इसे काम में लाने पर व्यक्ति पूर्णरूप से इनका दमन कर सकता है । आवश्यकता है मन की नकेल अपने हाथों में रखने की । यद्यपि रावण स्वयं विकारों पर काबू नहीं रख सका इसलिए उसका सर्वस्व तो क्या वंग भी निर्मूल हो गया, किन्तु भव्य महामुनि ऐसे भी हुए हैं जो वेश्या के यहाँ चातुर्मास करके भी मन को उसके सौन्दर्य, नृत्य, संगीत या भोग-विलास के समस्त साधनों से युक्त भवन से भी सर्वथा निलिप्त रहते हुए पूर्ण आत्मिक शुद्धता सहित वेदांग लौट आये हैं । उनके शरीर तो क्या, वचन और मन को भी विकार स्पर्श नहीं कर पाया । अनेक उदाहरण ऐसे रहे हैं, जिनसे साबित होता है कि भले ही दुर्बल मन वाले अपने मन और इन्द्रियों पर काबू न रखने के कारण पतित हो जाते हैं, किन्तु जिनकी श्रद्धा मजबूत होती है और आत्मा पाप-पुण्य के अन्तर को समझती हुई इनके परिणामों पर सही विचार करती है । वे सांसारिक विषयों के कितने ही उग्र एवं प्रबल होने पर भी विचलित नहीं होते ।

द्वितीय पुत्र—मेघवाहन

तो मिथ्यामोहरूपी रावण का पहला पुत्र था विषय-वासनारूपी इन्द्रजीत जिसे रावण अत्यन्त स्नेह करता था और इसी ने परस्त्री हरण करवाकर उसका सर्वनाश किया । अब उसके दूसरे पुत्र के विषय में बताना है । वह था अभिमान-रूपी मेघवाहन । इस पुत्र ने भी रावण को महान् कष्ट दिया तथा जन्म-जन्मान्तर तक के लिए संसार-सागर के कर्मजल में गोते लगाने का साधन जुटाया । इसके अलावा इतने कुयश का उपार्जन किया कि युगों से लोग उस पर धूकते चले आ रहे हैं और ऐसा ही युगों तक करते रहेंगे । आज दशहरे के दिन रावण का पुतला बनाकर लोग उसके अभिमान की ही याद करते हैं, उसकी निन्दा करते

हैं और फिर नकली राम-लक्ष्मण के द्वारा उसे नष्ट करवा देने हैं। छोटे-छोटे बालक भी, जिनको रावण के विषय में कोई जानकारी नहीं होती, वे रावण के अभिमान एवं कदाचार की कहानी लोगों की जुबान से सुनते हैं तथा स्वयं भी प्रतिवर्ष उसे स्मरण करने लग जाते हैं। इस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी, दूसरी से तीसरी और अब तक जितनी मनुष्य की पीढ़ियाँ हुई हैं, सभी रावण के विषय में जानकारी करती हुई उसकी भर्त्सना करती आ रही है और भविष्य में भी यही क्रम चलता रहेगा। इस सबका मूल कारण उसका अभिमान या अहं ही था जिसने उसकी आत्मा को अनन्त काल तक परिभ्रमण करने के लिए बाध्य किया और जगत् में भी सदा के लिए अपयशी बनाकर छोड़ा। विभीषण या अन्य न्यायी व्यक्तियों के बार-बार समझाने पर भी वह नहीं झुका और अन्त तक पाषाणवत् बना रहा।

अभिमानो पुरुष के विषय में श्री स्थानांगसूत्र में कहा गया है—

सेलथंभ समारणं माणं अणुपविट्ठे जीवे ।

कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ॥

अर्थात्—पत्थर के खंभे के समान जीवन में कभी नहीं झुकने वाला अहंकार जीव को नरकगति की ओर ले जाता है।

बहन सूर्पणखा

मिथ्यामोह रावण की बहन का नाम सूर्पणखा था, जिसे हम निश्चय ही कुमति कह सकते हैं। इस कुमति ने ही रावण को पथ-भ्रष्ट किया था तथा बदले की भावना से भाई को भड़काकर सीता का अपहरण कराया था। यह किस प्रकार हुआ था इसे हम आगे बताएँगे।

सूर्पणखा का विवाह क्रोधरूपी राक्षस खर के साथ हुआ था, जिसके दूषण और त्रिशर नामक दो भाई और थे। दूषण तो दोषों का समूह था ही, त्रिशर को आध्यात्मिक दृष्टि से तीन शर यानी तीन शल्य—मायाशल्य, निघाणशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य कहा गया है।

खर एवं सूर्पणखा का एक पुत्र था, शंबुककुमार। इसे संज्वलन कहा गया है। क्रोध के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन, इस प्रकार चार भेद हैं। शंबुक को संज्वलन इसलिए कहा गया है कि इसमें क्रोध का अंश अत्यल्प मात्रा में रहता है। जल में खींची जाने वाली लकीर जिस प्रकार हाथ आगे बढ़ाते-बढ़ाते मिटती जाती है, इसी प्रकार संज्वलन क्रोध भी अधिक नहीं टिकता। शंबुक वस्तुतः नरक में ले जाने वाले क्रोधरूपी खर राक्षस के यहाँ संज्वलन के रूप में पैदा हुआ था।

कुछ बड़ा होने पर जब शंबुक एक बार अपने मामा रावण के यहाँ गया तो उसने वहाँ एक खड्ग देखी। उसके हृदय में वैसी ही खड्ग पाने की अभिलाषा हुई अतः जब उसके विषय में जानकारी की तो ज्ञात किया कि इस खड्ग को प्राप्त करने के लिए बड़ी तपस्या करने की आवश्यकता होती है।

वस्तुतः तपस्या के बिना कोई शुभ फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी में एक कहावत है—

'No pains, no gains' कष्ट प्राप्त किये बिना कुछ भी नहीं मिलता।

मनुस्मृति में भी यही कहा है—

यद् दुस्तरं दुराधं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।

सर्वं तु तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

अर्थात्—जिसको तैरना कठिन है, जिसे पाना मुश्किल है, जो दुर्गम है और दुष्कर भी है, वह सब कुछ कठिन कार्य भी तप के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। तप के प्रभाव से ही समस्त कठिनाइयाँ मिट सकती हैं।

तो ज्ञान रूपी सूर्यहंस खड्ग पाना भी सरल नहीं, अपितु महाकठिन कार्य था। किन्तु शंबुक ने उसे प्राप्त करने की ठान ली। स्वामाविक था कि क्रोध रूपी पिता और कुमतिरूपी माता, ज्ञानरूपी खड्ग को प्राप्त करने की आज्ञा कैसे देते? दोनों ने बहुत मना किया पर शंबुक माना नहीं और उपशम रूपी वन में औघे मुँह लटककर दृढ़तापूर्वक साधना करने लगा। दो-चार दिन और कुछ महीने ही नहीं वरन् बारह वर्ष की घोर साधना हो जाने पर सूर्यहंस खड्ग सिद्ध हुआ और उलटे लटके हुए शंबुक के समीप आकर उसी झाड़ी पर टिक गया जिसमें शंबुक साधना-लीन था।

अल्पकाल में ही शंबुक उस घोर तपस्या के फलस्वरूप दैविक खड्ग को अपने हाथों में उठा लेता, किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। वास्तव में ही विधि के विधान का था जिसे हम होनहार कहते हैं, उसका करिश्मा निराला ही होता है। मनुष्य सोचता है कुछ, और होता है कुछ। बारह वर्ष की तपस्या का फल सूर्यहंस खड्ग जब शंबुक के समीप आ गया था और वह उसे प्राप्त करने ही वाला था कि कालबली आकर शंबुक को उठा ले गया। कोई भी नहीं कह सकता कि काल का झपट्टा उस पर कब, किस समय और कैसे हो जाएगा।

सुन्दरदासजी ने इस विषय में एक सुन्दर पद्य लिखा है वह इस प्रकार है—

करत-करत धन्ध, कछु नहिं जाने अन्ध,
 आवत निकट दिन आगले चपाक दे ।
 जैसे बाज तीतर कूँ दावत है अचानक,
 जैसे वक मछली कूँ लीलत लपाक दे ॥
 जैसे मक्षिका की घात, मकरी करत आय,
 जैसे साँप मूसक कूँ ग्रसत गपाक दे ।
 चेत रे अचेत नर, सुन्दर संभार राम,
 ऐसे तोहि काल आय लेडगो टपाक दे ॥

कवि ने मानव को बोध देते हुए कहा है—अरे, अन्धे पुरुष ! अपने सांसारिक धन्धों में लगे रहने के कारण तुझे यह भी मालूम नहीं है कि तेरे अन्तिम दिन नजदीक आ रहे हैं । जिस प्रकार बाज तीतर को अचानक दबा लेता है, बगुला मछली को चट से निगल जाता है, तथा जिस तरह मकड़ी मक्खी पर घात लगाए रहती है और सर्प चूहे को दबोच लेता है, उसी प्रकार काल भी तुझे अचानक ही किसी समय झपट्टा मारकर ले जाएगा । अतः अब तू सावधान हो जा और राम का नाम स्मरण कर ।

बन्धुओ ! प्रसंगवश मैंने कवि सुन्दरदासजी का यह पद्य आपके सामने रखा है कि आप भी कालबली की निर्भमता और किसी भी क्षण प्राणी को ले जाने वाली क्षमता को पहचानकर सावधान हो जाँय तथा आज विजयादशमी के पावन दिन से ही कर्मों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न शुरू करें ।

खेद की बात तो यह है कि अनेक व्यक्ति प्रायः यही कहा करते हैं—
 “महाराज ! क्या करें सारी उन्न तो घर-गृहस्थी के धन्धों में बीत गई । लड़के-लड़कियों की शादियाँ कीं, मकान बनवाया, जमीन खरीदी और व्यापार बढ़ाया । अब तो यह उन्न हो गई है, भला अब हमसे क्या हो सकता है ?”

मुझे ऐसे भोले व्यक्तियों पर बड़ा तरस आता है और उनसे यही कहता हूँ—
 “माई ! बीते हुए को भूलकर बिना विलम्ब किये आत्मा का कल्याण करने का उपाय प्रारम्भ कर दो । आत्म-मुक्ति या कर्मों से छुटकारा होने के लिए समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं है । महैत्व केवल भावनाओं का है । अगर भावना उत्कृष्टता को प्राप्त करती जाँय तो बरस, महीने और दिनों की तो बात क्या है, कुछ क्षणों में ही वे आश्चर्यजनक परिवर्तन ला देंगी ।”

शास्त्रों में कहा भी है—

मनोयोगो बलीयाश्च, भाषितो भगवन्मते ।

यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ॥

वीतराग प्रभु ने मनोयोग को इतना बलवान बताया है कि भावनाओं की उत्कृष्टता जीव को आधे क्षण में मोक्ष में पहुँचा देती है और उनकी निकृष्टता आधे ही क्षण में सातवें नरक का बन्ध करा देती है ।

ऐसी स्थिति में बीती हुई उम्र के लिए पश्चात्ताप करना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है । व्यक्ति को जब उसकी आत्मा जाग जाये, तभी सबेरा मानना चाहिए और जितनी उम्र बची हो उससे अविलम्ब लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि जो समय बीत चुका है, वह तो पुनः लौटकर आने वाला है नहीं, तब बचे हुए को क्यों नष्ट करना ?

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र,
धरा धन धाम है बन्धन जी को,
बारहि बार विषैफल खात,
अघात न जात सुधारस फीको ।
आन, औसान तजो अभिमान,
कहीं सुन नाम भजो सिय-पी को,
पाय परम पद हाथ सों जात,
गई सो गई अब राख रही को ॥

कहने का अभिप्राय यही है कि पुत्र, पौत्र, मित्र, पत्नी, जमीन, मकान एवं धन-सम्पत्ति आदि सभी जीव के लिए कर्म-बन्धनों के कारण हैं और इन्हीं के कारण उसे जन्म-जन्म में दुःख उठाने पड़ते हैं । ये सब ऐसे विषमय फल हैं कि उनका जहर या प्रभाव अनेक जन्मों तक भी नहीं मिटता और नाना प्रकार के दुःख पहुंचाता रहता है । किन्तु फिर भी अज्ञानी प्राणी सांसारिक सुखों के लोभ में आकर या अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए बार-बार इन्हें ग्रहण करते हैं और दुखी होते हैं ।

वे भूल जाते हैं कि अनन्त दुःख के सामने इस क्षणिक जीवन का झूठा सुख कितना अल्प है । इसीलिए कवि ने कहा है—“मन में समझदारी और विवेक लाकर सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के अभिमान को छोड़कर सीता के पति श्री रामचन्द्र का स्मरण करो और बीती हुई जिन्दगी के लिए पश्चात्ताप न करके जो बची हुई है, उसी को सार्थक बनाओ ।” अन्यथा न जाने किस समय काल बली का आक्रमण हो जाएगा और वह तुम्हारी समस्त इच्छाओं, आशाओं और सुख-स्वप्नों को एकक्षण में मटियामेट करके तुम्हें इस पृथ्वी पर से उठा ले जाएगा ।

शंबुक के साथ भी काल ने ऐसा ही किया। बारह वर्ष की धोर तपस्या के द्वारा जिस समय सूर्यहंस खड्ग उसके समीप आया, वह हाथ बढ़ाकर उसे ले भी नहीं सका और अपने वर्षों के तीव्र अरमान को मन में लिए हुए ही काल के द्वारा दबोच लिया गया। विचार करने की बात है कि अत्यल्प समय भी उसे मिलता तो वह एक बार कम से कम अपने वर्षों के तप का सुन्दर फल हाथों में लेकर सन्तुष्टि प्राप्त करता। किन्तु काल को दया-माया कहाँ है? उसने बेचारे शंबुक को चन्द क्षण भी नहीं दिये और उठाकर चल दिया। यह कैसे हुआ और काल ने किस बहाने से उसे निर्जीव किया? यह हम आगे बताएँगे। अभी कुछ समय के लिए हमें अयोध्या की ओर चलना चाहिए।

धर्मरूप राम एवं सत्यरूपी लक्ष्मण

अयोध्या में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य आदि दस लक्षणरूपी दशरथ राजा राज्य करते थे। स्वाभाविक ही था कि इन दस लक्षणों का एकत्र होना धर्म को जन्म देता। तो दस लक्षणरूपी राजा दशरथ के यहाँ धर्मरूपी प्रथम पुत्र राम का जन्म हुआ और श्रद्धारूपी रानी सुमित्रा की कुक्षि से सत्यरूपी लक्ष्मण का।

तारीफ की बात तो यह है कि दोनों का स्वभाव भी अपने अनुरूप ही था। धर्म जिस प्रकार गम्भीर, शान्त, सहनशील एवं सभी को लेकर चलने वाला होता है वैसे राम थे और सत्य महान् होने पर भी कटु एवं तेज होता है, ठीक वैसे ही लक्ष्मण। रामायण के एक-दो प्रसंग इन दोनों माइयों के स्वभाव का सही चित्रण करते हैं। उन्हें भी मैं संक्षेप में आपको बताए देता हूँ।

महत्त्व भाषा का नहीं भावनाओं का होता है।

जब राम और लक्ष्मण वन में जा रहे थे तो एक स्थान पर उन्हें कुछ समय टहरना पड़ा। वहाँ पर रहने वाले निषादों के राजा गुह ने जब उन्हें देखा और उनके सम्पर्क में आया तो वह राम का परम भक्त बन गया और अत्यन्त स्नेह करने लगा।

किन्तु वह भील था और उसने कहीं शिक्षा प्राप्त नहीं की थी, अतः शिष्टाचार और आदर-सम्मान की भाषा उसे नहीं आती थी। राम, लक्ष्मण व सीता को किसी प्रकार की तकलीफ न हो, वस उसे यही ध्यान रहता था और उससे जितनी बनती, सेवा करता रहता था।

वह दिन में कई बार आता और किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं है यह पूछता तथा स्नेहपूर्ण सरल भाव से बातें किया करता था। पर मैंने अभी बताया था कि उसे भाषा के शिष्टाचार का ज्ञान नहीं था, अतः वह राम को 'तू' या 'तेरा' आदि सम्बोधनों से पुकारा करता था।

धर्मरूपी राम तो हृदय की भावनाओं के पारखी थे, अतः उसके सम्बोधन पर तनिक भी अप्रसन्न न होते हुए बड़े प्रेम से उसकी बात का उत्तर देते थे और वात्सलाप किया करते थे। उनके हृदय में गुह की बात या रेकारे-तुकारे से तनिक भी फर्क नहीं पड़ता था।

किन्तु जैसा कि सत्य कटु यानी कठोर होता है, लक्ष्मण भीलराज के राम के प्रति किये जाने वाले सम्बोधनों को ओछे एवं असम्भ्यतापूर्ण समझते थे तथा मन ही मन तीव्र क्रोध से भर जाया करते थे। वे सोचते थे—“मिरे जिस भाई की संसार पूजा करता है, उन्हीं को यह चाण्डाल तू-तड़ाक से सम्बोधित करता है।”

बहुत दिन तक तो भाई के लिहाज से वे सब्र करते रहे किन्तु जब सब्र का घड़ा भर गया तो एक दिन वे आग-बबूला होकर निषादराज को जान से ही मार देने के लिए उठे। पर राम जो कि धर्म का साक्षात् अवतार थे, उन्हींने हँसते हुए अपने भाई का हाथ पकड़कर उसे ऐसा अप्रिय कार्य करने से रोक दिया तथा प्यार से बन्धु को समझाते हुए बोले—“लक्ष्मण ! यह क्या करते हो ? क्या तुम इस सरल और भोले भक्त के शब्दों को ही सब कुछ समझते हो ? इन शब्दों के पीछे रही हुई भावनाओं को नहीं देखते ? यह मुझे कैसे भी सम्बोधन करे पर इसके हृदय में मेरे और तुम्हारे प्रति प्यार का अथाह सागर है। उसे पहचानो और उसकी कद्र करो। शब्दों का महत्त्व नहीं होता, महत्त्व तो भावनाओं का होता है।”

भाई के वचन सुनकर लक्ष्मण लज्जित हुए और उन्हींने गुह को मारने का विचार छोड़ दिया।

माता के द्वारा खिलाये मिष्टान्तों से अधिक प्रिय जूठे बेर

दूसरी एक और इसी प्रकार की घटना है कि राम जब वनवास में थे तब एक बार ऋषियों के आश्रमों की ओर निकल पड़े। वहाँ निवास करने वाले ऋषियों को जब यह ज्ञात हुआ तो वे अत्यन्त आनन्दित हुए और भगवान राम के स्वागतार्थ सभी ने यथाशक्य तैयारियाँ कीं। कन्द-मूल और फलों के ढेर लग गये और तीव्र उत्सुकतापूर्वक सब राम के पधारने की प्रतीक्षा करने लगे।

आश्रमों के समीप ही एक शबरी नामक भीलनी भी रहा करती थी। भगवान राम की वह अनन्य भक्त थी और सदा उनके पवित्र नाम का स्मरण किया करती थी। पर जब उसने भी सुना कि आज राम-लक्ष्मण इधर ही आ रहे हैं तो उनके साक्षात् दर्शन कर पाने की इच्छा से वह आनन्द-विह्वल हो

गई। शबरी विचार करने लगी—“सभी ऋषियों और मुनियों ने भगवान के स्वागत की अनेक प्रकार से तैयारियाँ की हैं, पर मैं क्या करूँ ?” उसका कार्य तो जंगल के बेरों को तोड़कर लाना और उन्हें बेचना ही था। अतः उसने उन्हीं से राम का स्वागत करने का निश्चय किया।

सर्वप्रथम तो अपनी झोंपड़ी के आसपास की सारी जगह उसने झाड़-बुहार कर स्वच्छ की, उस पर जल छिड़का और फिर फटी-टूटी बोरियाँ राम के लिए बिछाकर बेरों की टोकरी भर लाई।

ऋषियों ने भी उसके कार्य-कलाप को देखा। पर उपहास करते हुए आपस में बोले—“इस मूख शबरी को तो देखो ! यह तो ऐसी तैयारी कर रही है, जैसे हमारे सभी सुन्दर आश्रमों को छोड़कर राम इसी के यहाँ आकर इन फटी-पुरानी बोरियों पर बैठेंगे तथा ब्राह्मण महर्षियों को छोड़कर इस भीलनी का आतिथ्य ग्रहण करेंगे।”

शबरी सबकी बातों को सुन रही थी, किन्तु उसे किसी की परवाह नहीं थी। अचानक उसे खयाल आया कि—‘मेरे राम इन बेरों को खाएँगे तो सही, पर अगर कोई खट्टा बेर उनके मुँह में चला गया तो ?’ यह विचार आते ही उसने बेर चखना शुरू कर दिया और एक टोकरी में चखे हुए मीठे-मीठे बेर और दूसरी में खट्टे बेरों को डालना शुरू किया। यह देखकर तो वहाँ के निवासी उसे पागल समझकर और भी हँसने लगे।

इतने में ही शोर मच गया कि “भगवान राम पधार गये।” आश्रमों में स्थित सभी ऋषि-मुनि उनके स्वागत के लिए दौड़ पड़े। शबरी भी राम का आगमन सुनकर भागी और संत-महात्माओं के पीछे जाकर संकुचित होती हुई एक ओर खड़ी हो गई। भाव-विह्वलता के कारण उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु बह चले और वह उन्हें प्रणाम करना भी भूल गई, जबकि बाकी सब दंडवत् नमस्कार कर रहे थे।

राम ने सभी को देखा पर धीरे-धीरे शबरी के साथ हो लिये। सजग होकर शबरी अपार हर्षसहित उन्हें अपनी झोंपड़ी में लिवा गई और बैठने के लिए बोरियाँ बिछाईं। राम-लक्ष्मण के चरण जल की अपेक्षा आनन्दाश्रुओं से अधिक धोये और बेर की टोकरी सामने रखकर कुछ चखे हुए और साथ ही कुछ चखकर मीठे-मीठे छ्दाँते हुए उन्हें देने लगी। शबरी चख-चख कर जूठे पर मीठे बेर खिला रही थी और राम प्रसन्नतापूर्वक उन्हें खाते जा रहे थे।

पर लक्ष्मण ने जब यह देखा तो वे मन ही मन दाँत पीसने लगे। उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और कह उठे—“भैया ! यह आप क्या कर रहे हैं ?

जाति की भीलनी और ऊपर से इसके जूठे बेर आप निस्संकोच खाये जा रहे हैं ?”

राम शांतिपूर्वक बोले—“लक्ष्मण ! माता कौशल्या के खिलाये हुए पकवानों से भी अधिक स्वादिष्ट आज मुझे ये बेर लग रहे हैं । क्या तुम देख नहीं रहे हो इसकी अनन्य भक्ति और प्रेम को ? इस अनुपम स्नेह के सामने जाति और कुल क्या चीज है ?”

उधर बड़े-बड़े सभी ऋषि-मुनि भी मुँहबाये यह दृश्य देख रहे थे और भीलनी के भाग्य की सराहना कर रहे थे । किसी भक्त ने ठीक ही कहा है :—

कुल रो कारण संतां ! है नहीं सुमरे ज्याँरा है साँई ।
सहस अठोत्तर मुनि तप तपे एकज वन रे माँही,
ज्याँ विच तपे एक भीलनी तासूँ अन्तर नाँही ।
कुल रो कारण संतां ! है नहीं.....।

वस्तुतः भगवान की भक्ति में जाति या कुल कभी बाधक नहीं बनते । आवश्यकता है एकनिष्ठ भक्ति अथवा साधना की । मुनि हरिकेशी चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनकी दृढ़ साधना एवं धोर तप ने उन्हें कर्म-बन्धनों से मुक्त कर दिया । उसमें कुल और जाति कहाँ बाधा डाल सकी ? कहीं नहीं, वह इसीलिए कि आत्मा की कोई जाति और कुल नहीं है । अगर वह कर्मों से जकड़ जाय तो निकृष्टता को प्राप्त होती है और कर्मों से मुक्त होने पर उत्कृष्ट अवस्था में पहुँच जाती है ।

तो बंधुओ, मैं आपको बता तो यह रहा था कि दसलक्षणरूपी दशरथ के प्रथम पुत्र धर्मरूप राम और द्वितीय पुत्र सत्यरूपी लक्ष्मण थे । दोनों अपने नामों के सर्वथा अनुरूप भी थे यह मैंने रामायण में दिये हुए निषादों के राजा गुह और शबरी भीलनी के प्रसंगों द्वारा बताया है । धर्म शांत, समत्वपूर्ण, सहानुभूतिमय एवं सबको लेकर चलता है, अतः राम ऐसे ही थे तथा सत्य शुद्ध होते हुए भी तनिक कटु और कठोर होता है, जैसे कि लक्ष्मण थे ।

ध्यान में रखने की बात है कि धर्म और सत्य कभी एक-दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते, जैसे राम और लक्ष्मण कभी अलग नहीं रहे । राम वन गए तो लक्ष्मण भी उनके साथ छाया की भाँति बने रहे ।

धर्मरूपी राम का विवाह सुमतिरूपी सीता के साथ बड़े ठाट-बाट से हुआ था और उसके पश्चात् राज्याभिषेक का समय आया । किन्तु ‘करमगति टारी नाँहि टरे’ । इस उक्ति के अनुसार ठीक राज्याभिषेक के समय ही कैकयी

ने दो वर माँगकर जहाँ अयोध्या में आनन्द का सागर उमड़ रहा था, शोक का विष धोल दिया । वे दो वर कौनसे थे, यह आप सब जानते ही हैं—(१) राम के बदले भरत को राज्य देना और (२) राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास कराना ।

दशरथ पर तो इन वरों के माँगते ही मानों बज्रपात हो गया, किन्तु करते क्या ? वचन-भंग करना भी असंभव था । कहा भी है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई ।

प्राण जाँय पर वचन न जाई ।

तो एक ओर पुत्र-वियोग और दूसरी ओर वचन का उल्लंघन । दशरथ शोक-सागर में डूब गए । पर स्वयं राम ने आकर उन्हें अपने कर्तव्य पर हृद रहने का साहस बँधाया । उन्होंने परम हर्षपूर्वक सविनय कहा—“पिताजी ! आपको दोनों वर मेरी माता को प्रसन्नतापूर्वक देने चाहिए, क्योंकि आपने वचन दिया था । इसके अलावा इसमें क्या फर्क पड़ेगा चाहे मैं अयोध्या में रहूँ या वन में ? दोनों जगह मेरी वही स्थिति रहेगी । उलटे मुझे इस बात का हर्ष होगा कि मैंने अपने पिता को वचन-भंग नहीं करने दिया । पुत्र तो होना ही ऐसा चाहिए जो पिता का व अपने कुल का मान एवं गौरव बढ़ाये ।”

यह कहकर राम ने दशरथ को शांति प्रदान की तथा अपने आपको सुपुत्र साबित किया । वास्तव में ही पुत्र अगर सदाचारी, सुशील एवं आज्ञापालक होता है तो पिता को अनेकानेक चिंताओं से एवं दुःखों से बचा सकता है ।

श्री स्थानांगसूत्र में चार प्रकार के पुत्र बताए गये हैं—

चत्वारि सुता —

अतिजाते, अणुजाते, अबजाते, कुलिंगाले ।

अर्थात्—पुत्र चार प्रकार के होते हैं—कुछ पुत्र गुणों की दृष्टि से अपने पिता से बढ़कर होते हैं; कुछ पिता के समान होते हैं, कुछ पिता से हीन और कुछ तो कुल का सर्वनाश करने वाले कुलांगार पैदा होते हैं ।

राम गुणों में अपने पिता से भी बढ़कर थे और रावण कुल का सर्वनाश करने वाला कुलांगार । इसी प्रकार पांडव अपने पिता और कुल का गौरव बढ़ाने वाले थे, तथा दुर्योधन एवं दुःशासन आदि कुल को कलंकित और नष्ट करने वाले कुलांगार । ऐसे पुत्रों से तो पुत्र का न होना ही अच्छा होता है ।

तो बंधुओ, राम तो धर्म का अवतार ही थे, अतः उनके सुपुत्र होने में कोई बड़ी बात नहीं थी। पिता के वचन की मर्यादा और उसके पालन किये जाने में सहायक बनकर वे वनगमन के लिए तैयार हो गये। पर जैसा कि मैंने कहा था, धर्म और सत्य एक-दूसरे से अलग नहीं रहते, लक्ष्मण ने भी उनके साथ जाने का निश्चय कर लिया और फिर सुमतिरूपी सीता ही कैसे पीछे रहती ? जहाँ धर्म और सत्य रहेगा, वहाँ सुमति का होना तो अनिवार्य है। अतः धर्म, सत्य एवं सुमति तीनों ही संयमरूपी वन की ओर प्रस्थान कर गये।

वन में यत्र-तत्र विचरण करते हुए वे एक स्थान पर पर्णकुटी बनाकर ठहरे। लक्ष्मण का वहाँ मुख्य कार्य अपने भाई एवं भामी की सेवा और रक्षा करना था, पर एक बार घूमते-घामते वे उस ओर निकल गये जहाँ झाड़ी में कुमति रूपी सूर्यणखा का पुत्र शंबुक तपस्या कर रहा था।

संयोग की बात थी कि जिस समय लक्ष्मण वहाँ पहुँचे, उसी समय सूर्यहंस खड्ग शंबुक की तपस्या से सिद्ध होकर आया हुआ पड़ा था। खड्ग वहाँ था पर उसका स्वामी लक्ष्मण को दिखाई नहीं दिया क्योंकि वह घनी झाड़ी में अंधे मुँह लटका हुआ तपस्या-रत था। तो उस घोर जंगल में खड्ग के स्वामी के न होने से लक्ष्मण ने उत्सुकता एवं कौतुकवश खड्ग का आह्वान किया और मात्र आह्वान पर ही खड्ग उनके हाथ में आ गया। खड्ग की परीक्षा उसकी धार से ही हो सकती है, अतः ज्यों ही खड्ग लक्ष्मण के हाथ में आया, त्यों ही उन्होंने उसकी धार की परीक्षा करने के लिए उसी समीपस्थ झाड़ी पर उसे चला दिया, जिसमें शंबुक तपस्या कर रहा था। खड्ग का चलना था कि झाड़ी तो क्षणमात्र में कटी ही, साथ ही शंबुक का मस्तक भी कट गया।

रक्त की धार बह चली और ज्यों ही लक्ष्मण की दृष्टि उस ओर गई वह भौंचक्के होकर झाड़ी की ओर दौड़े। अन्दर झाँककर देखा तो दुःख और आश्चर्य के मारे इस प्रकार जड़वत् खड़े रह गये कि काटो तो खून की एक बूंद भी न निकले। अन्दर एक व्यक्ति उनके खड्ग के प्रहार से कटा हुआ पड़ा था।

घोर दुःख, ग्लानि और मारे पश्चात्ताप के वे माथा पकड़कर वहीं बैठ गये। सोचने लगे—“अनजान में ही सही, पर मुझसे कैसा अनर्थ और पाप हो गया। हाय ! अब मैं क्या करूँ ?” बिगड़ी को बनाने का उनके पास कोई उपाय नहीं था। बात यथार्थ भी थी। क्योंकि स्थिति मरणांतक भी होती तो वे कुछ न कुछ प्रयत्न करते पर मरण के पश्चात् क्या किया जा सकता था ? शंबुक का मस्तक एक ओर तथा धड़ दूसरी ओर पड़ा था।

बहुत समय पश्चात् कोई भी उपाय न देखकर और मरने वाले की पहचान

भी न होने के कारण वे उठे और थके-थके कदमों से अपनी झोंपड़ी की ओर चले। वहाँ आकर उन्होंने अपने भाई राम से अपने भूल से हो जाने वाले पाप के विषय में बताया। पर इसके बाद ही कैसी आश्चर्यजनक घटना घटी, यह भी आपको बताता हूँ।

जब लक्ष्मण शंभुक की लाश के पास से हटकर अपने निवास की ओर चल दिये, उसके कुछ समय पश्चात् ही सूर्यणखा पुत्र के लिए प्रतिदिन के समान खाना लेकर आई। पर ज्योंही उसने वहाँ पर अपने पुत्र को मरा हुआ देखा, त्यों ही थाल एक ओर पटककर छाती पीटती हुई रोने लगी। पर रोने से क्या हो सकता था अतः उसने उठकर मारने वाले की खोज करना चाहा और लक्ष्मण के पैरों के चिह्नों के आधार पर उसी ओर चल दी।

पद-चिह्न देखती हुई वह राम-लक्ष्मण की पर्णकुटी की ओर बढ़ी तथा वहाँ पहुँच गई। कुटिया में रामचन्द्रजी बैठे हुए थे। उन्हें देखकर वह अवाक् रह गई। इस पृथ्वी पर अपने जीवन में उसने किसी भी पुरुष में ऐसा सौन्दर्य और आकर्षण नहीं देखा था। कुमति का रूप तो वह थी ही, अतः पुत्र-शोक को भूल गई और राम के सहवास की इच्छा कर बैठी। राम से उसने प्रार्थना की—
“कृपा करके मुझे स्वीकार करो।”

राम हैरान रह गये। प्रथम बार और अल्प क्षणों के लिए जिससे सम्पर्क हुआ वह स्त्री इस प्रकार अचानक ही भोग का निमंत्रण दे, यह आश्चर्यजनक ही था। पर वे जान गये कि—

कामातुराणाम् न भयं न लज्जा ।

अर्थात्—कामी व्यक्तियों को न किसी प्रकार का भय होता है और न दृष्टि में लज्जा ही रह जाती है।

विषय-विकारों का आकर्षण ऐसा ही प्रबल होता है। वह मनुष्य को पल-मात्र में विवेकहीन एवं हिताहित के ज्ञान से शून्य बना देता है। ऐसे व्यक्ति भूल जाते हैं कि हमारी ऐसी चित्त-वृत्ति हमें न इस लोक में चैन लेने देगी और न परलोक में ही सुगति प्राप्त करने देगी।

तो सूर्यणखा अपनी कुमति के कारण पुत्र की मृत्यु के दुःख को भी क्षण मात्र में भूलकर राम से सहवास की प्रार्थना करने लगी। किन्तु साक्षात् धर्म के अवतार राम क्या उसकी प्रार्थना को स्वीकार करके अपने शीलधर्म से विचलित हो सकते थे? नहीं, वे चरित्रवान् एवं इन्द्रिय-विजयी शूरवीर पुरुष थे।

इस विषय में शंकराचार्य जी ने एक श्लोक में कहा है—

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा ?
मनोज-बाणैर्व्यथितो न यस्तु ।
प्राज्ञोऽतिधीरश्च समोऽस्ति को वा ?
प्राप्तो न मोहं ललना-कटाक्षैः ॥

यह श्लोक 'प्रश्नोत्तरमाला' पुस्तक में से लिया गया है, अतः इसमें प्रश्न भी हैं और उत्तर भी वे इस प्रकार हैं—संसार में सबसे बड़ा शूरवीर कौन है ? जो काम-बाणों से पीड़ित नहीं होता । प्राज्ञ, धीर और समदर्शी कौन है ? जो स्त्रियों के कटाक्षों से मोहित नहीं होता ।

राम भी ऐसे ही शूरवीर, प्राज्ञ, धीर और समदर्शी थे । यद्यपि किसी अपरिचिता स्त्री के इस प्रकार प्रणय-निवेदन से क्रोध आना स्वाभाविक था किन्तु उनमें धीरता का महान् गुण था । अतः उन्होंने बात को केवल हँसी में ही टाल देने के लिए सूर्पणखा से कहा—

“देवी ! मेरा तो ब्याह हो चुका है और यह देखो, मेरी पत्नी सीता भी मेरे साथ ही है । पर मेरा भाई लक्ष्मण अभी अविवाहित और अपार सौन्दर्यशाली है । तुम उसके पास जाओ तो शायद तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाय ।”

रामचन्द्रजी की बात सुनकर सूर्पणखा लक्ष्मण की ओर चल दी, जो कि कुटिया से कुछ ही दूर विचारमग्न बैठे थे । अपने भाई और सूर्पणखा के बीच होने वाले वात्तालाप को कुछ सुनकर और कुछ संकेत से उन्होंने समझ लिया था ।

सूर्पणखा ने लक्ष्मण से भी प्रणय-निवेदन किया, जैसा कि राम से किया था । आप जानते ही हैं कि लक्ष्मण क्रोधी थे, अपने भाई के समान उनमें घैर्य एवं सहनशीलता नहीं थी । इसलिए सूर्पणखा के लज्जाहीन निवेदन पर वे भड़क उठे और आग-बबूला होकर बोले—“तुझे शर्म आनी चाहिए अपनी विकारग्रस्त भावना के लिए प्रथम तो तू मेरे बड़े भाई के पास प्रेम की याचना करने गई थी, अतः मेरी भाभी के समान हो गई । दूसरे मैं तुझ जैसी चारित्रहीना को स्वप्न में भी नहीं अपना सकता । अन्य रामायणों में तो सम्भवतः यह भी कहा गया है कि लक्ष्मण ने अत्यन्त कुपित होकर सूर्पणखा की नाक ही काट डाली थी । खैर, कुछ भी हो, बात यही है कि पहले वह राम के द्वारा टाल दी गई और तत्पश्चात् लक्ष्मण की तीव्र भर्त्सना का शिकार बनाई जाकर वहाँ से भी निकाल दी गई ।

सूर्पणखा की मनःस्थिति के विषय में क्या कहा जाय ? उसके विचार समुद्र में उठने वाली तरंगों के समान बदले । पहले पुत्र की मृत्यु के कारण

शोक-ग्रस्त हुई, फिर राम-लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखकर काम-वासना से भर गई और अब उसके पूरी न होने पर असह्य क्रोध की ज्वाला में जलती हुई बदला लेने के लिए पागल हो उठी ।

पुत्र की लाश के यहाँ से जो पद-चिह्न राम की पर्णकुटी की ओर गये थे, उससे सूर्यणखा यह तो जान ही गई थी कि इन्हीं दोनों में से किसी ने मेरे पुत्र को मारा है । अतः तब, जबकि उसका प्रणय-निवेदन भी दोनों ने अस्वीकार कर दिया तथा तिरस्कृत करते हुए वहाँ से निकाल दिया तो अब वह रोती-पीटती हुई अपने क्रोधरूपी पति खर के पास पहुँची और अपनी काम-पिपासा के प्रसंग को छिपाकर पुत्र की हत्या के विषय में और हत्यारे के विषय में जानकारी देकर बोली—“मेरे पुत्र की हत्या का बदला लो ।”

पुत्र की हत्या हो जाने पर और उसके हत्यारों का पता भी लग जाने पर फिर क्रोधी बाप कैसे चुप बैठा रहता ? वह अपने दूषण एवं त्रिशर, दोनों भाइयों को लेकर राम व लक्ष्मण को मार डालने के लिए जंगल में पहुँच गया । पर बलदेव राम और वासुदेव लक्ष्मण के ऊपर उनका क्या जोर चलने वाला था । केवल लक्ष्मण ने ही उनका खात्मा कर दिया ।

सूर्यणखा की दशा अब और भी बुरी हो गई । पति और देवों के मारे जाने पर उसका क्रोध हजार गुना बढ़ गया । खूब सोच-विचार कर वह अपने भाई मिथ्यामोहरूपी रावण के पास पहुँची । रावण को मड़काने के लिए उसने दो अस्त्र तैयार कर लिये थे कि एक काम नहीं आएगा तो दूसरे का उपयोग करूँगी ।

पहले तो उसने अपने पुत्र शंबुक की हत्या के विषय में बताते हुए कहा कि उसकी सजा हत्यारों को देने जाने पर मेरे पति और देवों को भी लक्ष्मण ने मार डाला है । दूसरे यह भी कहा—“तुम इतनी बड़ी सोने की लंका के राजा हो और तुम्हारे महल में हजारों रानियाँ हैं, किन्तु राम की पत्नी सीता के पैरों की धोवन के समान भी कोई नहीं है । अर्थात् सीता अतुल सौन्दर्य की प्रतिमा है, और ऐसी स्त्री तुम्हारे रनिवास में नहीं आई तो फिर तुम्हारे इतने शक्तिशाली होने और बीस भुजाएँ रखने से क्या लाभ है ?”

बहन के द्वारा सीता के सौन्दर्य का वर्णन करने पर रावण विकारों के वशीभूत हो गया और साधु का वेश बनाकर छलपूर्वक सीता का हरण कर लाया । यद्यपि उस समय राम-लक्ष्मण कुटी में नहीं थे और रावण के द्वारा रचाए गये स्वर्ण-मृग के पीछे जा चुके थे । किन्तु फिर भी लक्ष्मण कुटी के चारों ओर एक रेखा खींच गये थे कि कोई भी अगर इसका उल्लंघन करेगा तो वहाँ अग्नि प्रज्वलित होगी और उस प्राणी को भस्म कर देगी ।

शक्तिशाली रावण भी जब साधु के वेश में सीता से भिक्षा की माचना करने गया तो उस रेखा का उल्लंघन नहीं कर सका और बोला—

“देवी ! साधु बँधी हुई भिक्षा नहीं लेता । अगर देना है तो इस रेखा से बाहर आकर दो ।”

सीता भोली और सरल थी । उसने यह बात मत्स्य समझी और साधु कहीं बिना भिक्षा के न लौट जाय इस डर से तुरन्त ‘लक्ष्मण-रेखा’ से बाहर आ गई । ठीक उसी समय रावण ने बलपूर्वक उसे उठाया और लंका में ले आया ।

जब राम और लक्ष्मण लौटकर आए तो देखा कि कुटिया खाली है, वहाँ सीता नहीं है । राम अत्यन्त दुखी हुए और इधर-उधर सीता को खोजने लगे । पर वहाँ आसपास सीता कहाँ थी ? वह तो समुद्र पार लंका में पहुँच चुकी थी । इतना अवश्य था कि रावण का एक नियम था—‘किसी स्त्री की इच्छा के बिना उससे बलात्कार नहीं करना ।’ और इस नियम के कारण उसने सीता की अशोक-वाटिका में रख दिया तथा उसे समझाने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ किये । स्वयं तो बार-बार आकर अपने ऐश्वर्य के अनेक प्रलीभन देकर उसे समझाता ही, अपनी रानी मन्दोदरी को भी उसने इस कार्य के लिए दबाव डाला । पर सीता महासती थी, वह कहाँ रावण की ओर देखने वाली थी ? वह तो अपने शीलधर्म पर अडिग बनी रही ।

इधर सीता की खोज में सन्तोष रूपी सुग्रीव ने, पाँचों यमरूपी जाम्बवान ने और सुमन जिसे कहा जा सकता है उस हनुमान ने राम की सहायता की । सुमन ही सुमति को पा सकता है अतः हनुमान सीता की खोज में मफल हो गये और लंका में आग लगाकर अपनी शक्ति का चमत्कार दिखाते हुए लौट आए । पर आकर बोले—“भगवन् ! माता सीता का पता तो लगाकर आया है, पर वह रावण की कैद में है जो कि अत्यन्त बलवान है ।”

यह जानकर राम ने दान, शील, तप एवं भावरूपी चतुरंगिणी सेना तैयार की और अपनी सेना के आगे नीति-रूपी पताका फहराती हुई रखी । सेना लेकर वे रावण पर विजय प्राप्त करके सीता को लाने के लिए रवाना हुए । सेना में स्वाध्याय का गम्भीर धोष हो रहा था ।

इधर जब रावण को राम के सेना सहित आने के समाचार मिले, तो वह भी शक्ति में कम नहीं था अतः उसने भी अपनी चतुरंगिणी सेना सजाई जो क्रोध, मान, माया और लोभ को मिलाकर बनायी गयी थी । सेना की पताका थी कुविचार यानी कुध्यान और अपकीर्तिरूपी नगारा बजाया जा रहा था ।

स्वयं मिथ्यामोहरूपी रावण कुशील के रथ में बैठा था तथा सप्त व्यसन

रूपी शस्त्र धारण किये हुए था। राग-द्वेष रूप बड़े-बड़े राक्षस उसके अंग-रक्षक थे। अपनी सेना को लेकर वह भी राम-लक्ष्मण का मुकाबला करने आ गया।

रावण के सामने आने पर, शील रूपी रथ पर बैठकर धीरज रूपी धनुष सत्यरूपी लक्ष्मण ने अपने हाथ में लिया और अपने बड़े भाई राम से बोले—

“भैया ! पहले मृगे ही रावण से निबटने की आज्ञा दें। अगर जरूरत होगी तो आपको कष्ट दूंगा, अन्यथा नहीं।” यह कहते हुए लक्ष्मण रावण का मुकाबला करने के लिए आगे बढ़े।

रावण ने सामने लक्ष्मण को देखकर अज्ञान-रूपी शक्ति-चक्र लक्ष्मण को मारने के लिए भेजा, पर लक्ष्मण वासुदेव थे और वासुदेव किसी के मारने से नहीं मरते अतः चक्र उनकी प्रदक्षिणा करके उन्हीं के हाथ में आ गया। अब लक्ष्मण ने उसी चक्र को ज्ञान-चक्र में परिवर्तित करके रावण पर चलाया और उससे रावण का अन्त हो गया।

आप जानते ही हैं कि सेनाएँ लड़ती हैं पर विजयश्री राजा का वरण करती है, अर्थात् विजय राजा की ही कहलाती है। धर्मरूपी राम के प्रति अटूट निष्ठा रखते हुए और परोक्ष रूप से उन्हीं का स्मरण करते हुए सत्यरूप लक्ष्मण ने रावण को मारा और उनकी सेना राम एवं लक्ष्मण की विजय-घोषणा करती हुई लौटी। होना ही यही था क्योंकि धर्मशास्त्र कहते हैं— ‘मृत्यमेव जयते’ सत्य की मदा जय होती है।

तो दस मुँह, बीस भुजाएँ एवं अपार शक्ति रखने वाला महाबली रावण हार गया क्योंकि उसके दस मिथात्व रूपी मुँह एवं बीस आश्रव रूपी भुजाएँ थीं, विषय-वामना एवं अभिमान रूपी इन्द्रजीत तथा मेघवाहन पुत्र थे और चार कषाय रूपी चतुरंगिणी सेना थी। और थी कुमतिरूपी वहन सूर्पणखा, जिसके भड़काने से उसने सीता का हरण किया था। इस प्रकार सम्पूर्ण द्रुमुर्गों को धारण करने वाला तथा ऐसा ही परिवार एवं अपनी सेना रखने वाला रावण देह से कितना भी शक्तिशाली होने पर भी साक्षात् धर्म रूप राम एवं सत्य रूपी लक्ष्मण के समक्ष कैसे टिक सकता था ?

आम्त्र भी हमें बताते हैं :—

धम्मंमि जो वढमई, सो सूरुो सत्तिओ वीरो य ।

य ह धम्मणिरुत्साहो, पुरिसो सूरुो सुवलिओऽपि ॥

—सूत्र० लि० ६०

अर्थात्—जो व्यक्ति धर्म में दृढ़निष्ठा रखता है, वस्तुतः वही बलवान है और जो धर्म में उत्साहहीन है, वह वीर एवं बलवान होते हुए भी न वीर है, न बलवान है ।

राम धर्म से ओतप्रोत या उससे अनन्य थे इसीलिए रावण पर विजय पा सके और रावण धर्म को भुला बैठा था तथा अपनी शारीरिक एवं भौतिक शक्तियों के चमड में चूर हो गया था अतः निर्बल साबित हुआ । वस्तुतः धर्म की महत्ता के विषय में शब्दों के द्वारा कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि उसका महत्त्व अवर्णनीय होता है ।

धर्मग्रन्थ भी यही कहते हैं कि :—

संकल्प्य कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं, फलं धर्मादवाप्यते ॥

—श्रामानुशासन २२

अर्थात्—कल्पवृक्ष से संकल्प किया हुआ और चिन्तामणि से चिन्तन किया हुआ पदार्थ प्राप्त होता है, किन्तु धर्म से असंकल्प्य एवं अचिन्त्य फल मिलता है ।

इसलिए बंधुओ ! हमें धर्म को जीवनसात् करके आज विजयादशमी के दिन से ही अधर्म पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न प्रारंभ कर देना चाहिए । पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने अपनी कविता के अंत में कहा है— धर्म रूप राम अपने बंधु सत्य एवं पत्नी सुमति को साथ लेकर निर्वाण पद रूपी अयोध्या में आए जहाँ किसी प्रकार का भय, दुःख या शोक नहीं था । आज भी आप लोग कहते हैं कि हमारे यहाँ पहले राम-राज्य था पर अब वह नहीं है ! राम-राज्य से अभिप्राय देश में अनीति, अधर्म, छल, बेईमानी और किसी भी प्रकार के दुःख, शोक या भय का न होना है । तो, राम की अयोध्या को कवि ने निर्वाणपुरी के सदृश बताया है तथा राम की कथा को बड़े मुन्दर ढंग से आध्यात्मिक विषय पर घटाते हुए मनुष्य को धर्म के द्वारा अधर्म पर विजय प्राप्त करने की सद्प्रेरणा दी है ।

जो भव्य पुरुष ऐसा करेगा यानी राम के समान अपने मन, वचन एवं कर्म में धर्म को रमा लेगा वह निश्चय ही मिथ्यात्व एवं आश्रय रूपी रावण पर विजय प्राप्त करता हुआ एक दिन शिवपुर की प्राप्ति करेगा ।

○

७

इहलोक मीठा, परलोक कोणे दिठा

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल विजयादशमी थी अतः हमने विचार किया था कि इसे कैसे मनाना चाहिए ? कल के दिन राम की रावण पर विजय हुई थी या यह भी कहा जा सकता है कि धर्म की अधर्म पर विजय हुई थी। धर्म की अधर्म पर विजय क्यों और कैसे हुई थी ? इस सम्बन्ध में मैंने पूज्यपाद, पंडितरत्न कविश्री त्रिलोककृषि जी महाराज की एक कविता के आधार पर आपको बताया था। कविश्री ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक एवं बड़े ही सुन्दर तथा मर्मस्पर्शी ढंग से आध्यात्मिक दृष्टिकोण सामने रखते हुए धर्मरूपी राम एवं अधर्मरूपी रावण की कथा या धर्म की अधर्म पर विजय की कहानी जिस प्रकार लिखी थी, वह मैंने आपके समक्ष रखने का प्रयत्न किया था।

आशा है उस आध्यात्मिक कथा को सुनकर आपके हृदय में भी हृद् विचार उत्पन्न हुआ होगा कि अगर हम भी अपनी आत्मा के स्वाभाविक धर्म को जागृत करें तो अधर्म को नष्ट करते हुए अपने दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक कर सकते हैं। मेरी भी यही कामना है कि प्रत्येक भुभुक्षु आध्यात्मिक दशहरा मनाए तथा राम नामक एक व्यक्ति और रावण नामक दूसरे व्यक्ति की ही यह कथा न मानकर धर्म की अधर्म पर विजय कैसे हुई इसका रहस्य समझे तथा अपने जीवन को धर्ममय बनाकर संवर-मार्ग पर चलते हुए समस्त मिथ्यात्व एवं आश्रवों पर पूर्ण विजय प्राप्त करे।

अब हम अपने बहुत दिनों से चले आ रहे मूल विषय संवर पर आते हैं। संवर के सत्तावन भेदों में से तीसवें भेद या बाईसवें और अन्तिम परिषद् की एक गाथा पर हमने विवेचन किया था। इकतीसवाँ है—‘दर्शन परिषद्’।

इस परिषद् को जीत न सकने वाले साधु या श्रावक अश्रद्धा के कारण यह चिन्तन करते हैं कि “परलोक है ही नहीं और इतने दिन तक त्याग-तपादि का अनुष्ठान करके मैंने भूल की है, अथवा मैं ठगा गया हूँ।” इस प्रकार के विचार वे ही अस्थिर मन वाले करते हैं जिनकी श्रद्धा डावाँडोल है। उनका कथन यही होता है—“परलोक एक युक्ति शून्य कल्पना-मात्र है और उसको स्वीकार करने वाले भ्रम में पड़कर इस लोक के सुखों से भी वंचित हो जाते हैं।”

‘इहलोक मीठा परलोक कोणे दिठा ?’

यह एक गुजराती की कहावत है और विचलित श्रद्धा वाले नास्तिकों के द्वारा गढ़ी गई है। इसमें यही कहा गया है कि परलोक देखा ही किसने है ? किसी ने भी तो वहाँ से आकर उसके विषय में कभी कुछ नहीं बताया। इसलिए जो दृष्टिगोचर ही नहीं है, उस मिथ्या कल्पना के प्रपंच में पड़कर इस जीवन को भी निरर्थक खोना कहाँ की बुद्धिमानी है ? सर्वोत्तम तो यही है कि केवल कल्पना के परलोक में सुखों की प्राप्ति कर लेने की आशा का त्याग करके इस लोक में अधिक से अधिक सुख प्राप्त किया जाय। कहा भी है—

लोकायता वदन्त्येवं, नास्ति देवो न निर्वृत्तिः ।

धर्माधर्मो न विद्येते, न फलं पुण्य-पापयोः ॥

पञ्चभूतात्मकं वस्तु, प्रत्यक्षं च प्रमाणकम् ।

नास्तिकानां मते नान्यदात्माऽमुत्र शुभाशुभम् ॥

अर्थात्—नास्तिकों की यह मान्यता है कि न कोई परमात्मा है, न मुक्ति है, न धर्म है, न अधर्म है और न ही पुण्य या पाप का फल कहीं भोगना पड़ता है। यह सम्पूर्ण जगत—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित है। इनके अतिरिक्त और कहीं कोई वस्तु नहीं है। इसके अलावा आगम या अनुमान कोई प्रमाण नहीं है, केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। निश्चय ही परलोक में जाने वाली कोई आत्मा नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष के अलावा सब अप्रामाणिक है।

इस बात को सुनकर या पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है कि नास्तिक व्यक्ति दृष्टिगोचर पदार्थ का ही अस्तित्व मानते हुए यह कैसे कहते हैं?—**चक्षुर्वः सत्यम्** यानी आँवों से दिखाई देने वाली वस्तु ही है, इसके अलावा कहीं और कुछ नहीं है।

अमेरिका को पहले किसी ने देखा नहीं था तो क्या वह देश था ही नहीं ? देखा तो तब गया जब उसकी खोज हुई। इसके अलावा लोग अपनी बात

पीढ़ियों के पुरखों को भी नहीं देखते, तो क्या वे थे नहीं ? दूर क्यों जायँ ? अपनी पीठ ही हमें दिखाई नहीं देती, पर क्या यह है नहीं ? अवश्य है और यही सब बातें साबित करती हैं कि आँखों से दिखाई नहीं देता तो भी परलोक है और पाप या पुण्य के अनुसार आत्मा उत्तम या निम्न गति में जाती है ।

राजा प्रदेशी

इस विषय में 'राजप्रश्नीय सूत्र' में राजा प्रदेशी का विस्तृत प्रसंग दिया गया है । प्रदेशी राजा पूर्णतया नास्तिक था । वह न ईश्वर को मानता था, न स्वर्ग-नर्क को, न पुण्य-पाप को और न ही परलोक में विश्वास करता था । और तो क्या अपने माता-पिता के प्रति भी उसमें विनय या आदर का भाव नहीं था । उसका कथन था—'जो राजा है, वही ईश्वर है तथा संसार का सुख ही स्वर्ग और दुःख ही नरक है ।'

अपने अज्ञान के कारण वह 'कूप-मंडूक' के समान विचार रखता था । कूप-मंडूक की कहानी आपने अनेक बार सुनी होगी । अतः उसे कहने की मैं आवश्यकता नहीं समझता । केवल यही कहना चाहता हूँ कि कुएँ में रहने वाला वह मेंढक उसे ही सम्पूर्ण संसार समझता था तथा कुएँ से बाहर सागर या अन्य और भी कुछ है, इस पर विश्वास नहीं करता था । क्योंकि उस कुएँ से बाहर उसकी दृष्टि नहीं जाती थी । पर उसके दृष्टिगोचर न होने से क्या यह कहा जा सकता था कि कुएँ से बाहर का इतना विशाल जगत् है ही नहीं, या लहराते हुए समुद्र भी कहीं नहीं हैं ? नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । मेंढक के न देख पाने से सम्पूर्ण जगत् के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता था ।

राजा प्रदेशी भी यह नहीं जानता था कि इस पृथ्वी पर जो है, वह केवल सैम्पल या नमूना मात्र है । कोई व्यापारी ग्राहक के आने पर गेहूँ या चावल का थोड़ा सा नमूना मुट्टी में लाकर बताता है, पर उससे यह साबित नहीं हो जाता कि माल बस उतना ही है । ग्राहक नमूने को देखकर यह कैसे जान सकता है कि व्यापारी के गोदाम में कितना माल है ? पर बिना देखे भी वह यह विश्वास रखता है कि व्यापारी के पास भंडार है ।

इसी प्रकार इस संसार में सुख और दुख का नमूना मात्र देख लेने से यह कैसे कहा जा सकता है कि यहाँ से अधिक सुख वाला स्वर्ग नहीं है और यहाँ के दुःखों से अधिक दुःख पहुँचाने वाला नरक भी नहीं हो सकता । कर्मों के अनुसार आत्मा को आगे जाकर भी सुख या दुख प्राप्त होते हैं । आप बम्बई से माल खरीदते हैं तो वहाँ जकात देनी पड़ती है और जब अपने गाँव में लाते हैं तो वहाँ की नगरपालिका को भी जकात या कर देना पड़ता है । क्या उस समय

आप कह सकते हैं कि हमने तो जकात एक स्थान पर चुका दी अब नहीं देंगे ? ऐसा आप नहीं कह सकते । इसी प्रकार पूर्व के कर्मों को लेकर जब आत्मा इस पृथ्वी पर आती है तो उनके अनुसार उसे सुख या दुःखरूपी फल भोगकर कर्ज चुकाना पड़ता है और जब यहाँ से जाती है तो जितने शुभ या अशुभ कर्म वह माल के रूप में साथ ले चलती है, आगे जाकर उनका भुगतान भी करना पड़ता है । जीव यह नहीं कहता कि कर्मों का सारा कर्ज हम पृथ्वी पर ही चुका आये हैं ।

परिणाम भिन्न-भिन्न क्यों ?

ध्यानपूर्वक विचारने की बात तो यह है कि अगर पंचभूतों के मेल से ही देह और चेतना का निर्माण हो जाता है तो फिर संसार में सभी प्राणी एक ही से क्यों नहीं होते ? सारे के सारे पशु या सभी मनुष्य ही क्यों नहीं बनते ? हम देखते हैं कि किसान या माली जो अनाज बोता है, उसी का पौधा उगता है तथा जिस फूल की कलम लगाई जाती है, उसमें वही फूल खिलता है, गेहूँ बोने पर गन्ना या गुलाब लगाने पर मोगरा नहीं उगता । इसी प्रकार सुनते हैं कि वैज्ञानिक लोग जब अनुसंधान करते हैं तो उनके प्रयोगों में जब वस्तुएँ एक दूसरी में मिलाई जाती हैं तो उनका परिणाम या मेल सदा एकसा ही होता है, कभी अलग नहीं हुआ करता ।

तो बंधुओ, पंचभूतों के मेल से भी प्राणी एक-सी देह क्यों नहीं पाता ? जब पाँच द्रव्य वही हैं तो एक प्राणी विशालकाय हाथी कैसे बन जाता है और दूसरा सुई की नोक से भी छोटा प्राणी क्यों बनता है ? क्यों संसार में पशु ही पशु, मनुष्य ही मनुष्य अथवा और किसी प्रकार के एक जैसे ही जीव नहीं होते ? दूसरे, मनुष्यों को ही अगर हम लें तो वे भी क्या एक-सरीखे होते हैं ? नहीं, किसी में तो इतनी तीव्र बुद्धि होती है कि वह महाविद्वान बन जाता है और किसी के दिमाग में मानों भूसा ही भरा रहता है । कोई असाधारण सौन्दर्य का धनी होता है और कोई जन्म से ही गूंगा, बहरा या अपंग । इसी प्रकार कोई दिन-रात परिश्रम करके भी पेटभर अन्न नहीं जुटा पाता और कोई जन्म से ही ऐश्वर्य की गोद में खेलता है । यह सब क्यों ?

यह इसीलिए कि प्राणी पाँच भूतों से ही निर्मित न होकर अपने पूर्व में कृत शुभाशुभ कर्मों का बोझ अनश्वर आत्मा के साथ लेकर आता है और उसी के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की देह और सुख अथवा दुःख पाता है । जो व्यक्ति इस बात को समझ लेता है वह आगे के लिए सचेत हो जाता है तथा अपने जीवन को धर्ममय, सद्गुण सम्पन्न और त्याग-तप युक्त बनाकर परलोक में साथ ले जाने के लिए शुभ कर्मों का संचय करने लगता है ।

नास्तिकों के कुतर्क

नास्तिक या श्रद्धाविहीन व्यक्ति अपने अशुभ कर्म-भार को और भी अधिक बढ़ा लेता है, क्योंकि वह परलोक की परवाह नहीं करता, अतः कहता है— “परलोक जब है ही नहीं तो फिर प्रत्यक्ष में मिली हुई इस जिवगी का आनन्द क्यों न उठाया जाय ? परलोक के काल्पनिक सुखों की आशा में प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सुखों को त्याग कर तप, संयम और त्यागादि से शरीर को कष्ट क्यों देना चाहिए ।” ऐसे व्यक्ति तो तप, त्याग, संयम, शील और साधना आदि का उप-हास करते हुए यह भी निस्संकोच कहते हैं कि—

अशक्तस्तु भवेत्साधुः, कुरूपं च पतिव्रता ।

व्याधितो देवभक्तश्च, निर्धनाः ब्रह्मचारिणः ॥

यानी—जो व्यक्ति कमाई करके उदरपूर्ति करने में असमर्थ है वह साधु बने । जिसे कोई पुरुष नहीं चाहता हो, ऐसी कुरूप स्त्री पतिव्रता रहे । इसी प्रकार रोगी व्यक्ति जो कि विषय-भोगों को भोगने में असमर्थ हो वह भगवान की भक्ति करता रहे और धन न होने के कारण जिसे स्त्री न मिल सकती हो वह भले ही ब्रह्मचारी बन जाय ।

खेद की बात है कि इस प्रकार की बातें करने वाले व्यक्तियों की संसार में कमी नहीं है और ऐसे विचार वाले अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुखों को ही सुख मानते हुए विषय-वासना के कीचड़ में पड़े रहते हैं और विषयासक्ति के कारण विविध व्यक्तियों के शिकार बनकर जीवन की अन्तिम बेला में पश्चात्ताप करते हैं । उस समय वे सोचते हैं कि हमने जीवन में जो घोर पाप किये हैं, न जाने उनका क्या परिणाम होगा ? पर उस समय, जबकि मृत्यु चील के समान मस्तक पर मँडराने लगती है और मौत के चंगुल में फँसे उस प्राणी को काम-भोगों की असारता समझ में आती है, तब फिर क्या हो सकता है ?

इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति को समय रहते ही चेत जानना चाहिए तथा शास्त्रकारों की बातों पर विश्वास करते हुए समझ लेना चाहिए कि—

सुदृढुवि मगिगज्जंतो, कत्थवि केलीइ नत्थि जहसारी ।

इंदियविसएसु तथा, नत्थि सुहं सुदृढुवि गविट्ठं ॥

—भवत परिभा, गा० १४४

अर्थात्—बहुत खोज करने पर भी जैसे कदली में कहीं भी सार नहीं मिलता, इसी प्रकार इन्द्रिय विषयों में भी तत्त्वज्ञों ने खूब खोज करके भी कहीं सुख नहीं देखा ।

जो भव्य प्राणी शास्त्रों के इन वचनों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं, वे कभी सच्चे देव, गुरु और धर्म पर अश्रद्धा नहीं रखते और हिंसा, चोरी, असत्य, कुशील, परिग्रह आदि दुर्गुणों को जीवन में उभरने नहीं देते। अपनी आत्मा और मन को विकारों से रहित बनाते हुए वे सांसारिक आसक्ति, लोलुपता तथा राग-द्वेषादि से परे रहते हैं एवं मिथ्याज्ञान या विपरीत श्रद्धान्ना का आश्रय लेकर जीवन को पतित नहीं होने देते।

अश्रद्धा का दुष्परिणाम

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
 प्रभवन्त्युप्रकर्माणः, क्षयाय जगतोहिता ॥
 काममाश्रित्य दुष्पूरं, दम्भमानमदान्विता ।
 मोहाद् गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिब्रताः ॥

कहा गया है— मिथ्याज्ञान के अवलम्बन से जिनका आत्म-स्वभाव नष्ट हो गया है और बुद्धि मन्द पड़ गई है वे सबका अपकार करने वाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

ऐसे वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी भी प्रकार से पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेते हुए अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके आचारभ्रष्ट होकर प्रवृत्ति करते हैं।

वस्तुतः परलोक को न मानने वाले व्यक्ति हिंसक बन जाते हैं और क्रूर से क्रूर कार्य करने में भी परहेज नहीं करते। राजा प्रदेशी भी ऐसा ही व्यक्ति था। वह न परलोक को मानता था और न अत्मा को; अतः उसके हृदय में दया या करुणा नाम की भावना ही नहीं थी। वह जीवों को हत्या करके देखा करता था कि इनके अन्दर आत्मा कहाँ है। दूसरे शब्दों में उसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे।

अधर्मी राजा की प्रजा भी कुछ तो उससे प्रभावित थी और कुछ जो धर्म-अधर्म, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि को मानने वाले व्यक्ति थे, वे भी राजा के भय से प्रत्यक्ष में धर्माचरण नहीं करते थे। राजा सेर था तो प्रजा को भी आघात तो होना ही था। सेर का सामना राज्य के व्यक्ति कर भी कैसे सकते थे? उससे मुकाबला तो संत-महात्मा जो पूर्णतया निर्भय होते हैं, वे ही सवासेर होने के कारण कर सकते थे।

पर विचार करने योग्य बात यही है कि संत भी निरर्थक ही उनकी साधना

में जहाँ बाधा पड़ती हो और धर्म के नाम पर अशांति का बातावरण बनता हो, उस क्षेत्र में विचरण नहीं करते। इसके अलावा जब वे चातुर्भास करते हैं तब भी सोलह बातों का ध्यान रखते हुए करते हैं। उन सभी को बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, पर उनमें से कुछ बातें हैं—जहाँ का राजा न्यायी हो, श्रावक सुलभ हों, पाखंड मत न हो या कम हो, निरवद्य मकान मिलता हो, भिक्षा निर्दोष मिल सकती हो और ज्ञान-ध्यान आदि की सुविधा हो ऐसे स्थानों पर ही संत वर्षाकाल व्यतीत करने की भावना रखते हैं।

तो, श्वेतांबिका नगरी का राजा प्रदेशी स्वयं ही अश्रद्धालु, अधर्मी और क्रूर था। अतः संतों का आगमन वहाँ कठिन था। जब राजा ही अन्यायी होगा तो बाकी सभी बातें संतों के अनुकूल किस प्रकार हो सकेंगी ?

चित्त बदल गया

संयोग की बात थी कि उस नास्तिक राजा का नास्तिक मन्त्री 'चित्त' एक बार श्रावस्ती नगरी के राजा जितशत्रु की सेवा में नजराना लेकर गया। वहाँ उस समय मुनि श्री केशी स्वामीजी महाराज विराज रहे थे। चित्त प्रधान को उनके उपदेश सुनने का मौका मिला और उन उपदेशों का चित्तमन्त्री पर इतना असर हुआ कि उसकी धर्म पर श्रद्धा हो गई और उसने श्रावक के व्रतों को भी ग्रहण कर लिया।

पर बन्धुओ ! प्रदेशी राजा के चित्त प्रधान ने जब धर्म का महत्त्व समझ लिया तथा उस पर दृढ़ आस्था रखते हुए सच्चा श्रावक भी बन गया तो अब उसके हृदय में उथल-पुथल मच गई और वह विचार करने लगा कि अपने राजा प्रदेशी को किस प्रकार धर्म के मार्ग पर लाऊँ ?

वस्तुतः सज्जन पुरुष औरों को भी सन्मार्ग पर लाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। क्योंकि—

'ददूष्णं अण्णदोसं, सप्पुरिसो लज्जिओसयं होइ' ।

—भगवती आराधना ३७२

—सत्पुरुष दूसरों के दोष देखकर स्वयं में लज्जा का अनुभव करता है।

गाथा में कितनी सुन्दर और यथार्थ बात कही गई है ? वास्तव में ही साधु-पुरुष औरों के दोषों को देखकर लज्जा का अनुभव तो करते ही हैं, कहणा से भी उनका हृदय भर जाता है। आप विचार करेंगे कि चित्त मन्त्री को भला राजा के लिए कहणा और दया मन में लाने का क्या कारण था ? दया तो निर्धन, रोगी, अपाहिज एवं दुःखी मनुष्यों पर आती है। प्रदेशी तो स्वयं राजा

धा, सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य का धनी था और किसी भी प्रकार का अभाव उसके जीवन में नहीं था ।

करुणा किसलिए ?

भाइयो ! सत्पुरुष या संत-महात्मा मानव को प्राप्त हुए भौतिक सुखों को देखकर ही निश्चिन्त नहीं रहते । वे जानते हैं कि सांसारिक सुख तो चंद दिनों के मेहमान हैं । वे यह देखते हैं कि व्यक्ति अपने जीवन में कैसी करनी कर रहा है ? अगर एक राजा भी पाप-पूर्ण आचरण करता है, और अपनी हिंसक-वृत्ति से अशुभ कर्मों का बंध करता है, तो वे यह विचार कर दुःखी होते हैं कि इसकी आत्मा इस जन्म के पश्चात् जन्म-जन्म तक घोर दुःख पायेगी और आत्मा को मिलने वाले उन दुःखों की कल्पना करके वह उसकी आत्मा के लिए तथा वैसी ही अन्य आत्माओं के लिए करुणा एवं दुःख से दयार्द्र हो जाते हैं ।

शास्त्रों में दया भी आठ प्रकार की बताई गई है, उनमें से ये हैं—स्व-दया और पर-दया । आप सोचेंगे स्व-दया भी कोई समझने की बात है? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि स्व-दया को तो बड़ी गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए ।

स्व-दया क्या है ? संसार में अधिकांश व्यक्ति इसे नहीं समझते और समझने की कोशिश भी नहीं करते । वे दया की भावना का उपयोग अन्य व्यक्तियों के सांसारिक दुःखों को दूर करने में करते हैं और अपने-आपको तो अधिक से अधिक सुख पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं । स्व-दया क्या होती है और इसमें कौन-सा रहस्य है, इसे जानना उन्हें जरूरी नहीं लगता और इसके लिए प्रयत्न भी वे नहीं करते ।

परन्तु मैं प्रसंगवश आपको बता रहा हूँ क्योंकि सम्भव है आपमें से बहुतों ने स्व-दया शब्द तो आज ही सुना होगा । स्व-दया का अर्थ है अपनी आत्मा पर दया करना । आपकी अपनी आत्मा है, शरीर नहीं । शरीर तो असंख्य बार मिल चुका है और मिलता भी रहेगा, पर आत्मा आपकी वही है और वह सदा आपकी ही रहेगी । अतः जो आपकी चीज है, उस पर दया करके उसे कर्म-बन्धनों से बचाना चाहिए और ऐसा करना ही स्व-दया है । शरीर को तो कितना भी सुरक्षित रखा जाय तथा पुष्ट बनाया जाय, यह तो एक दिन नष्ट होने वाला है । यह कमी भी आपकी आत्मा का साथ नहीं देगा । किन्तु अगर आप अपनी आत्मा पर दया करके शुभ-कर्म करेंगे तो, वे आत्मा के साथ चलेंगे और उसे परलोक में घोर कष्टों से बचायेंगे ।

अब बताइये ? स्व-दया का कितना भारी महत्त्व है ? अपनी आत्मा को जन्म-जन्मांतरों तक कष्टों से बचाना क्या स्व-दया नहीं है ? क्या व्यक्ति सहज

ही इसका महत्त्व समझ पाते हैं ? नहीं, वे केवल इसी जन्म के दुःखों या सुखों पर दृष्टिपात करते हैं और परलोक को न मानने वाले नास्तिक व्यक्ति तो स्व-दया को परिहास का विषय मानते हैं। इसीलिए हमारे शास्त्र दया की गम्भीर और यथार्थ विवेचना करते हुए प्रत्येक मानव को प्रतिबोध देते हैं।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि अपनी या पर की आत्मा की दया को ही व्यक्ति देखे और सांसारिक दृष्टि से जैसा कि अभी मैंने बताया था, अपाहिज, रोगी, निर्धन या शोकग्रस्त व्यक्तियों के प्रति दया या करुणा की भावना ही न रखे और उनके दुःखों को मिटाने का प्रयत्न न करे। व्यक्ति को ऐसे मनुष्यों के दुःखों और कष्टों को मिटाने का प्रयत्न तो सबसे पहले करना चाहिए, क्योंकि ये सभी शुभ-कर्म पुण्य का संचय करते हैं तथा उच्चगति में ले जाते हैं। पर इन प्रयत्नों के साथ ही व्रत, नियम, त्याग, संयम एवं तप आदि की आराधना करके मुमुक्षु आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का क्षय भी अवश्य करता चले जो कि आत्म-दया का मुख्य लक्षण है।

यह सत्य है कि पुण्य संचय करने पर स्वर्ग हासिल हो सकता है, लेकिन आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती। कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के लिए तो स्वर्ग-सुख रूपी सोने की बेड़ियों को भी तोड़ना ही पड़ेगा।

शास्त्रकार कहते भी हैं—

हेमं वा आयसं वावि, बंधनं दुक्ख कारणा ।

महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्ख संपदा ॥

—ऋषिभाषितानि, ४५.१५

—बन्धन चाहे सोने का हो या लोहे का, बन्धन तो आखिर बन्धन ही है। बहुत मूल्यवान डण्डे का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है।

याथा के वचन यथार्थ हैं। पुण्य-संचय करके भले ही जीव स्वर्ग की प्राप्ति कर ले और बहुत काल तक अपार सुखों का अनुभव करे, किन्तु वह लोक भी अन्त में छोड़ना पड़ता है और उससे जीव को असीम दुःख का अनुभव होता है। अतः सर्वोत्तम यही है कि मुमुक्षु प्राणी अधिकाधिक कर्मों की निर्जरा करने का प्रयत्न करे और पापरूपी लोहे की बेड़ियों को ही बेड़ियाँ न समझकर पुण्यरूपी सोने की बेड़ियों को भी बेड़ियाँ ही समझे और दोनों से बचने के लिए सच्ची साधना करे। तभी वह स्व-दया का पारखी समझा जा सकता है और 'स्व' पर यानी अपनी आत्मा पर दया करते हुए उसे सदा के लिए कर्ममुक्त कर शाश्वत सुख की प्राप्ति करा सकता है।

तो बन्धुओ, प्रसंगवश दया को लेकर हम अपनी मूल बात से कुछ दूर

हो गये हैं, किन्तु इसका सम्बन्ध हमारे विषय से ही है। मैं आपको यह बता रहा था कि प्रदेशी राजा के मंत्री चित्त ने जब धर्म के महत्त्व को समझ लिया तो उसने अविलम्ब श्रावक के व्रतों को ग्रहण किया और नास्तिकता के मार्ग से हटकर आस्तिकता के मार्ग पर चल पड़ा, इस प्रकार स्व-दया अपनाई। किन्तु इसके बाद ही उसे अपने राजा की फिक्र हो गई। उसने सोचा—“महाराज पूर्णतया नास्तिक हैं, अतः धर्माचरण नहीं करते, किन्तु वे नित्य आत्मा को देखने के लिए निर्दोष प्राणियों की हत्या किया करते हैं। हिंसा के इस क्रूर पाप के कारण उनकी आत्मा की परलोक में क्या दशा होगी? कितने घोर कष्टों को उसे भोगना पड़ेगा।”

इस प्रकार राजा प्रदेशी के किसी भौतिक दुख को लेकर नहीं, अपितु उसकी आत्मा को भविष्य में दुःख उठाने पड़ेंगे इस बात को सोचकर वह अत्यन्त चिंतित हो उठा, और विचार करने लगा कि उन्हें सुमार्ग पर लाने के लिए क्या उपाय किया जाय ?

चित्त की चतुराई

बहुत विचार करने पर चित्त मंत्री को सर्वप्रथम तो यही सूझा कि किसी प्रकार केशी स्वामी अगर हमारे नगर में पधारें तो सम्भव है कि हमारे महाराज के विचार बदल जायँ और वे अपने हिंसक कार्यों से बच सकें। यह बात मन में आने पर चित्त मंत्री ने अगले दिन ही केशी स्वामी से निवेदन किया—

“भगवन् ! आप हमारे नगर की ओर पधारने का कष्ट करें तो आपका बड़ा अनुग्रह होगा तथा हम लोगों का कल्याण हो सकेगा।”

केशी स्वामी ने कुछ सोच-विचार कर एक दृष्टांत सहित उत्तर दिया—
“मंत्रिवर ! जिस बगीचे में खाने के लिए फल-फूल हों और पीने के लिए स्वच्छ तथा निर्मल जल भी हो, अर्थात् सभी प्रकार की अनुकूलता हो, किन्तु वहाँ शिकारी जानवरों के आने का भय हो तो ऐसे स्थान पर पशु-पक्षी भी नहीं जाते, फिर विद्वान या बुद्धिमान् मनुष्य कैसे जायेगा ?”

केशी श्रमण आगे बोले—“चित्त ! तुम्हारा प्रदेश अच्छा है और वहाँ सभी प्रकार की सुविधाएँ हैं। धर्मात्मा पुरुष भी निवास करते हैं, पर राजा तो धर्म-विरोधी है। अतः वह हमारी साधना में विघ्न उपस्थित करेगा। ऐसी स्थिति में हम वहाँ आकर क्या कर सकते हैं ?”

चित्त मंत्री ने महाराज की बात ध्यान से सुनी किन्तु वह चतुर व्यक्ति था। अब पुनः प्रार्थना करते हुए बोला—

“महाराज ! राजा से आपको क्या अपेक्षा है ? श्वेताम्बिका नगरी में प्रथम तो मैं आपका अनुयायी शिष्य हूँ, दूसरे और भी अनेक धार्मिक व्यक्ति हैं। हम सब को तो आपकी सेवा का लाभ मिल सकेगा ! इसके अलावा आपके पदार्पण से वह अनार्य देश भी आर्य बन जायेगा।”

केशी स्वामी ने तब उत्तर दिया—“ठीक है द्रव्य, काल एवं भाव की अनुकूलता होने पर उधर आने का अवसर देखेंगे।”

चित्त मंत्री को केशी स्वामी के उत्तर से आशा बँध गई और उनके हृदय में अपार प्रसन्नता हुई। लौटते समय उन्होंने मार्ग में सभी गाँवों के व्यक्तियों को बताया कि संभवतः केशी स्वामी इधर पधारेंगे। इस सूचना के साथ ही उन्होंने संतों के ठहरने लायक स्थान के विषय में, विशुद्ध आहार एवं जल के विषय में भी समझाया कि संत किस प्रकार आहार-जल ग्रहण करते हैं ? इसी प्रकार अपने नगर के बाहर बगीचे के वनपाल को भी समी प्रकार की हिदायतें देते हुए आज्ञा दी कि ‘अपने शिष्यों सहित जब महाराज केशी स्वामी पधारें तो मुझे तुरन्त सूचना देना।’

हुआ भी ऐसा ही। महाराज अपने पाँच सौ शिष्यों के समुदाय सहित श्रावस्ती से श्वेताम्बिका नगर की ओर पधारे। मार्ग में आये हुए सभी ग्रामों को अपनी चरण-धूलि से पवित्र करते हुए तथा लोगों को कल्याणकारी उपदेश देते हुए वे श्वेताम्बिका नगर के बाहर बगीचे में आकर ठहरे।

वनपालक ने चित्त मंत्री के आदेशानुसार संतों को ठहरने का प्रबन्ध कर दिया और अविलम्ब जाकर प्रधानजी को स्वामीजी महाराज के आने की सूचना दी। चित्त मंत्री यह सूचना पाकर हर्ष के मारे फूले न समाये और शहर के सभी लोगों से कहा—

“नगर के बाहर महामुनि केशी श्रमण अपने पाँच सौ शिष्यों सहित पधारे हैं, अतः आप सब लोग उनके दर्शन, सेवा-भक्ति एवं सदुपदेशों का लाभ लें। कोई इस प्रकार का भय मत रखो कि हमारे महाराज नास्तिक हैं, अतः हमें सजा देंगे। मैं आप सबके साथ हूँ।”

मंत्री के इस प्रकार कहने पर नगर के लोगों के हृदयों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और सब प्रमुदित मन से केशी स्वामी के दर्शन व उपदेशों का लाभ लेने के लिए निस्संकोच जाने लगे। पर प्रधानजी को तो राजा को सुधारने की चिंता थी, अतः सुयोग पाकर उन्होंने स्वामी जी महाराज से प्रार्थना की—

“भगवन् ! आपके यहाँ पधारने से लोगों को अपार प्रसन्नता हो रही है और सभी यथाशक्य लाभ उठा रहे हैं, किन्तु सबसे बड़ा लाभ तो आपके अनु-

ग्रह से तभी हो सकेगा जबकि हमारे महाराज प्रदेशी बोध प्राप्त करें। जिस देश का राजा धर्मात्मा होता है उसकी प्रजा भी शीघ्र सुधर जाती है। अतएव कृपा करके आप राजा साहब को उपदेश सुनाने का अवसर प्रदान करें।”

केशी श्रमण बोले—“भाई ! उपदेश देना तो संतों का कर्तव्य ही है, पर इसके लिए चार बातें आवश्यक हैं : (१) राजा हमारे उपाश्रय में आए ; (२) जहाँ हम ठहरे हैं, वहाँ आकर पहुँचे (३) जब मुनिराज आहार के लिए निकलें तो दिनय प्रदर्शित करे; और (४) मुनि को अपने हाथ से कुछ दान करे। इस प्रकार चारों में से अब बताओ कि तुम्हारे राजा कौनसा कार्य कर सकते हैं ?

गुरुदेव की यह बात सुनकर चित्त मंत्री का चेहरा उदास हो गया और वे बड़े दुःख सहित बोले—

“भगवन् ! अपनी नास्तिकता के कारण महाराज आपके उपाश्रय में नहीं आ सकते, आपके समीप बगीचे में नहीं पहुँच सकते, मुनिराज को देखकर दिनय भी प्रदर्शित नहीं कर सकते और जबकि वे मुनि को मुनि ही नहीं समझते तो फिर अपने हाथों से दान किस प्रकार देंगे ?”

“तब फिर हम उन्हें उपदेश कैसे दे सकते हैं, भला तुम्हीं बताओ ?”

स्वामीजी की यह बात सुनकर प्रधान जी को बड़ी चिन्ता एवं व्याकुलता हुई कि किस प्रकार राजा को गुरुदेव के समीप लाया जाय ? पर वे एक राज्य के मंत्री थे अतः बुद्धिमान थे। उन्होंने राजा को महाराज के पास लाने का कोई और उपाय सोचना प्रारम्भ किया तथा उसके अनुसार एक दिन चित्त ने अपने महाराज प्रदेशी से निवेदन किया—

“हुजूर ! कम्बोज देश से जो घोड़े नजराने में आये हैं, एक दिन आप स्वयं ही उनकी चाल देखकर परीक्षा कर लीजिये।”

प्रदेशी ने उत्तर दिया—“यह तो ठीक है मंत्रिवर ! आप जब कहें तब हम घोड़ों की परीक्षा के लिए चलेंगे।”

मंत्री यही तो चाहता था। उसने प्रोग्राम बनाया और एक दिन प्रातःकाल कम्बोज से आये हुए उत्तम एवं पानीदार घोड़ों को रथ में जुतवाकर राजा प्रदेशी को रथ में बैठकर चलने का अनुरोध किया। प्रदेशी सहर्ष रथ पर बैठा और चित्त मंत्री ने सारथी का स्थान ग्रहण किया। घोड़े इशारा पाते ही हवा से बातें करने लगे और राज्य से बहुत दूर निकल गये। राजा उनकी चाल आदि देखकर बहुत प्रसन्न हुआ किन्तु घोड़ों के लगातार बिना रुके दौड़ते चले जाने से वह कष्ट का अनुभव करने लगा। अतः बोला—“प्रधान जी ! ये कैसे घोड़े

नजराने में आये हैं ? रुकने का नाम ही नहीं लेते । अब जल्दी लौट चलो, मैं परेशान हो गया हूँ ।”

मंत्री ने रथ को पुनः राज्य की ओर मोड़ दिया और वहाँ से भी सरपट लाते हुए ठीक राज्य के बगीचे पर घोड़ों को रोकते हुए कहा—“महाराज ! आप बहुत थक गये हैं अतः अपने बगीचे में कुछ समय विश्राम कर लीजिये, तत्पश्चात् हम महल को लौट चलेंगे ।”

राजा ने इसे स्वीकार कर लिया और रथ से उतरकर बगीचे में प्रवेश किया । पर वह यह देखकर चौंक पड़ा कि बगीचे में बिलकुल सामने ही कोई साधु ऊँचे आसन पर बैठे हैं तथा उनकी प्रजा के बहुत सारे व्यक्ति सामने बैठे हुए संत के द्वारा दिया गया उपदेश दत्तचित्त होकर सुन रहे हैं ।

राजा ने तुरन्त मंत्री से पूछा—“ये संत कौन हैं और क्या उपदेश दे रहे हैं ?”

चित्त मंत्री मन में बहुत प्रसन्न था । अपने बनाये हुए प्रोग्राम के अनुसार वह राजा को ठीक प्रवचन के समय केशी श्रमण के यहाँ ले आया था । यही वह चाहता था कि राजा संत की प्रवचन सभा के समय ही वहाँ पहुँचे और उनके हृदय में प्रवचन के लिए कौतूहल जागृत हो । हुआ भी वही । राजा ने पूछ लिया—“ये क्या उपदेश दे रहे हैं ।”

मंत्री ने मन की प्रसन्नता को मन में ही छिपाते हुए शांतभाव से उत्तर दिया “मैं ठीक तो बता नहीं सकता महाराज, पर सुनते हैं कि ये संत बड़े महान् एवं ज्ञानी होते हैं तथा लोक-परलोक, पुण्य-पाप आदि के विषय में बताते हैं तथा यह भी बताते हैं कि शरीर और आत्मा निश्चय ही भिन्न-भिन्न हैं ।”

“ऐसा कभी नहीं हो सकता,” महाराज ने कहा ।

“क्या पता हुआ ? पर ये तो ऐसा ही कहते हैं तथा इसी बात को समझते हैं ।”

यह सुनकर राजा को कौतूहल हुआ कि किस प्रकार ये साधु आत्मा को शरीर से अलग बताते हैं, अतः उन्होंने कहा—“क्या मैं इनसे कुछ प्रश्न पूछ सकता हूँ ?”

अंधे को क्या चाहिए ? दो आँखें । मंत्री यही तो चाहता था, अतः तुरन्त बोला—“क्यों नहीं पूछ सकते, महाराज ? अवश्य पधारिये । संत तो प्रत्येक समस्या का समाधान करते ही हैं ।” ऐसा कहकर वह राजा को उपदेश-स्थल पर केशी मुनि के समक्ष ले आया ।

राजा मुनिराज के सामने तो पहुँच गया, पर घमंड के भारे बिना नमस्कार आदि किसी प्रकार का विनय किये, सीधा प्रश्न कर बैठा—“क्या आप आत्मा और शरीर को अलग मानते हैं ?”

बंधुओ, संत कमी आदर, सम्मान या नमस्कारादि के भूखे नहीं होते, किन्तु चित्त मंत्री की प्रार्थना के अनुसार उन्हें राजा को रास्ते पर लाना था, अतः अपनी सहज सौम्यता एवं मधुर मुस्कान के साथ बोले—

“राजन् ! आपके प्रश्नों का मैं भली-भाँति उत्तर दूँगा, किन्तु प्रश्न पूछने से पहले आपको ध्यान रखना चाहिए कि सज्जन पुरुष सदा शिष्टाचार का पालन करते हैं। आप तो एक देश के राजा हैं और जानते ही हैं कि अगर आपके दरबार में कोई भी आपके समक्ष आता है तो सर्वप्रथम आपको प्रणाम या अभिवादन करके ही अपनी बात आपके सामने रखता है। फिर यह तो धर्म-सभा है और आप एक संत के समक्ष खड़े हैं। इस स्थिति में आप स्वयं सोच सकते हैं कि प्रश्न पूछने से पहले आपको किस प्रकार अपने उपयुक्त शिष्टाचार का पालन करना चाहिए ?”

राजा प्रदेशी अपनी भूल को समझ गया और यह भी समझ गया कि महाराज की बात यथार्थ है, किसी भी व्यक्ति को शिष्टाचार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, फिर मैं भी तो एक मुनि के सामने आया हूँ और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करना चाहता हूँ, अतः नमस्कार न करके मैंने गलती की है। इन विचारों के परिणामस्वरूप राजा ने केशी स्वामी को नमस्कार किया और कहा—

“मुझसे वास्तव में भूल हुई महाराज ! पर क्या मैं अब आपके समीप बैठकर कुछ प्रश्न कर सकता हूँ ?”

केशी श्रमण ने उत्तर दिया—“अवश्य कर सकते हो राजन् ! प्रसन्नतापूर्वक बैठो, बगीचा भी तो तुम्हारा ही है, हम तो थोड़े समय के लिए ठहरे हैं।”

प्रत्यक्ष में तो केशी श्रमण ने राजा को सहर्ष बैठने की तथा प्रश्न पूछने की अनुमति दी ही, साथ ही मन में विचार किया कि राजा में लोक-व्यवहार, मर्यादा एवं विनय की भावना अभी सर्वथा मरी नहीं है और प्रयत्न करके समझाने तथा उपदेश सुनने पर यह अवश्य ही सन्मार्ग पर आ सकता है।

उपदेश के अयोग्य कौन ?

गौतम कुलक ग्रन्थ में उपदेश किसे नहीं देना चाहिए इस विषय में कहा गया है—

अरोइ अत्यं कहिये विलावो,
 असम्पहारे कहिये विलावो ।
 विक्खित्तचित्ते कहिये विलावो,
 बहुकुसीसे कहिये विलावो ॥

श्लोक में बताया गया है कि चार प्रकार के व्यक्तियों को उपदेश देना विलाप या प्रलाप है, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह निरर्थक चला जाता है ।

ऐसे व्यक्तियों में प्रथम वे आते हैं, जिनकी उपदेश सुनने में रुचि ही नहीं होती । अरुचि रखने वाले व्यक्तियों को उपदेश देना भ्रम के आगे वीणा बजाने के समान व्यर्थ होता है । दूसरी तरह के व्यक्ति वे होते हैं जो थोड़ी-बहुत रुचि और कुछ लोक-व्यवहार के कारण उपदेश सुन तो लेते हैं, किन्तु उसे ग्रहण नहीं करते तथा इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं । ऐसे व्यक्तियों को उपदेश देना भी व्यर्थ प्रलाप करना है । तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं, जिनका चित्त विक्षिप्त होता है । कुछ बुद्धि की जड़ता, कुछ संस्कारों का अभाव एवं कुछ मिथ्याभ्रम और संदेहों को चित्त में रखने वाले विक्षिप्त लोगों को उपदेश देना भी व्यर्थ तथा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना होता है । वे उपदेश सुन भी लें तो अपनी सनक के कारण उसका कुछ भी लाभ नहीं उठा पाते ।

अब चौथे प्रकार के व्यक्ति आते हैं, जिनके सामने भी उपदेश देना व्यर्थ है । श्लोक में कुशिष्यों को इस प्रकार के व्यक्ति कहा गया है । कहते हैं—बहुत सारे अयोग्य शिष्य एकत्र हो जायें, तब भी गुरु का उपदेश देना चिकने घड़े पर पानी डालने के समान हो जाता है । यद्यपि कुशिष्य तो एक भी हो तो वह उनके लिए परेशानी और उपाधि का कारण बन जाता है अगर वैसे ही बहुत से हों, तब तो फिर कहना ही क्या है ? उन सबसे माथा-पच्ची करने में ही गुरु का समय नष्ट हो जाएगा तो वे अपनी संयम-साधना कब करेंगे ?

विनीत या सुयोग्य और अविनीत या कुयोग्य शिष्य को शिक्षा अथवा उपदेश देने पर गुरु किस प्रकार सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, इस विषय में 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में एक बड़ी सुन्दर गाथा दृष्टांत सहित दी गई है—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व बाहए ।

बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व बाहए ॥

—अध्ययन १, गाथा ३७

इस गाथा में घुड़सवार का उदाहरण देते हुए बताया गया है कि—विनीत एवं बुद्धिमान शिष्यों को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है, जिस प्रकार 'मद् हय' अर्थात् मद्र घोड़े पर सवारी करता हुआ घुड़सवार प्रसन्न होता है।

इसके विपरीत 'बाल' यानी मूर्खों एवं अविनीतों को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार 'सम्मइ' यानी कष्ट पाता है, जिस प्रकार 'गलियस्स' अर्थात् दुष्ट अश्व पर सवार होने वाला व्यक्ति दुःखी होता है।

तो बन्धुओ, गाथा के अनुसार मद्र घोड़े के समान सुशिष्य को और दुष्ट घोड़े के समान कुशिष्य को समझना चाहिए। जो कुशिष्य होते हैं, वे न तो स्वयं ही गुरु के द्वारा ज्ञान हासिल कर पाते हैं और न ही गुरु को सुख पहुँचाते हैं, उलटे दुःख का कारण बनते हैं।

इसलिए साधु-पुरुष उपदेश या ज्ञान-दान देने से पहले लेने वाला योग्य है या नहीं, इसका भी विचार करते हैं। केशी श्रमण भी प्रदेशी राजा से संक्षिप्त वार्त्तालाप करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजा में बुद्धि, विनय तथा शालीनता का सर्वथा अभाव नहीं है और प्रयत्न किये जाने पर तथा ठीक ढंग से समझाने पर इसके हृदय में छिपे हुए सद्गुण प्रगट हो सकते हैं।

आत्मा अनेकानेक गुणों की खान होती है, पर आवश्यकता उस खान में से सद्गुणरूपी रत्नों की खोज कर उन्हें पहचानने एवं बाहर लाने की होती है। सच्चे गुरु भी शिष्य के हृदय में छिपे हुए अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करके ज्ञानरूपी दीपक प्रज्वलित करते हैं, जिसके प्रकाश में सद्गुणरूपी रत्न दिखाई देने लगते हैं।

केशी स्वामी भी राजा प्रदेशी के हृदय में सम्यक्ज्ञान एवं विवेक की ज्योति जलाने का विचार करते हुए उन्हें अपने समक्ष बैठने तथा प्रश्न पूछने की आज्ञा प्रदान करते हैं।

अब राजा किस प्रकार प्रश्न करेंगे, और किस प्रकार महामुनि उनका समाधान करेंगे? यह अगली बार बताया जा सकेगा, क्योंकि आज समय हो चुका है। ॐ शांति !



अपराधी को अल्पकाल के लिए भी छुटकारा नहीं होता

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारे प्रवचनों का मूल विषय तो संवर के सत्तावन भेदों में से इकतीसवाँ भेद 'दर्शन परिपह' चल रहा है और उसे लेकर भगवान ने फरमाया है कि भिक्षु यह चिन्तन कभी न करे कि—'परलोक नहीं है !'

भगवान की यह बात केवल भिक्षु या साधु के लिए ही नहीं है; अपितु श्रावकों के लिए भी है। क्योंकि श्रावकों का और साधुओं का जीवन-लक्ष्य एक ही है और वह है—आस्रव का त्याग करके संवर की आराधना करते हुए कर्मों की निर्जरा कर मुक्ति हासिल करना। भले ही साधु अगर सम्यक् प्रकार से संयम का पालन करे तो कुछ तीव्र गति से मुक्ति-पथ पर बढ़ सकता है और श्रावक पूर्णतया व्रतों का पालन न कर पाने के कारण धीमी गति से चले, पर दोनों का मार्ग एक ही है। हमारा इतिहास तो ऐसे कई उदाहरण भी बताता है, जिनसे मालूम होता है कि अनेक श्रावक बिना संयम ग्रहण करके भी केवल ज्ञान को प्राप्त कर चुके थे।

इसलिए परलोक नहीं है, ऐसा चिन्तन न साधु को करना चाहिए और न श्रावक को। क्योंकि जो भी व्यक्ति ऐसा विचार करेगा, वह पाप से कभी नहीं डरेगा तथा अपने जीवन को दुर्गुणों से युक्त बनाकर पापों का संचय कर लेगा तथा परलोक में दुःखी बनेगा।

कल मैंने आपको बताया था कि राजा प्रदेशी पूर्णतया नास्तिक था। वह न परलोक को मानता था और न ही आत्मा का कोई अस्तित्व शरीर से भिन्न समझता था। उल्टे, लोगों के मुँह से यह सुनकर कि आत्मा शरीर से भिन्न है

और शरीर के नष्ट हो जाने पर वह परलोक गमन करती है। राजा प्रदेशी प्राणियों को मार-मारकर उनके शरीरों में आत्मा की खोज करता था तथा उसे किसी के भी शरीर में न पाकर आस्तिकों का परिहास किया करता था।

किन्तु प्रदेशी राजा का चित्त नामक मंत्री जो कि केशी श्रमण के दर्शन करके और उनका उपदेश सुनकर नास्तिक से आस्तिक हो गया था, वह अपने राजा को भी धर्म के मार्ग पर लाने के लिए कटिबद्ध हो गया। अपने उद्देश्य को सफल करने के लिए उसने श्रावस्ती में विराजित केशी स्वामी से अपनी श्वेताम्बिका नगरी में पधारने का अत्यधिक आग्रह किया और उनके पधारने पर कम्बोज देश के घोड़ों की चाल देखने के बहाने से किसी प्रकार राजा को केशी श्रमण की प्रवचन-सभा में ले गया।

राजा ने पहले तो मुनिराज को नमस्कार ही नहीं किया और आत्मा के विषय में सीधा प्रश्न पूछा। किन्तु मुनिराज के यह बताने पर कि धर्म-सभा में सर्वप्रथम किस प्रकार शिष्टाचार एवं विनय रखना चाहिए, वह समझ गया और तत्पश्चात् केशी स्वामी से बैठने की आज्ञा लेकर अपना प्रश्न पूछने की इजाजत चाही। इजाजत सहर्ष मिल गई। आज हमें यह देखना है कि राजा ने किस प्रकार अपना प्रश्न मुनिराज के सामने रखा ?

आत्मा शरीर से भिन्न कैसे ?

राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से प्रश्न किया -- “महाराज ! आप आत्मा को शरीर से अलग मानते हैं, वह क्यों ?”

“इसीलिए कि वह शरीर से अलग ही होती है। अगर आत्मा शरीर से अलग न होती तो शरीर कभी चेतना रहित न होता। किन्तु हम देखते हैं कि जब तक आत्मा शरीर में विद्यमान रहती है तभी तक वह गति करता है और उसके अलग हो जाने पर निश्चेतन हो जाता है।” केशी स्वामी ने उत्तर दिया।

राजा ने फिर प्रश्न किया -- “आपके कथनानुसार मरने पर आत्मा शरीर से अलग हो जाती है तो फिर उसका क्या होता है ?”

“राजन् ! आत्मा शाश्वत है वह समाप्त नहीं होती यानी मरती नहीं, पर व्यक्ति जैसे कर्म करता है उनके अनुसार अन्य गतियों में जाकर भिन्न-भिन्न देहों को धारण करती है तथा कर्मानुसार सुख या दुःख भोगती है। अगर व्यक्ति शुभ-कर्म करता है तो आत्मा स्वर्ग में देवगति के सुख प्राप्त करती है और अगर व्यक्ति जीवन में पाप कर-करके अशुभ कर्मों का संचय कर लेता है तो यह

देह छोड़ने के पश्चात् उसकी आत्मा नरक में जाकर घोर दुःख भोगती है। इसके अलावा जो मव्य प्राणी अपने समस्त शुभाशुभ-कर्मों का क्षय कर लेते हैं, उनकी आत्मा पूर्णतया कर्म-मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेती है। मोक्ष में जाने के पश्चात् आत्मा को फिर जन्म-मरण नहीं करना पड़ता क्योंकि उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाती है।”

केशी श्रमण की बात सुनकर प्रदेशी ने अपना अगला प्रश्न किया—

“महाराज ! जब आप यह मानते हैं कि व्यक्ति के शुभ कर्म करने पर उसकी आत्मा स्वर्ग में और अशुभ कर्म करने पर नरक में जाती है, तब तो मेरे दादा जी जो कि धर्म-कर्म कुछ मानते ही नहीं थे और कभी परोपकारादि अच्छे कार्य नहीं करते थे जिन्हें आप पुण्य का कारण कहते हैं, वे नरक में गये होंगे ?”

“गये होंगे क्या ? निश्चय ही नरक में गये हैं।” केशी स्वामी ने अविलम्ब उत्तर दिया।

“पर अगर वे अपने बुरे कार्यों के कारण नरक में गये हैं तो उन्होंने कभी आकर मुझे क्यों नहीं कहा कि—

“तुम अन्याय, अनीति या अन्य पापकर्म मत करना अन्यथा मेरी तरह तुम्हें भी घोर दुःख उठाने पड़ेंगे। मेरे दादाजी का तो मैं बड़ा प्यारा पौत्र था। वैसे भी संसार में देखा जाता है कि घर के बुजुर्ग, जिस कार्य से हानि होती है, उसे न करने की बच्चों को सीख अवश्य देते हैं, पर कभी दादाजी ने आकर मुझे नरक और उसके दुःखों के विषय में बताते हुए यह नहीं कहा। इसलिए मैं समझता हूँ कि वे नरक में नहीं गये हैं और मेरे विचार में नरक तो कहीं है ही नहीं।”

राजा की यह बात सुनकर केशी श्रमण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—
“राजन् ! तुम्हारी पटरानी सूर्यकांता है न ?”

“हाँ महाराज !” राजा कुछ गर्वपूर्वक बोला। वे सोच रहे थे कि मैं कितना प्रसिद्ध हूँ जो मेरी पटरानी तक के विषय में सभी लोग, यहाँ तक कि संत-मुनि भी जानते हैं, पर वे यह नहीं जानते थे कि केशी स्वामी चार ज्ञान के धारक हैं और दूसरे व्यक्तियों के मन की बात भी जान लेते हैं। इसके अलावा संत निडर होते हैं और सत्य कहने से कभी पीछे नहीं हटते, चाहे कोई उन्हें मरणा-न्तक कष्ट भी क्यों न दे ! ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि मृत्यु से उन्हें रंच मात्र भी भय नहीं होता। वे मौत का केवल पुराना वस्त्र खोलकर नया

पहन लेने जितना ही महत्त्व समझते हैं। अर्थात् पुरानी देह छूटेगी तो नई मिल जायेगी यही भाव उनके मन में रहता है।

भगवद्गीता में कहा भी है—

वासंसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

अर्थात्—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त करता है।

मृत्यु के प्रति ऐसी निर्भयता होने पर ही ज्ञानी पुरुष उसकी भयंकरता पर विजय प्राप्त कर सकता है तथा काल रूप शत्रु के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप एवं समभाव रूपी साधनों के साथ तैयार रहता है।

किन्तु जो व्यक्ति अपनी जिन्दगी में परलोक के विषय में नहीं सोचता तथा पापों का अटूट भंडार जमा कर लेता है वह कभी मृत्यु के समय निर्भय नहीं रह सकता। मौत से भय किसको ?

एक लघु कथा है कि किसी नरभक्षक ने कुरु देश के राजकुमार सुतसोम को पकड़ लिया और उसे मारने की तैयारी करने लगा। उस समय उसकी आँखों में आंसू आ गये।

यह देखकर नरभक्षक अट्टहास करता हुआ बोला—“अरे बाह ! क्षत्रिय का बेटा होकर भी मरने से डर रहा है ?”

ये व्यंग्यात्मक वचन सुनकर राजकुमार ने निडरतापूर्वक कहा—“मैं मृत्यु से कदापि नहीं डरता। मुझे केवल इस बात का दुःख है कि मैंने एक ब्राह्मण को दान देने का वचन दिया था और उसे ही देने जा रहा था, पर तुम्हारे द्वारा पकड़ लिए जाने से मेरा वचन भंग हो जाएगा और ब्राह्मण बेचारा अभावग्रस्त बना रहेगा। इसलिए अगर तुम मुझे कुछ समय के लिए छोड़ दो तो मैं अपने वचनानुसार ब्राह्मण को कुछ द्रव्य दे आऊँ।”

नरभक्षक ने कहा—“मुझे बेवकूफ समझते हो ? एक बार छोड़ देने पर तो फिर तुम्हारी छाया भी मुझे कभी नजर न आएगी।”

“मैं क्षत्रिय राजकुमार हूँ। कभी वचन-मंग नहीं कर सकता। इच्छा हो तो एक बार परीक्षा करके देख लो।”

उस राक्षस को राजकुमार के दृढ़ वचन सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ और उसने सोचा—“क्या हर्ज है? एक बार इसकी परीक्षा ही कर लूँ। कदाचित्त यह लौटकर नहीं भी आया तो मेरी क्या हानि हो जाएगी? इस वन में लोग भूले-भटके आते ही रहते हैं। एक के बदले चार को मार डालूँगा।” यह विचार कर उसने राजकुमार को अपना काम करके लौट आने तक के लिए छोड़ दिया।

कुछ दिन बाद उसने देखा कि कुरु देश का वही राजकुमार उसे खोजता हुआ उसके सन्मुख आ खड़ा हुआ है। साथ ही नरभक्षी ने देखा कि राजकुमार का चेहरा उस दिन के समान उदास और दुःखी नहीं है; बल्कि फूल के समान मिला हुआ है और उस पर अपार तृप्ति तथा संतुष्टि के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। आश्चर्य के साथ वह पूछ बैठा—

“राजकुमार! मुझे तुम्हारे लौटने की तनिक भी आशा नहीं थी। क्या तुम्हें मृत्यु का भय नहीं है? मैं तो हमेशा व्यक्तियों को मरते समय रोते-चीखते ही देखता हूँ।”

राजकुमार अपनी उसी प्रसन्नता और शांतिपूर्ण स्निग्धता से बोला—“माई सचमुच ही मैं मृत्यु से नहीं डरता, क्योंकि अपने अब तक के जीवन में मैंने कोई भी दुष्कृत्य नहीं किया है, जिसके कारण मरने पर परलोक में किसी प्रकार का दुःख उठाना पड़े। अब तक का सम्पूर्ण जीवन मैंने संयम एवं सदाचार पूर्वक बिताया है, ऐसी स्थिति में मला मरने से मैं क्यों डरूँगा? मृत्यु का भय तो केवल उन्हीं लोगों को होता है जो पाप-पुण्य एवं परलोक में विश्वास न रखने के कारण जीवन में सदा पापाचरण करते हैं तथा क्रूरता के कारण भयंकर से भयंकर कृत्य करने में भी पीछे नहीं हटते। परिणाम यही होता है कि उन व्यक्तियों को मरते समय अपने पापों के लिए पश्चात्ताप तो होता ही है, साथ ही यह भय बना रहता है कि जीवन भर किये हुए पापों के कारण परलोक में मुझे न जाने कैसे घोर कष्ट भोगने पड़ेंगे।”

नर-हत्यारे ने जब राजकुमार के ये शब्द सुने तो उसकी आँखें खुल गईं और उसे महसूस होने लगा कि—“मैंने तो न जाने कितने लोगों की जानें ली हैं तथा असंख्य पाप संचय कर लिये हैं। पर अब भी अगर नहीं चेता तो फिर मेरी परलोक में क्या दशा होगी?” यह विचार आते ही उसने राजकुमार को अनेकानेक धम्यवाद देते हुए उसे तो छोड़ ही दिया साथ ही अपने जीवन को

भी बदल डाला तथा किये हुए पापों के लिए घोर पश्चात्ताप करते हुए तप एवं त्यागमय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया ।

बन्धुओं, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपने जीवन में कुकृत्य नहीं करते तथा पाप की छाया भी न पड़ जाय इस डर से अपने मन, वचन एवं शरीर को पूर्णरूप से अपने काबू में रखते हुए देव, गुरु एवं धर्म पर श्रद्धा रखते हैं, वे परलोक से निर्भय रहते हुए वीतराग के वचनों का स्पष्ट एवं सत्य रूप से स्वयं तो पालन करते हैं, साथ ही औरों के समक्ष भी निडरता पूर्वक यथार्थ को प्रगट कर देते हैं । ऐसे साधु-पुरुष किसी से डरते नहीं और सत्य को प्रकट करने के लिए किसी का लिहाज भी नहीं करते । चाहे उनके सामने रंक हो या राजा ।

केशी श्रमण भी चार ज्ञान के धारक एवं संयमनिष्ठ साधक थे । अतः उन्होंने राजा प्रदेशी को बोध देने के लिए उनकी रानी सूर्यकान्ता का उदाहरण देते हुए निर्भयतापूर्वक कहा—

“राजन् ! अगर किसी व्यभिचारी व्यक्ति को तुम अपनी पटरानी के साथ कुशील सेवन करते हुए देख लो तो क्या करोगे ?”

राजा संत की यह बात सुनकर एकदम चौंक पड़ा । क्या किसी देश के राजा से इस प्रकार की बात कहने का साधारण व्यक्ति में साहस हो सकता है ? नहीं, राजा के सामने इस प्रकार की बात कहना तो दूर, पूरी होने से पहले ही संभवतः उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाता । पर, साधु को किसका डर ? उन्हें प्रदेशी को समझाने के लिए इस प्रकार का उदाहरण देना आवश्यक था अतः उन्होंने दिया और राजा ने संत से प्रभावित होते हुए यही उत्तर दिया—

“महाराज, उस व्यक्ति का और क्या किया जाएगा ? उसे तो क्षणमात्र का भी विलम्ब किये बिना मौत के घाट उतारा जाएगा ।”

“पर माई ! अगर वह व्यभिचारी व्यक्ति तुमसे प्रार्थना करता हुआ कहे— ‘महाराज ! मैं अपराधी हूँ और अपना अपराध स्वीकार करते हुए उसके लिए सजा भोगने को तैयार हूँ । किन्तु आप मुझे एक बार छोड़ दीजिए ताकि मैं अपने सगे-सम्बन्धियों को सावधान करते हुए कह आऊँ कि तुम लोग मेरे जैसा दुष्कर्म मत करना क्योंकि इसी के कारण मेरी फजीहत हुई है और इसका मुझे दंड भोगना पड़ेगा ।’ तो क्या तुम उस नीच व्यक्ति को कुछ समय के लिए छोड़ दोगे ?”

प्रदेशी राजा आवेशपूर्वक बोला—“कभी नहीं महाराज ! मैं न तो उसकी एक भी बात सुनूँगा और न ही उसे एक क्षण के लिए भी कहीं जाने दूँगा ।”

केशी श्रमण ने राजा की यह बात सुनकर गम्भीरतापूर्वक कहा—“राजन् ! तुम्हारे दादाजी के साथ भी यही हुआ है । उन्होंने अपने जीवन में जो घोर पाप किये हैं, उनके फलस्वरूप यमदूतों ने उन्हें अपने फन्दे में जकड़ रखा है । तुम्हारे दादाजी बहुत चाहते हैं कि तुम्हें यहाँ आकर नरक के विषय में और वहाँ मिलने वाले घोर दुःखों के विषय में बतायें तथा तुम्हें भी अशुभ कार्यों को न करने की प्रेरणा दें, किन्तु उन्हें यमदूत उसी प्रकार नहीं छोड़ते, जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को छोड़ना नहीं चाहते और कहते हो कि पापी को छोड़ा कैसे जा सकता है ? तो एक पाप करने वाले के लिए भी जब तुम इस प्रकार के विचार रखते हो और क्षणभर के लिए भी छुटकारा देना नहीं चाहते, फिर तुम्हारे दादाजी ने तो जीवन भर में असंख्य पाप किये हैं और इस कारण तुम्हीं बताओ कि यमदूत उन्हें तुम्हारे पास आने की इजाजत कैसे दे सकते हैं ? चाहते हुए भी वे आ नहीं सकते, और नहीं आये हैं । इसलिए नरक नहीं है यह तुम कैसे मानते हो ?”

वस्तुतः केशी श्रमण का कथन यथार्थ है और उस पर प्रत्येक व्यक्ति को विचार करना चाहिए । क्योंकि स्वर्ग, नरक अथवा परलोक के विषय में सन्देह करने वालों की आज भी कमी नहीं है । अनेक व्यक्ति तो हम से आकर प्रश्न कर बैठते हैं—“महाराज ! कौन जाने परलोक है या नहीं और स्वर्ग या नरक कहीं हैं, इस पर कैसे विश्वास किया जाय ? क्योंकि कभी भी तो कोई जीव स्वर्ग से या नरक से आकर उनके विषय में हमें नहीं बताते ।” और तो क्या अच्छे-अच्छे साधकों के मन में भी कभी-कभी ऐसी भावना आये बिना नहीं रहती कि शास्त्रों में जम्बू क्षेत्र आदि जिन अनेक स्थानों के वर्णन हैं, वे क्षेत्र कहाँ हैं, और कौन जाने हैं या नहीं ?

पर बन्धुओ ! अभी कल ही मैंने आपको बताया था कि अगर पूर्व जन्म और पूर्व कर्म नहीं होते तो पंचभूतों से निर्मित सभी जीव समान होते । कोई अमीर और कोई गरीब नहीं होता, कोई पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण सौन्दर्य का धनी और कोई अपंग या अपाहिज नहीं होता तथा कोई पशु, पक्षी, कीट, पतंग या हाथी जैसा विशालकाय और कोई सुई की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला नहीं होता । सबसे बड़ी बात तो यही है कि सभी एक सरीखे मनुष्य ही होते । पशु आदि अन्य अनेकानेक प्रकार के प्राणी क्यों होते ?

जगत में इन विभिन्नताओं को देखकर भी तो हमें विश्वास करना चाहिए

कि शुभकर्मों के कारण ही आत्मा इस लोक में मनुष्य शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण, उच्च कुल, उच्च गोत्र एवं आर्यक्षेत्र में जन्म लेती है। अतः इस जन्म में भी उत्तम कर्म करके पुण्य संचय करना चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं तो निश्चय ही परलोक में हमारी आत्मा को अशुभ कर्मों के बोझ को ही लादे हुए जाना पड़ेगा और उसके परिणामस्वरूप नाना दुःखों का अनुभव करना होगा।

आशय यही है कि मनुष्य गति पाकर व्यक्ति को उसे निरर्थक नहीं जाने देना चाहिए अन्यथा यह सुन्दर सुयोग पुनः कब मिलेगा और मिलेगा भी या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता।

एक कवि ने दर्शन या श्रद्धारहित जीव को सम्बोधित करते हुए कहा है—

हीरे जैसी जिंदगानी खो रहा है क्यों ?
बुरे पाप के बीज जो हैं, बो रहा है क्यों ?

कवि ने कहा है—“अरे भाई ! इस हीरे के सहश बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ ही क्यों गँवा रहा है ? श्रद्धा के अभाव में तू सदा अशुभ एवं कुकर्म ही करता रहता है। पर, जानता नहीं है कि ये सब कुकर्म पाप के जहरीले बीज हैं जो पनप जाने पर आत्मा को अनन्तकाल तक कष्ट पहुँचाते रहेंगे। सर्प या बिच्छू का जहर तो यदि अधिक से अधिक हानि पहुँचाए तो केवल एक ही बार के जीवन में कष्ट पहुँचाता है या उसे नष्ट भी कर सकता है। किन्तु पापों का जहर तो आत्मा को न जाने कितने जन्मों तक कष्ट पहुँचाता रहता है। इसलिए पापों के जहर को सर्प आदि के जहर से भी महा भयंकर समझ कर उससे दूर रहना चाहिए।

आज व्यक्ति को एक माला भी प्रतिदिन फेरने के लिये कहा जाय तो वह कह देता है—‘मुझे समय नहीं मिलता।’ और इतना ही नहीं, वह बड़ी निश्चिततापूर्वक कहता है—“मुझसे धर्म नहीं होता है, पर मैं पाप भी नहीं करता हूँ।”

पापकर्मों का आगमन

ऐसे व्यक्तियों से पूछा जाय कि पाप क्या किसी पंचेन्द्रिय की हत्या कर देने को ही कहते हैं ? अरे भाई ! पाप कर्म तो रज-कण के समान इतनी सूक्ष्मता से आकर आत्मा से चिपकते जाते हैं, जिनका अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता। मन की भावनाओं का जिस प्रकार क्षण-क्षण में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार आस्रव भी होता चला जाता है। तनिक-सी किसी के प्रति ईर्ष्या

या द्वेष की भावना हुई, कर्म बँध गये, थोड़ा भी अपने धन-जन का अहंकार मन में आया कि कर्म बँधते चले, व्यापार में थोड़ा भी झूठ बोला, धोखा दिया या छोटी-सी वस्तु के लिए बेईमानी की और पाप-कर्म चुपके से आ गये जिनका आपको पता भी नहीं चला। पता चले भी कैसे? वे सूचना देकर या ढोल बजाकर तो आते नहीं, वे तो चोरों की अपेक्षा भी अधिक सावधानीपूर्वक और अदृश्य रूप से आते हैं तथा आत्मा पर चढ़ते चले जाते हैं। इस पर भी भोले व्यक्ति उनके आगमन से अनजान रहकर कहते हैं—‘हम पाप नहीं करते।’

बंधुओ, आप जानते हैं कि बालक विष की पहचान नहीं कर सकता अतः अगर उसे विष की डली दे दी जाय और वह अपनी अज्ञानता के कारण उसे खा ले, तो क्या वह मरेगा नहीं? अवश्य मरेगा। इसी प्रकार पापों की बारीकी को न समझने वाला व्यक्ति उन्हें आत्मा पर आच्छादित होने हुए अपनी अज्ञानता के कारण न देख पाए, तो भी उन सबका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये आवश्यक है कि पुण्य और पाप के भेद को समझा जाय तथा पापों का सूक्ष्मता से ज्ञान करके उनसे बचा जाय। पापों के उपार्जन में अज्ञानपने का बहाना नहीं चल सकता, जिस प्रकार अज्ञानपने से खाया विष मृत्यु को नहीं रोक पाता। आगे कहा है—

तूने कितनी चीनी खाई, कितनी खा गया मिठाई,
फिर भी जीभ से तू भाई, जहर बिलो रहा है क्यों?

पद्य में बड़ा मनोरंजक दृष्टांत दिया है। कहा है—‘तूने जीवन में कुछ सेर या कुछ मन ही नहीं वरन् अब तक तो न जाने कितनी शक्कर और मिठाई खाई होगी, पर क्या इतना भीठा खाने पर भी तेरी जबान पर थोड़ी भी मिठास नहीं आई? जब भी बोलता है, मानो विष ही उगलता है।’

जबान का यही जहर तो नाना प्रकार के झगड़ों का कारण बनता है तथा भयानक संघर्षों को जन्म देता है। इसलिए सभी मत-मतान्तर और धर्म-ग्रन्थ मधुर भाषण पर जोर देते हैं तथा कटु वचनों के द्वारा किसी भी प्राणी का मन दुखाने को पाप मानते हैं। जो विवेकी और बुद्धिमान पुरुष होता है वह प्रथम तो अनावश्यक वचनों का प्रयोग ही नहीं करता, आवश्यक होने पर ही बोलता है, किन्तु जब भी बोलता है ऐसी वाणी का प्रयोग करता है जिसे सुनकर श्रोता को तनिक भी खेद न हो, अपमान महसूस न हो और तिरस्कार का भी आभास न हो सके।

वाणी एक प्रकार की कसौटी भी है, जिस पर कसे हुए व्यक्ति के व्यक्तित्व

की, महानता की तथा कुलीनता और अकुलीनता की परीक्षा होती है। एक श्लोक में कहा गया है—

न जारजातस्य ललाटशृंगम्,
कुल प्रसूते न च पाणिपद्मम् ।
यदा यदा मुञ्चति वाक्यबाणं,
तदा तदा तस्य कुलप्रमाणम् ॥

अर्थात्—जो अकुलीन व्यक्ति होता है उसके सिर पर सींग नहीं होते और उच्चकुलीन के हाथ में कमल-पुष्प नहीं रहते। यानी उत्तम और अधम कुल के व्यक्तियों की आकृति में तो तनिक भी अन्तर नहीं होता; किन्तु जब वे बोलते हैं तब पता चल जाता है कि इनमें से कौन उच्च कुल में जन्म लेने वाला संस्कारशील व्यक्ति है और कौन निम्न कुल में उत्पन्न होने वाला मूर्ख।

इस पहचान के अलावा और भी जो सबसे बड़ी बात है, वह यह है कि मधुर बोलने वाले के सभी मित्र एवं हितैषी बन जाते हैं तथा कटु-माषी निरर्थक ही अनेकों को अपना शत्रु बना लेता है।

उर्दू के एक कवि ने भी यही कहा है—

गैर अपने होंगे शीरीं हो गर अपनी जवां ।
दोस्त हो जाते हैं दुश्मन, तलख हो जिसकी जवां ॥

तो बंधुओ, इसीलिये कवि कटु-माषी व्यक्ति की भर्त्सना करते हुए कहता है कि—“तूने जीवन में अब तक न जाने कितनी चीनी और मिठाइयाँ अपनी जवान पर रखकर उदर में पहुँचाई है, पर फिर भी इसमें मिठास न लाकर दुःखदायी एवं जहरीले शब्दों का प्रयोग क्यों करता है ?”

अच्छी और बुरी भी

कहते हैं कि हकीम लुकमान बड़ा विद्वान एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति का पुरुष था। एक बार वह एक राजा का इलाज कर रहा था। राजा स्वयं भी बड़ा सरल था। अतः वह लुकमान से दवा पी लेता था और कभी-कभी आध्यात्मिक विषयों पर वार्तालाप भी किया करता था।

एक दिन राजा ने लुकमान से कौतूहलवश पूछ लिया—“हकीम जी ! हमारे शरीर में सबसे बुरा और सबसे अच्छा अंग कौन-सा है ?”

लुकमान ने झूटते ही उत्तर दिया—“जिह्वा ।”

राजा हँस पड़े और बोले—“वाह ! जीभ से आपकी औषधि खाता हूँ, इसीलिये वह अच्छी है और न खाऊँ तो बुरी हो जाएगी ?”

लुकमान भी मुस्कराते हुए बोले—“नहीं महाराज ! औषधि जीभ पर रखी जाती है इसलिए ही वह अच्छी और बुरी नहीं है । अपितु श्रेष्ठ इसलिये है कि इसके द्वारा हम संसार के व्यक्तियों को सात्वना प्रदान कर सकते हैं, तथा सत्य रूपी अमृत का पान भी करा सकते हैं, और बुरी वह तब हो जाती है, जबकि इसके द्वारा सुनने वाले व्यक्तियों का हृदय दुखता है या कि सत्य एवं मिथ्या का विष लोगों में फैलाया जाता है ।

किसी ने ठीक ही कहा है—

जिह्वा में अमृत बसे, विष भी तिसके पास ।

इक बोले तो लाख ले, एके लाख-विनास ॥

वस्तुतः वाणी से ही मनुष्य सम्मान और प्रेम का पात्र बनता है तथा वाणी से ही अपमान एवं तिरस्कार का भाजन बन जाता है ।

अब हम कविता के आगे का पद्य लेते हैं, वह इस प्रकार है—

तूने मनोँ दूध पी डाला, तूने दही मनोँ खा डाला,
फिर भी मन तेरा मटियाला, काला हो रहा है क्यों ?

कवि का कथन है—“अरे माई तूने मनोँ शक्कर और मिठाई खाई पर तेरी जवान पर जिस प्रकार तनिक भी मिठास नहीं आई, उसी प्रकार मनोँ दूध और दही का सेवन करने पर भी तेरा मन उजला नहीं हो पाया ऐसा क्यों ?”

वास्तव में ही जिसके हृदय में कषायभाव बने रहते हैं, उसका हृदय काला रहता है । जब तक व्यक्ति का मन मलिन भावनाओं से भरा है, नाना प्रकार की कामनाओं से व्याकुल है तथा लालसाओं की अपूर्णता से पीड़ित है, वह कभी भी संवर या साधना की शुभ्रता की ग्रहण नहीं कर पाता । ऐसे व्यक्ति के मन में क्षुद्र से क्षुद्र घटना भी क्रोध का संचार कर देती है, अत्यधिक धन प्राप्ति के पश्चात् भी लोभ का भूत घर किये रहता है, अपने धन, जन, विद्या, बुद्धि एवं प्रभुत्व का मद भरा रहता है तथा पराई उन्नति देखकर ईर्ष्या से काला हो जाता है । परिणाम यह होता है कि आत्मा की उज्ज्वलता एवं पवित्रता नष्ट हो जाती है तथा परलोक महान् दुःखदायी बन जाता है ।

‘श्री उत्तराध्ययन सूत्र’ में कषायों के विषय में कहा भी है—

अहे वयड कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।

माया गईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ।।

—अध्यायन ६, गाथा ५४

अर्थात्—क्रोध से आत्मा नीचे गिरती है। मान से अधम गति को प्राप्त करती है। माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और लोभ से तो इहलोक और परलोक दोनों में ही कष्टों का भय पैदा हो जाता है।

इसीलिये कवि ने कहा है कि मनों दुष्प और दही को ग्रहण करके भी तेरे मन में उनकी उज्ज्वलता क्यों नहीं आई? अर्थात् मन कषायों से काला ही क्यों बना रह गया, उसमें वैराग्य एवं आध्यात्मिकता की पवित्रता और शुभ्रता क्यों नहीं आई? और इस काले हृदय को लेकर भला तू कैसे अपनी आत्मा का भला कर सकेगा या औरों का भी कुछ उपकार करने योग्य बनेगा? आगे कहा है—

तू ने घी भी काफी खाया, लेकिन दिल चिकना न बनाया,
कर-कर हिंसा पाप कमाया, अब फिर रो रहा है क्यों?

हमारे धर्म में अहिंसा का महत्त्व अन्य सभी धर्म-क्रियाओं से सर्वोपरि बताया गया है। आप लोग सदा नारे भी लगाते हैं—‘अहिंसा परमो धर्मः।’ लेकिन कितने व्यक्ति अहिंसा को जीवन में उतारते हैं तथा उसका पालन करते हैं? बहुत कम।

कवि ने इसीलिये मानव से कहा है—“तूने जीवन भर घी खाया है जो कि अति स्वादिष्ट और चिकना होता है। किन्तु उसे खाकर भी तेरा दिल चिकना यानी नरम क्यों नहीं हो पाया?” हम जानते हैं कि शरीर की ऊपरी त्वचा अगर रूखी हो तो उसे नरम करने के लिये हथेलियों में थोड़ा सा घी लेकर चमड़ी पर भल देते हैं और उससे चमड़ी बहुत नरम हो जाती है। पर उदर में मनों घी खा डालने पर भी हृदय रूखा क्यों रह जाता है?

रूखे और हिंसक स्वभाव वाले व्यक्ति के दिल में अन्य प्राणियों के प्रति तनिक भी दया, करुणा या ममता की भावना नहीं रहती। परिणाम यह होता है कि वह शरीर से हिंसा करता है, उससे अगर बच जाता है तो बचन से कट्टु शब्दों का प्रयोग करके औरों का हृदय तोड़ता है तथा उसका मौका न आए तो मन से ही अन्य व्यक्तियों का अशुभ चिंतन करता हुआ हिंसा का भागी बनता है।

राजा प्रदेशी का हृष्टांत आपके सामने रखा जा रहा है कि वह केवल आत्मा को देखने के लिए ही प्राणियों की हत्या करता रहता था तथा निस्संकोच जीवों का वध किया करता था। अगर उसके हृदय में प्रेम, करुणा एवं दया की भावना होती तो वह खेल-खेल में ही निरपराध प्राणियों को इस प्रकार नहीं मार सकता था, जिस प्रकार अबोध बालक मिट्टी के खिलौनों को सहज ही तोड़ दिया करते हैं।

आज की अधिकांश जनता भी इस लोलुपता के कारण अंडे, मछली एवं अन्य पशुओं के मांस को सहज ही उदरस्थ कर जाती है। उन व्यक्तियों के दिलों में अन्य प्राणियों के दुःख और दर्द का अनुभव करने की भावना ही नहीं आती। वे कभी नहीं सोचते कि हमारे इस भोज्य-पदार्थ के लिए किस प्रकार निरीह प्राणियों को लाख बिलबिलाने पर भी जबरन मौत के घाट उतारा जाता है। तारीफ तो यह है कि वे ही व्यक्ति अगर पैर में कांटा चुभ जाय या चाकू-सरौते से उँगली कट जाय तो बड़े कष्ट का अनुभव करते हैं, पर यह विचार नहीं कर सकते कि निरपराध प्राणियों का गला कटने पर उन्हें कितनी वेदना होती होगी। जो ऐसा विचार करते हैं, वे स्वप्न में भी मांस-भक्षण की कामना नहीं करते।

जार्ज बर्नार्ड शॉ और पार्टी

कहते हैं कि एक बार महान् साहित्यकार 'बर्नार्ड शॉ' किसी विशाल पार्टी में निमन्त्रित किये गये। समय पर वे वहाँ पहुँचे, किन्तु जब उनके सामने खाद्य पदार्थों की प्लेटें आईं तो वे स्तब्ध रह गये और उन्होंने अपना हाथ खाने के लिए बढ़ाया ही नहीं।

खाना प्रारम्भ हुआ और सभी व्यक्तियों ने बड़े चाव से हाथ मारना शुरू किया। किन्तु जब कुछ लोगों की दृष्टि बर्नार्ड शॉ पर पड़ी और उन्होंने देखा कि वे चुपचाप बैठे हुए हैं, खाद्य-पदार्थों की ओर तजर भी नहीं डाल रहे हैं तो उनसे बड़े सम्मानपूर्वक पूछा गया—

“यह क्या ? आप तो भोजन कर ही नहीं रहे हैं इसका क्या कारण है ? परोसने वालों से कोई भूल हो गई है ?”

दुःखी 'शॉ' ने बड़ी कठिनाई से उत्तर दिया—“परोसने वालों से तो कोई भूल नहीं हुई है, पर मैं खा इसलिए नहीं रहा हूँ कि भेरा तो पेट है, कब्रिस्तान नहीं।”

लोग समझ गये कि बर्नार्ड शॉ मांस से निर्मित पदार्थों को देखकर दुःखी हो

रहे हैं। पार्टी में उपस्थित सभी अन्य लोगों को अपने मांस-मक्षण पर बड़ी लज्जा महसूस हुई।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक प्राणी को जो कि स्वयं सुख का अनुभव करना चाहता है, किसी भी अन्य प्राणी को किसी भी प्रकार से दुःख नहीं देना चाहिए। न उसे किसी की हत्या करनी चाहिये, न किसी को बंधन में रखना चाहिये, न मार-पीट करनी चाहिये और न ही कटु शब्दों के द्वारा अथवा मन से भी किसी का अहित न करना या सोचना चाहिये। दूसरे के मन को दुखाने वाली प्रत्येक क्रिया हिंसा है अतः उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिये। धर्मशास्त्र में कहा भी है—

सर्वे पाणा, सर्वे भूया,
सर्वे जीवा, सर्वे सत्ता,
न हंतव्या, न अज्जावेयव्या,
न परिघेतव्या, न परियावेयव्या
न उद्बवेयव्या ।
इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो
आरियवयणमेवं ।

—आचारांग सूत्र १।४।२

अर्थात्—किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिये, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिये, न पराधीन बनाना चाहिये, न किसी प्रकार का परिताप देना चाहिये और न ही किसी प्रकार का उपद्रव करके उन्हें सताना चाहिये।

ऐसे अहिंसा धर्म में किसी तरह का दोष नहीं है, यह सदा ध्यान में रखना चाहिये। अहिंसा एक महान् और आर्य सिद्धान्त है।

इसके अलावा ध्यान में रखने की बात तो यह है कि अन्य भी कोई धर्म हिंसा की प्रेरणा नहीं देता अपितु समस्त धर्म अहिंसा पर ही जोर देते हैं। हिन्दू धर्म तो हिंसा को महा पाप मानते ही हैं, इस्लाम धर्म का कुरान भी हिंसा को त्याज्य बताते हुए कहता है—

वह्लाहो ला मुहिब्बुल जालमीन ।

—सुरत आल इमरान, ६-३

अलाइब्बज्जालमीन फी अजाबिन मुकीम ।

—सुरत सूर, ५-२

देखो बंधुओ, जिन मुसलमानों को आप हिंसा-प्रिय कहते हैं और जिनके धर्म को नफरत की निगाह से देखते हैं उन्हीं का धर्मग्रन्थ 'कुरान' कहता है—

“अल्लाह जालिमों से कभी प्रेम नहीं कर सकता । याद रखो कि अत्याचारी व्यक्ति सदा कष्ट सहन करेंगे ।”

अत्याचार की भर्त्सना करते हुए यथार्थ-स्पष्ट और सच्चे शब्दों में मुस्लिम धर्म भी हिंसा और हिंसक को ताड़ित करते हुए यही कह रहा है कि अत्याचारी सदा कष्ट सहन करेंगे, यानी उनकी आत्मा केवल इस लोक या इस जन्म में ही नहीं, वरन् परलोक में भी अनेक जन्मों तक हिंसा के महापापों का परिणाम भोगेगी और घोर कष्टों का अनुभव करेगी ।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी व्यक्ति को मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों के द्वारा हिंसा से वचना चाहिए । इन तीनों योगों के द्वारा हुई हिंसा भी पाप है और अविवेक या प्रमादवश हो जाने वाली हिंसा भी पाप कर्मों का बंधन अवश्य करती है । अतः मुमुक्षु को बड़ी सावधानी एवं बारीकी से हिंसा के कार्यों से, भावनाओं से और प्रमाद से दूर रहने का प्रयास करना चाहिए । अन्यथा भले ही व्यक्ति अपने मन को संतुष्ट करे कि मैंने हिंसा नहीं की है, पर हिंसा का पाप उसकी आत्मा को उसके अनजान में भी आच्छादित कर लेगा ।

इस विषय में दो गाथाएँ हैं । उन्हें आपके सामने रखता हूँ :—

जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता ।

वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ ॥

जे वि न वावज्जंतो नियमा तेसिंपि हिंसओ सोइ ।

सवज्जो उपयोगेणं सव्वभावेण सो जम्हा ॥

—श्रीधनियुवित ७५२—५३

अर्थात्—जो प्रमत्त या प्रमादी व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो प्राणी मरते हैं उन सबका हिंसक तो वह व्यक्ति होता ही है, किन्तु जो प्राणी नहीं मरते हैं उनका हिंसक भी वह प्रमत्त व्यक्ति होता है क्योंकि वह अन्तर में तो सर्वतोभावेन हिंसामृत्ति के कारण सावद्य है—पापात्मा है ।

कहने का आशय यही है कि प्रत्येक पाप और यहाँ जैसा कि हम कह रहे हैं हिंसा का पाप भी बड़े सूक्ष्म तरीके से आत्मा को जकड़ता है । अतः बड़ी सावधानी से उससे दूर रहना चाहिए तथा अपने मन, वचन, कर्म एवं प्रमाद

आदि के रहस्यों को पूर्णतया समझ कर पाप-मुक्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए ।

कवि ने अंत में कहा है —

तज दे बातों की सफाई, तज दे हाथों की सफाई,
करले अंदर की सफाई, धन मुनि सो रहा है क्यों ?

धन मुनि कह रहे हैं—“भाई ! सौ बात की बात सिर्फ एक ही है कि तू अपने अंतर की सफाई करले और वह तभी हो सकेगी जबकि अपनी बातों की और हाथों की सफाई को छोड़ देगा ।”

अनेक व्यक्ति अपने आपको धर्मपरायण साबित करने के लिए नाना प्रकार के तर्क-वितर्क लोगों के सामने रखते हैं । पर वे यह नहीं सोचते कि बातों के भुलावे में लोग भले ही आ जायें पर कर्म कभी नहीं आते । दर्पण के समक्ष खड़े होने पर व्यक्ति की आकृति पूर्णतया स्पष्ट दिखाई दे जाती है और उसके लिए फिर किसी भी प्रकार के तर्क करने की आवश्यकता नहीं रहती कि—“मेरा चेहरा ऐसा नहीं बैसा है या आँख-नाक इस तरह के नहीं अपितु कुछ और तरह के हैं ।”

इसी प्रकार पाप भी जब मन, वचन, शरीर आदि से होते हैं, तब दर्पण में प्रतिभासित चेहरे के समान ठीक वैसे ही कर्म-बंधन होते चले जाते हैं । उनके विषय में किसी के लाख प्रकार से समझाने पर और कुतर्क करने पर भी कोई लाभ नहीं होता । भले ही मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने आपको समझा ले और दूसरों को भी अपनी लच्छेदार बातों से भुलावे में डाल दे, किन्तु कर्म किसी के बहकाने में नहीं आते और अपना कार्य किये जाते हैं । इसलिए जदान से सफाई देने से कोई लाभ नहीं है । अतः इस निरर्थक कार्य का त्याग कर देना चाहिए ।

दूसरी बात हाथ की सफाई की है । लोग व्यापार करते हैं और कोई वस्तु तौलते समय तखड़ी (तराजू) की डंडी को हाथ के इशारे से इधर-उधर करते हुए चीज कम तोल देते हैं । कपड़े के व्यापारी गज से कपड़े का नाप करते समय जल्दी-जल्दी हाथ चलाकर दो-चार इंच कपड़ा कम दे देते हैं ।

किन्तु इससे क्या लाभ होना है ? खरीददार की आँखों में भले ही हाथ की सफाई में चतुर व्यापारी धूल झोंक दे, किन्तु कर्मों की पैनी आँखों से वह नहीं बच सकता । वे तो व्यापारी के बिना जाने ही पाप के खाते में ज्यों की त्यों दर्ज हो जाएंगे ।

इसलिए इन सब धोखा देने वाली सफाइयों को छोड़कर केवल अन्तर की सफाई का ध्यान रखो, यही कवि ने प्रेरणा दी है। साथ ही यह भी कहा है कि प्रमाद रूपी निद्रा में भी मत पड़े रहो और सजग रहकर इस क्षणिक किन्तु दुर्लभ जीवन का लाभ उठाने के लिए आत्म साधना करो। ऐसा करने पर ही अपने मुक्ति जैसे उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकोगे। अन्यथा लोगों को भुलावे में डाल कर इस लोक में झूठे यश और सुख की प्राप्ति कर भी लोगे तो क्या हुआ? आखिर तो परलोक में जाना पड़ेगा और वहाँ फिर तुम्हारी बातों की या हाथों की सफाई क्या काम आएगी?

तो बंधुओ, प्रसंगवश एक कविता के आधार पर कुछ आत्मोन्नति की बातें आपके सामने रखी हैं। अब कल बताया जाएगा कि राजा प्रदेशी और केशी श्रमण में आगे किस प्रकार का प्रश्नोत्तर होगा? ओम् शांति।



सच्ची गवाही किसकी ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारा विषय 'दर्शन परिषह' चल रहा है। इस परिषह पर विजय प्राप्त करने के लिए भगवान ने आदेश दिया है कि कोई तपस्वी अपनी तपश्चर्या के फलस्वरूप अगर किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाए, तो भी मन में अश्रद्धा लाते हुए यह चिन्तन कभी न करे कि "मैंने इतने काल तक व्यर्थ तपस्या करके धोखा खाया है और परलोक में सुख-प्राप्ति होगी ऐसा मानकर शरीर को कष्ट दिया है। परलोक तो है ही नहीं अतः मेरा त्याग और तप निरर्थक गया।"

दिखाई न देने से किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं मिटता

संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है :—

अतिदूरात् सानिध्यात् इन्द्रियाघात मनोजन्वस्थानात् ।

कहते हैं कि चार कारणों से वस्तु दिखाई नहीं भी देती है, किन्तु वह लोप नहीं हो जाती यानी उसके विषय में यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व है ही नहीं।

श्लोक के इस चरण में बताया गया है कि वस्तु के दिखाई न देने का प्रथम कारण है उसका बहुत दूर होना। यह कोई बड़ी गुड़ या गंभीर बात नहीं है। सहज ही सबकी समझ में आ सकती है कि दूर होने पर हमें वस्तु नहीं दिखती। उदाहरणस्वरूप हिमालय पर्वत की चोटी क्या आपको दिखाई देती है? नहीं; इसी प्रकार समुद्र के एक किनारे पर खड़े होकर भी आप उसका दूसरा किनारा नहीं देख पाते। तो क्या हिमालय की चोटी या समुद्र का दूसरा छोर है ही नहीं? अवश्य है। कारण दिखाई न देने का केवल यही है कि वह आपकी दृष्टि से बहुत दूर है अतः दिखाई नहीं दे पाते।

दूसरा कारण बताया गया है—वस्तु का अत्यधिक समीप होने के कारण भी उसका दिखाई न देना । इसका अनुभव भी आप सहज ही कर सकते हैं जैसे—अपनी ही आँखों का न दिखना या उसमें डाले हुए अंजन का दिखाई न देना । आप कहेंगे 'दर्पण में हम अपनी आँखें देख सकते हैं तथा सुरमा या काजल भी दिखाई देता है ।' पर दर्पण तो दूर ही हुआ न ! मैं अति सानिध्य की बात श्लोक के अनुसार कह रहा हूँ । दर्पण की अपेक्षा अधिक समीप तो आपकी अपनी आँखें और उसमें डाला हुआ अंजन होता है, इसीलिए आप उसे नहीं देख सकते ।

तीसरा कारण इन्द्रियाघात बताया गया है । यथा—एक व्यक्ति अन्धा है और उसे इस संसार की कोई भी वस्तु दिखाई नहीं देती । वह आपको या हमको भी नहीं देख पाता, तो क्या आप और हम नहीं हैं ? हैं तो निश्चय ही, पर अपनी चक्षु इन्द्रिय में खराबी या दृष्टि न होने के कारण वह हमें नहीं देख सकता । इसी प्रकार बहरा व्यक्ति हमारी और आपकी बात को या कर्ण-प्रिय मधुर गीतों को भी नहीं सुनता । किन्तु इसके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि शब्द कोई चीज ही नहीं हैं । कारण उसके न सुन पाने का श्रोत्रेन्द्रिय की खराबी है ।

अब चौथा कारण आता है मन की चंचलता या उसकी उपेक्षा का । अगर मन चंचल होता है तो आप सामने रखी हुई वस्तु को भी ठोकर मारकर तेजी से चले जाते हैं । ऐसा क्यों ? इसलिए कि आपका मन अपने गन्तव्य पर पहुँचने के लिए व्यग्र होता है तथा मन उसी ओर लगा रहता है । इसके अलावा व्यक्ति अन्यमनस्कता के कारण भी सामने पड़ी हुई चीजों को या सामने बैठे हुए व्यक्तियों को नहीं देख पाता । हमें स्वयं भी इसका अनुभव है कि मन की स्थिति ठीक न होने पर यह मालूम होते हुए भी कि अमुक पृष्ठ पर अमुक श्लोक है, हमें वह नहीं मिलता । पर श्लोक वहाँ है ही नहीं क्या यह संभव हो सकता है ? नहीं । श्लोक के न मिलने का कारण हमारे मन की खराब स्थिति होती है, श्लोक का न होना नहीं ।

इसलिए परलोक दिखाई न देने पर भी वह नहीं है, ऐसा कहना अनुचित है । अनन्त ज्ञानी तीर्थंकरों ने जो कुछ कहा है वह यथार्थ है ऐसी श्रद्धा हमारे मन में होनी चाहिए ।

सच्ची गवाही किसकी ?

आप लोग प्रायः कचहरी-अदालतों में जाते हैं और वहाँ पर प्रत्येक मामले में गवाही देते हुए लोगों को देखते हैं । भला बताइये कि गवाहों की वहाँ क्या

आवश्यकता है ? यही न, कि जिन लोगों ने अपनी आँखों से घटनास्थल पर हुई घटना को देखा है उसकी साक्षी ये गवाह देते हैं । न्यायाधीश किसी हत्यारे को हत्या करते हुए नहीं देखता, किन्तु बाजार, सड़क या घर में जहाँ हत्या हुई हो वहाँ मौजूद रहने वाला व्यक्ति अगर साक्षी देता है कि मैंने इस व्यक्ति को अमुक की हत्या करते देखा है तो विश्वास होने पर मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश हत्यारे को सजा दे देता है । वह यह नहीं कहता कि मैंने इसे हत्या करते स्वयं नहीं देखा तो हत्या इसने की ही नहीं या हत्या हुई ही नहीं ।

तो बन्धुओ ! गम्भीरतापूर्वक विचार करने की बात है कि आप लोग और न्यायाधीश आदि सभी व्यक्ति इन व्यक्तियों की गवाही या इनके कथन को तो सत्य मान लेते हैं जो मन में ईर्ष्या होने के कारण या शत्रुता होने के कारण और इनसे भी बढ़कर कुछ हपयों की प्राप्ति के लोभ के कारण झूठी गवाही भी दे देते हैं, पर जो वीतराग एवं अनन्तज्ञान के धारक कह गये हैं उनकी बातों को सत्य मानना नहीं चाहते । आश्चर्य की बात है कि तुच्छ स्वार्थ के लिए जो धर्म की, धर्म-ग्रन्थों की और मगवान तक की सौगन्ध खा जाते हैं, उनकी बात को तो लोग झूठी होने पर भी सत्य समझते हैं किन्तु जिन केवलज्ञान के धारी और सम्पूर्ण राग, द्वेष, लोभ एवं स्वार्थ से रहित तथा संसार के प्रत्येक प्राणी का हित चाहने वाले वीतराग प्रभु की पाप-पुण्य, लोक-परलोक एवं आत्मा-परमात्मा आदि के लिए दी गई साक्षी या गवाही है उसे असत्य अथवा काल्पनिक मानते हैं । ऐसा क्यों ? इसीलिए कि हमारे ज्ञान-चक्षुओं पर अज्ञान के परदे पड़े हैं तथा विवेक पर मिथ्यात्व का आवरण चढ़ा हुआ है । हमारी आत्माएँ अभी अशुभ कर्मों से जकड़ी हुई हैं और उनका संसार-परिभ्रमण बहुत बाकी है ।

जिनका संसार कम होता है वे तो घोर पाप में डूबे हुए और महापातकी होने पर भी उद्बोधन पाते ही चेत जाते हैं, सजग हो जाते हैं और अविलम्ब कर्मों का क्षय करने में जुट जाते हैं । अंगुलिमाल एवं अर्जुनमाली जैसे हत्यारे भी थोड़ी-सी सत्संगति से बदल गये और जी-जान से संसार-मुक्ति के प्रयत्न में जुट गये । किन्तु आप लोग जीवन भर बड़े-बड़े सन्तों के उपदेश सुन लेते हैं पर आध्यात्मिक उन्नति के दृष्टिकोण से वहीं खड़े रहते हैं, जहाँ बरसों पहले थे । ऊपर से कहते हैं परलोक कहाँ है ? किमने देखा है ? और देखा है तो कभी आकर बताया क्यों नहीं ?

अरे माई ! तीर्थंकर महापुरुष जो कह गये हैं वह आपके लिए बताना नहीं तो और क्या है ? वे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, पर उनकी बातों को भी आप

नहीं मानते तो फिर और किसकी मानेंगे ? असली बात तो केवल यही है कि आपको धर्माचरण, तप, त्याग एवं साधना आदि करके शरीर को कष्ट न देने का बहाना चाहिए और वह बहाना आप अब तक तो पकड़े हुए हैं ही, सम्भवतः जीवन भर के लिए भी पकड़े रहेंगे। पर इससे आपका क्या लाभ और कितनी हानि होगी यह आप ही विचार करें तो ठीक है क्योंकि सन्त तो आपको उपदेश दे-देकर प्रयत्न कर चुके हैं।

जिस प्रदेशी राजा का प्रसंग आपके सामने चल रहा है, वह भी हत्यारा था, नास्तिक था और आत्मा के अस्तित्व को तथा परलोक को कतई नहीं मानता था। किन्तु पहली बार ही केशी श्रमण का उपदेश सुनकर और कुछ प्रश्नोत्तर करके उसने अपने आपको अविलम्ब बदल लिया था तथा आत्मसाधन में जुट गया था।

हम अभी इसी विषय को लेकर चल रहे हैं कि उसने केशी स्वामी से किस प्रकार प्रश्न पूछे और केशी स्वामी किस प्रकार उनका समाधान कर रहे हैं ? राजा प्रदेशी ने नरक को न मानते हुए प्रश्न किया था कि—“भरे दादाजी अगर नरक में गये हैं तो उन्होंने कमी वहाँ से आकर मुझे क्यों नहीं समझाया कि तुम ऐसे पाप-कार्य मत करना जैसे मैंने किये हैं और जिनका फल मैं घोर दुःखों के रूप में भोग रहा हूँ।”

केशी स्वामी ने इस प्रश्न के उत्तर में प्रदेशी से कहा था—“जिस प्रकार तुम अपनी पटरानी सूर्यकान्ता से सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यभिचारी पुरुष को उसके घरवालों के पास जाने देने के लिए एक मिनट को भी नहीं छोड़ सकते, उसी प्रकार तुम्हारे दादाजी को भी नरक के यमदूत तुम्हारे पास कुछ काल के लिए भी आने की छुट्टी नहीं देते।”

यह सुनकर प्रदेशी राजा क्षणभर स्तब्ध रहा, फिर कुछ विचार कर उसने दूसरा प्रश्न किया—

“महाराज ! सम्भव है आपकी बात सही हो और दादाजी को जीवन भर घोर पाप करने के कारण उन्हें नर्क से मेरे पास आने नहीं दिया गया हो; किन्तु मेरी दादीजी तो महान् धर्मपरायणा नारी थीं। वे सदा सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास, जप-तप एवं दीन-दुखियों को दान करती थीं, तो जीवन भर धर्म-कार्यों में रत रहने के कारण वे स्वर्ग में गई होंगी ?”

“निश्चय ही तुम्हारी दादी स्वर्ग में गयी हैं, राजन् !” केशी स्वामी ने उत्तर दिया।

“तो फिर वे क्यों नहीं मेरे पास कभी आईं और मुझे धर्म-कार्य की प्रेरणा दी ? स्वर्ग में तो नरक के जैसे बन्धन नहीं हो सकते अतः वे आ सकती थीं । उनके स्वर्ग से न आने के कारण मुझे विश्वास नहीं होता कि स्वर्ग कहीं है ।”

केशी स्वामी बोले—“तुम्हारी दादी के भी स्वर्ग से न आने के कारण स्वर्ग नहीं है, ऐसा मत सोचो । क्योंकि तुम्हारी दादी स्वर्गीय जीवन बिता रही हैं और उनके लिए मृत्युलोक अत्यन्त दुर्गन्धमय है । यहाँ की दुर्गन्ध तो पाँच सौ योजन ऊपर तक जाती है ।”

“यह कैसी बात है महाराज ? मैं तो उनका पौत्र ही हूँ और मुझे वे प्राणों से भी ज्यादा प्यार करती थीं, तो क्या वे अपने कुल के रक्त से निर्मित पौत्र के लिए भी आपके कथनानुसार इस दुर्गन्धमय लोक में नहीं आ सकती ?”

राजा की बात सुनकर केशी श्रमण कुछ मुस्कराए और उत्तर में बोले—
“हे राजन् ! प्रथम तो तुम्हारी दादीजी के एक तुम ही इस मृत्युलोक में सम्बन्धी नहीं हो, क्योंकि आत्मा अनन्त काल से संसार-परिभ्रमण कर रही है अतः उसके सभी जीवों से सभी प्रकार के सम्बन्ध होते रहे हैं । कहा भी है—

सब जीवों से सब जीवों के सब सम्बन्ध हुए हैं ।

लोक प्रदेश असंख्य जीव ने अगणित वार छुए हैं ॥

“तात्पर्य यही है कि तुम्हारी दादी के तुम्हारे समान अनेक पौत्र-प्रपौत्र किसी न किसी जन्म के यहाँ होंगे और वे किस-किसको बोध देने के लिए इस दुर्गन्धमय पृथ्वी पर आ सकती हैं ?

“फिर भी अगर तुम विचार करो कि मैं इस पृथ्वी पर उनके इसी जन्म का पौत्र हूँ और उन्हें आना ही चाहिए था भले ही यह लोक कितना भी दुर्गन्धमय क्यों न हो, तो उनके न आने का कारण एक दृष्टान्त से समझो । मुझे यह बताओ कि अगर तुम सुगन्धित उबटनादि से स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण करो तथा उन पर और इत्र आदि छिड़क कर दरवार में जाने के लिए तैयार होओ । ठीक उसी समय तुम्हारे महल की मेहतरानी विष्टा की टोकरी उठाने के लिए आ जाय, पर उसे उठा न पाने के कारण तुमसे कहे—‘महाराज ! जरा यह टोकरी हाथ लगाकर मेरे सिर पर रखवा दीजिये । इसमें आपके और आपके परिवार वालों के द्वारा त्यागी हुई वस्तु ही है, अन्य घर की नहीं ।’ तो क्या तुम अपने राजघराने की गन्धगी होने पर भी उस टोकरी से हाथ लगाओगे ? नहीं, उलटे उससे दूर भागोगे । बस इसी प्रकार तुम्हारी दादी भी यहाँ की दुर्गन्ध को सहन न कर पाने के कारण तुम्हारे पास नहीं आतीं, भले ही तुम उनके पौत्र हो ।”

केशी श्रमण के उपदेशपूर्ण उत्तरों को सुनकर राजा प्रदेशी की आँखें खुल गईं और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि आत्मा, परलोक, स्वर्ग, नरक एवं मोक्ष निश्चय ही हैं तथा पापों के कारण संसार-श्रमण बढ़ता है और कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा सदा के लिए संसार से मुक्त हो जाती है।

यह विचार आते ही उन्होंने राज्य-कार्य छोड़कर आत्म-कल्याण के मार्ग को अपना लिया। इसी को 'जब जागे तभी सबेरा' कहते हैं। कहीं तो नित्य जीवों का घात करते हुए वह अपने हाथ खून से सने रखता था और कहीं केशी स्वामी की अल्प-संगति से ही कर्मों का घात करने में जुट गया।

जब केशी श्रमण वहाँ से अन्यत्र जाने के लिए तैयार हुए तो राजा प्रदेशी ने बड़े भाव-भीने शब्दों में उन्हें वन्दन-नमस्कार करते हुए अन्तिम उपदेश देने की प्रार्थना की।

केशी स्वामी ने भी अत्यन्त गद्गद होकर राजा को केवल यही शब्द कहे—

भा णं तुमं पएसी !

पुष्पं रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि ।

—राजप्रश्नीय सूत्र, ४५२

अर्थात्—“हे राजन् प्रदेशी ! तुम जीवन के पूर्वकाल में रमणीय होकर उत्तरकाल में अरमणीय मत बन जाना।”

कितनी संक्षिप्त, सुन्दर एवं गूढ़ार्थ से भरी हुई शिक्षा थी। जिसमें यही भाव निहित था कि इस समय तुम अपनी नास्तिकता को, अश्रद्धा को, मिथ्यात्व को एवं हिंसक भाव को त्याग कर संयमी बन गये हो अतः सबके अत्यन्त प्रिय पात्र हो। किन्तु कुछ समय पश्चात् शंका-सन्देहों से धिरकर कल्याणकारी धर्म के मार्ग को पुनः छोड़कर सबके मन को अप्रिय लगने वाले मत बन जाना।

राजा प्रदेशी भव्य प्राणी था। यद्यपि उसने जीवन में हत्या जैसे पापों का ढेर जमा कर लिया था, किन्तु अन्तिम चालीस दिनों में ही ऐसी उत्कृष्ट साधना की कि उसके फलस्वरूप समस्त पाप-कर्मों को घास के ढेर के समान जलाकर खाक कर दिया।

दुर्भाग्यवश उसकी सूर्यकान्ता रानी, जिसे वह प्राणों से भी अधिक प्यार करता था, उसी ने उपवास के पारणे में जहर दे दिया। किन्तु प्रदेशी के मन में इतनी समत्व की भावना आ गई थी कि रानी ने जहर दिया है यह जान लेने पर भी और मरणांतक कष्ट का अनुभव होने पर भी उसने रानी पर क्रोध नहीं किया तथा रंच मात्र भी द्वेष नहीं आने दिया। उलट उसे, अपना उपकारी माना

कि मेरे कर्मों की निर्जरा में रानी सहायक बनी है। शरीर का क्या, उसे तो आज नहीं कल, और कल नहीं तो किसी दिन छोड़ना ही था।

वस्तुतः यह संसार बड़ा विचित्र है। मानव जिन सम्बन्धियों को अपना समझता है और उनके लिए नाना प्रकार के पाप करने से भी पीछे नहीं हटता, वे ही सगे-सम्बन्धी और प्राणों से अधिक प्यार करने का दावा करने वाली स्त्री भी किस दिन बदल जाएगी यह नहीं कहा जा सकता। जब तक अपनी स्वार्थ-पूर्ति होती है, तभी तक सम्बन्धी प्रेम और मित्रता का दावा करते हैं, किन्तु जिस क्षण उनकी स्वार्थ-पूर्ति में कमी आ जाती है, तुरन्त कबूतर के समान आँखें फेर लेते हैं।

इसीलिए सुन्दरदासजी ने कहा है—

बैरी घर माँहि तेरे जानत सनेही मेरे,
 दारा, सुतवित्त तेरे खोंसी-खोंसि खायेंगे ।
 औरहु कुटुम्बी लोग लूटें चहुँ ओर ही तें,
 मीठी-मीठी बात कहि तोसूँ लपटायेंगे ॥
 संकट परेगो जब कोई नहीं तेरो तब,
 अन्त ही कठिन, बाकी बेर उठि जायेंगे ।
 सुन्दर कहत, तासे झूठो ही प्रपंच सब,
 सपने की नाई यह देखत बिलायेंगे ॥

कहते हैं—“अरे भोले व्यक्ति ! जिनको तू अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, माई-बहन एवं मित्र-स्नेही समझता है, वे सब तो तेरे ही घर में रहने वाले तेरे शत्रु हैं; केवल मोह के कारण वे मुझे अपने हितैषी लगते हैं।

“जब तक तेरे पास धन रहेगा और तू इन सभी के स्वार्थों की पूर्ति करता रहेगा, तब तक सब भीठी-मीठी बातें करते हुए तुझसे लिपटेंगे, प्यार करेंगे तथा तेरा धन छीन-छीन कर मौज करते हुए खाएँगे।

“किन्तु याद रख, जब भी तुझ पर कोई संकट आएगा या तू इनकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकेगा, तब इन सब में से एक भी तेरा साथ नहीं देगा और मृत्यु के समय तो सब पास से भी उठ-उठकर चले जाएँगे। इसलिए मैं कहता हूँ कि संसार का सब प्रपंच मिथ्या है और मरने पर तो स्वप्न की तरह बिला जाएगा।”

जो बुद्धिमान पुरुष इस बात को समझ लेते हैं वे फिर संसार में रहते हुए

भी संसार से नाता नहीं रखते तथा आत्मा को ही अपनी मानकर उसके कल्याण का प्रयत्न करते हैं—

उर्दू भाषा के प्रसिद्ध शायर जौक ने भी कहा है—

जिस इन्साँ को सगे दुनिया न पाया ।

फरिश्ता उसका हमसाया न पाया ॥

यानी—जो मानव संसार का दास नहीं होता अर्थात् सांसारिक सम्बन्धियों में या सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति नहीं रखता वह देवताओं से भी महान् है । वास्तव में देवता भले ही स्वर्ग में कुछ काल तक अपार सुख का अनुभव करलें, किन्तु वहाँ का जीवन समाप्त करने के पश्चात् पुनः उन्हें जन्म-मरण करना पड़ता है क्योंकि वहाँ के सुखों में गृद्ध रहने के कारण वे रंचमात्र भी आत्म-साधना नहीं करते ।

किन्तु जो मनुष्य सांसारिक सुखों से विरक्त रहकर उत्कृष्ट आत्म-साधना में जुट जाता है वह पुनः जन्म-मरण न करता हुआ देवताओं से भी ऊँची पाँचवीं गति, यानी मोक्ष, में जा सकता है । आवश्यकता है—सच्ची साधना की; साधना के दिखावे की नहीं ।

राजा प्रदेशी ने हत्यारा होते हुए भी जिस समय केशी स्वामी के संपर्क से अपने आपको बदला तो अन्दर और बाहर से सचमुच ही बदल गया । बदलने का दिखावा नहीं किया और दिखावे की साधना नहीं की । परिणाम यह हुआ कि जीवन भर के पापों की केवल चालीस दिन में ही निर्जरा कर डाली । अगर उसने अपने-आप को सचमुच में न बदला होता तो क्या जानते-बूझते हुए भी अपनी रानी के द्वारा पिलाया हुआ जहर पी लेता ? नहीं, उसके पास शक्ति थी । जिससे वह रानी को सजा देता और अपार धन था जिससे हकीमों या वैद्यों का घर भर कर जहर का असर समाप्त करवा लेता ।

किन्तु उसके हृदय में संसार से सच्ची विरक्ति हो गई थी, राग-द्वेष कम हो गये थे और शरीर के प्रति अनासक्ति का भाव आ गया था । यानी शरीर रहे तो क्या और न रहे तो क्या, ऐसी भावना हो गई थी । अन्यथा अपने ध्यान से रंचमात्र भी डिगे बिना गजसुकुमाल मुनि ने जिस प्रकार सोमिल ब्राह्मण के द्वारा अपने मस्तक पर धधकते हुए अंगारे रखवा लिये थे, उसी प्रकार प्रदेशी राजा भी विष-पान कैसे करते ।

गजसुकुमाल मुनि ने मस्तक पर अंगारों का रखा जाना अपने कर्मों की निर्जरा में सहायक माना था, उसी प्रकार प्रदेशी ने भी विष-पान करना कर्मों

से मुक्त होने का साधन मान लिया तथा विष को अमृत अर्थात् अमरत्व प्राप्त करने में सहायक समझा था ।

किसी कवि ने साधक को प्रेरणा देते हुए कहा है कि—“अगर तुझे शिव-पुर की प्राप्ति के लिए सच्ची साधना करनी है तो चाहे अमृत मिले या विष, उसे समान भाव से ग्रहण कर ।” कविता के कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

अमृत अगर मिले तो अमृत ही पिये जा !
विष को भी परिणत अमृत में किये जा !
कड़वी भी घूटें समय की पिये जा ! विष को भी....।

साधना-मार्ग के सच्चे पथिक को उद्बोधन देते हुए कहा गया है—“माई ! साधना का पथ आराम पहुँचाने वाला नहीं है, यह काँटों का मार्ग है । किन्तु अगर तुझे संसार के मुक्त होने की आत्मिक चाह है तो इस मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं से घबरा मत तथा हृदय को कषाय भाव से सर्वथा मुक्त रखते हुए अगर अमृत मिलता है तो उसका पान करले और विष मिलता है तो उसे भी अमृत मानकर ग्रहण करता चल ! मानव-जीवन में मिला हुआ यह दुर्लभ समय अनन्त पुण्यों के योग से प्राप्त हुआ है और निरर्थक चला गया तो फिर कब मिलेगा या मिलेगा ही नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता । अतः इस समय मीठी या कड़वी घूटें जो भी लेनी पड़े पूर्ण समभाव से कण्ठ के नीचे उतारता चल ।”

वस्तुतः चातक के लिए प्रथम तो स्वाति नक्षत्र का योग मिलना कठिन है और उससे भी कठिन है उसी समय वर्षा की बूँद का प्राप्त होना । महा मुश्किल से उसे ये दोनों सुयोग मिलते हैं और वह अपनी पिपासा को शांत कर पाता है । ठीक इसी प्रकार जीव को प्रथम तो मानव-जीवन मिलना ही दुर्लभ है, और उससे भी दुर्लभ है मन का इर्ष्या, द्वेष, मत्सर स्वार्थ, लोभ, अहंकार एवं मोह-ममता आदि से दूर होकर परमार्थ साधन में लगना ।

एक प्रसिद्ध विचारक ने ‘बारह भावना’ नामक पुस्तक में लिखा है—

मानव भव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते हैं,
द्विविध व्याधियों के वश होकर अगणित नर रोते हैं ।
अंगोपांग विकल हो अथवा पागल होकर अपना—
जीवन हाथ बिताते, कब हो पूरा मन का सपना ?

कितनी यथार्थ एवं मर्मस्पर्शी भावना है ? वस्तुतः इस संसार में मानव-शरीर तो करोड़ों व्यक्तियों को मिला हुआ है, किन्तु उनमें से कितने व्यक्ति इस जीवन की दुर्लभता को समझ पाते हैं और इससे सच्चा लाभ उठाते हैं ?

लाखों व्यक्ति तो लूले-लेंगड़े, गूंगे-बहरे व्याधिग्रस्त या अन्य प्रकार से अपंग होकर सतत् आर्त-ध्यान करते हुए हाय-हाय करके यह जीवन समाप्त करते हैं और जो पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण एवं व्याधि रहित शरीर की प्राप्ति कर लेते हैं वे धन के अभाव से, पुत्रहीनता से या पारिवारिक जनों की अयो-म्यता से सदा दुःखी रहते हुए कर्मों का बन्धन करते हैं। इसके अलावा जिन व्यक्तियों को ये दुःख नहीं होते वे दूसरों की उन्नति से ईर्ष्या करते हुए, अपने काफी धन से भी संतुष्ट न होकर धन-कुबेर बनने की लालसा रखते हुए, अत्यधिक मान-प्रतिष्ठा के लिए व्याकुल रहते हुए तथा अधिक से अधिक भोगों को भोगने की तमन्ना रखते हुए बावले बने रहते हैं। उनकी वर्तमान स्थिति कितनी भी अच्छी क्यों न हो, वे कभी संतोष और सुख का अनुभव नहीं करते।

ऐसी स्थिति में भला वे अपने चिन्तामणि के सदृश जीवन का भी लाभ कैसे उठा सकते हैं ? वे केवल विषयभोगों को और शरीर की रक्षा को ही जीवन का उद्देश्य समझते हैं। यह नहीं समझ पाते कि यह शरीर नाशवान् है और भोगों के सुख क्षणिक है। सच्चा सुख तो आत्मा को कर्मों से मुक्त करके जन्म-मरण से सदा के लिए छूट जाने में है। जब तक ऐसी भावना उनके हृदय में नहीं आती तब तक उनका सुख-प्राप्ति का स्वप्न पूरा कैसे हो सकता है ? यानी कभी नहीं हो सकता।

तो बन्धुओ, मानव-शरीर पाकर भी बिरले ही व्यक्ति होते हैं जो आत्मा को शरीर से भिन्न समझ कर उसके कल्याण में संलग्न हो जाते हैं तथा जीवन को पूर्ण रूप से संयमित करके पूर्ण निरासक्त, निस्पृह या निर्भमत्व भाव से केवल कर्म-निर्जरा को ही अपना लक्ष्य मानते हैं और जब वे उस लक्ष्य की प्राप्ति में लग जाते हैं तो चाहे कोई सुख दे या दुःख, अमृत पिलाये या विष सभी समान मानकर अपने मार्ग से च्युत नहीं होते। कवि ने आगे कहा है—

यह तो मजा जिन्दगी का है प्यारे,
बिगड़े हुए को जो फिर से सुधारे
ताकत जो हो साथ सबको लिये जा। विष को भी...

जिन्दगी का आनन्द व्यक्ति तभी उठा सकता है, जबकि वह बिगड़े हुए को भी बना ले। इसीलिए कवि कह रहा है—“प्यारे माई ! जिन्दगी का मजा तुझे तभी आएगा, जबकि तू अपने मविष्य को तो बनाएगा ही, पर उससे पहले जो भूतकाल में हानि हो चुकी है उस क्षति की भी पूर्ति कर लेगा साथ ही अपनी शक्ति के द्वारा जो अज्ञानी व्यक्ति है, उन्हें भी अपने साथ साधना के मार्ग पर बढ़ाता चलेगा।”

राजा प्रदेशी ने जीवन का लाभ या आनन्द इसी प्रकार उठाया था। उसने महामुनि केशी स्वामी के संसर्ग से अपनी शंकाओं का समाधान करते हुए अपने भावी जीवन को तो सुधारा ही, साथ ही भूतकाल में किये हुए हत्याओं जैसे घोर पापों को भी भस्म कर लिया। इस प्रकार उन्होंने यथार्थ में बिगड़ी हुई को बनाया। अगर पूर्व कर्मों को वे नष्ट नहीं करते तो उनका परिणाम कभी न कभी भोगना ही पड़ता। अतः परलोक में दृढ़ विश्वास करके उन्होंने परिणामों की इतनी उत्कृष्टता प्राप्त कर ली कि समग्र पूर्व कर्मों को नष्ट करके आगे के लिए भी मार्ग प्रशस्त बना लिया।

ऐसे उदाहरणों से जो भव्य प्राणी शिक्षा लेंगे तथा अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे वे निश्चय ही परलोक में सुखी बनेंगे तथा आत्मा को अनेकानेक कष्टों से बचा सकेंगे। पर यह तभी होगा, जबकि व्यक्ति वीतराग के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ संवर के मार्ग पर बढ़ेगा और कर्मों का क्षय करता चलेगा।

○

का वर्षा जब कृषि सुखानी

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

बड़े हर्ष की बात है कि स्थानकवासी जैन समाज संगठित हो, इसके लिए हमारे अग्रगण्य महानुभावों ने एक अधिवेशन करने की योजना बनाई है। संगठन का महत्त्व परिवार, समाज और देश के लिए अत्यधिक ही नहीं, अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में न तो परिवार का, न समाज का और न ही देश का कोई कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है। असंगठित रूप से काम करने में अत्यन्त कठिनाई होती है और कभी-कभी तो काम हो भी नहीं पाता, किन्तु वही कार्य संगठित रूप से किये जाने पर सहज ही पूरा हो जाता है।

इसीलिये समाज के अग्रणी व्यक्तियों ने संगठन की जो योजना बनाई थी उसका यह प्रथम अधिवेशन होना तय हुआ है। अधिवेशन का आयोजन करने से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि सहज ही लोगों के विचारों का पता लग जाता है तथा किस विषय में लोगों का बहुमत है यह जान लिया जाता है। अधिवेशन का उद्देश्य समाज का, धर्म का और देश का हित हो वह उपाय करना होता है।

जैसे-जैसे समय बदलता है, देश और समाज की परिस्थितियाँ तथा व्यक्तियों की विचारधाराएँ भी परिवर्तित होती जाती हैं। ऐसी स्थिति में नीति एवं धर्म की मर्यादाओं को सुरक्षित रखते हुए किस प्रकार समाज की व देश की उन्नति होती रहे, यही संगठन और उसके लिए किये जाने वाले अधिवेशनों का उद्देश्य होता है। धर्म एवं नीति को ध्यान में रखते हुए समाज का व्यवहार चले तभी वह यशस्वी बन सकता है और इसके सदस्यों का यानी व्यक्तियों का जीवन उत्तम बनता है। अतः धर्म तथा नीति की भावनाओं को समाज का प्रत्येक सदस्य अपनाएँ और उनकी मर्यादाओं का उल्लंघन न करता हुआ अपने जीवन

व्यवहार को निर्दोष बनाये तभी अधिवेशनों का तथा संगठन के प्रयत्नों का होना सफल माना जा सकता है ।

उच्च जीवन के मूल आधार

जीवन उन्नत कैसे बने ? इस प्रश्न का उत्तर बिना हिचकिचाहट के यही दिया जा सकता है कि सत्य, अहिंसा एवं अपरिग्रह को जीवन में उतारा जाय जब तक ये तीनों बातें जीवन-सात् नहीं होंगी, व्यक्ति का जीवन निःस्वार्थी, निर्लोभी, निरहंकारी, या एक ही शब्द में निर्दोषी नहीं बन सकेगा । जीवन के साथ इन तीनों महत्त्वपूर्ण गुणों को न जोड़ने से व्यक्ति के जीवन में और जीवन में रहने से समाज में भी अनेकानेक विषमताएँ उठ खड़ी होंगी । पर इन विषमताओं का जन्म ही न हो, इसके लिए संगठन की और अधिवेशनों की आवश्यकता मानी जाती है । इस आवश्यकता को महसूस करने के कारण ही समाज के नेता प्रयत्न करते हैं और वे जब एकत्रित होकर विचार-विमर्श करते हैं तब उनकी निर्धारित कार्य-प्रणाली पर व्यक्ति चलता है ।

धर्म और राज्य—प्रसन्नता की बात है कि संगठन के लिए आयोजित इस अधिवेशन में लोकप्रिय मुख्यमंत्री भी भाग ले रहे हैं । ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि राज्य के शासन की वागडोर जिन व्यक्तियों के हाथ में है उन्हें अपनी कार्यप्रणाली में धर्म और नीति को प्रथम स्थान देना चाहिए । धर्म और राज्य अन्योन्याश्रित हैं । दोनों को ही एक-दूसरे की सहायता की आवश्यकता है और दोनों एक-दूसरे के बिना टिक नहीं सकते ।

हमारा इतिहास बताता है कि प्राचीनकाल में भी राजा धर्मानुसार शासन करते थे और धर्म भी राज्याश्रय से अपने गौरव को यथाविधि प्राप्त करता था । परिणाम यह होता था कि जो राज्य धर्मानुसार चलता था, वहाँ व्यक्ति पूर्ण सुख और शांति का अनुभव करते थे, पर इसके विपरीत जो राज्य अधर्म की नींव पर खड़े रहने की कोशिश करते थे, वे नष्ट हो जाते थे । कौरवों का राज्य, कंस का राज्य, रावण का राज्य और हिरण्यकश्यप जैसे अधर्मी राजाओं के राज्यों के उदाहरण आप लोगों के सम्मुख अनेक बार आ ही चुके हैं कि वे किस प्रकार जड़ से नष्ट हुए थे ।

कौरवों ने पाण्डवों को धोखा दिया था, रावण ने अहंकार और कुशील को अपनाया था, कंस ने हिंसात्मक कार्य किये थे और हिरण्यकश्यप तो धर्म या भगवान को ही नहीं मानता था । इस प्रकार धोखेबाजी, अहंकार, कुशील, हिंसा आदि ये सब धर्म के विरुद्ध हैं और जिन्होंने इन्हें अपनाया वे राजा आज भी कुयश के पात्र बनकर स्मरण किये जाते हैं । ऐसे राजाओं के नामों

को तो अशुभ समझकर लोग अपने बालकों के लिए भी उपयोग में नहीं लाते । इस बात की यथार्थता को आप समझते ही होंगे । क्या कभी किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र का नाम रावण, कंस या दुर्योधन रखा है ? नहीं, वह इसीलिए कि इन नामों वाले व्यक्ति अधर्मी थे ।

तो मैं आपको बता तो यह रहा था कि धर्म ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए मंगलमय है अतः प्राचीनकाल में श्रेष्ठ राजा अपने धर्म गुरुओं से उपदेश ग्रहण करके तथा धर्म के मर्म को समझ करके ही अपनी शासन-प्रणाली निर्धारित करते थे ।

भगवान महावीर के समय में राजा श्रेणिक मगध पर राज्य करते थे । वे भगवान महावीर के अनन्य उपासक थे तथा उनके मार्ग-दर्शन से ही राज्य चलाते थे । भगवान पर उनकी अविचलित श्रद्धा थी और वे केवल यही विचार करते थे कि महावीर प्रभु का उपदेश कभी भी राजा या राज्य के लिए अहितकर नहीं हो सकता ।

यह बात सत्य भी है, जैसा कि कहा गया है—

देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थकराः ।

—उत्त० चूर्ण २३

अर्थात्—तीर्थकर देश और काल के अनुरूप ही धर्म का उपदेश करते हैं ।

तो श्रेणिक भगवान महावीर के उपदेशानुसार चलते थे और श्रीकृष्ण भगवान अरिष्टनेमि जो कि बाईसवें तीर्थकर थे, उनके द्वारा उद्बोधन प्राप्त करते थे । रामचन्द्रजी ने वसिष्ठ ऋषि के धर्म-बोध को हृदयंगम किया था तथा ग्यारहवीं सदी में राजा कुमारपाल को श्री हेमचन्द्राचार्य ने धर्म एवं नीति की शिक्षा दी थी । इसके पश्चात् करीब तीन सौ वर्ष पूर्व ही छत्रपति शिवाजी भी जो कि इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं उन्होंने अपने गुरु समर्थ रामदास स्वामी के उपदेशानुसार शासन किया था ।

कानून और धर्म

कहने का अभिप्राय यही है कि पुरातन समय से ही राज्य का अगर उत्तम संचालन हुआ है तो वह तभी हो सका है, जबकि वह धर्ममय बना । आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि प्राचीनकाल से आज तक भी राज्य के जो कायदे-कानून होते हैं वह धर्म के आधार पर ही निर्मित होते हैं । चोरों को सजा देने का जो नियम है वह इसलिए कि चोरी करना पाप है, हत्यारों को दण्ड देने का नियम इसलिए है कि किसी की हत्या करना हिंसा है और वह महापाप है । धोखेवाजी से किसी की जमीन-जायदाद हड़प लेने पर जो कारावास

आदि देने का विधान है वह इसीलिए कि कपट करना पाप है। इसी प्रकार आज हम प्रतिदिन सुनते हैं और अखबारों में पढ़ते हैं कि अमुक धनी के यहाँ से ब्लैक का रुपया या सोना-चाँदी सरकार ने छपा मार कर जब्त किया और धनिक को हिरासत में ले लिया है। ऐसा सरकार क्यों करती है? इसीलिए कि परिग्रह करना पाप है और जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन संचय करके रखता है वह परोक्ष रूप से अन्य अनेक व्यक्तियों की रोटी छीनता है। अतः परिग्रह रूपी पाप को मिटाने के लिए सरकार लोगों को शिक्षा देती है।

इस प्रकार राज्य के समस्त नियम-उपनियम धर्म की रक्षा करने के लिए ही तो हैं। इन सुन्दर नियमों के अतिरिक्त और धर्म कौन-सा है? कहा है—
 “स धर्मोऽत्र नाधर्मः।” यानी धर्म वहीं है जहाँ अधर्म नहीं है। दूसरे शब्दों में अधर्म का न होना ही धर्म है। धर्म का अर्थ केवल पूजा-पाठ या सामायिक-प्रतिक्रमण आदि करना नहीं है। ये सब उत्तम क्रियाएँ तो मन को शुद्ध रखने के लिए या किये हुए पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए हैं। कृत पापों के लिए पश्चात्ताप और पुनः उन्हें न करने की भावना जब की जाती है वही प्रतिक्रमण है। आखिर व्यक्ति को सुबह-शाम थोड़े बहुत काल के लिए चिन्तन तो करना ही चाहिए कि आज मुझसे क्या भूल हुई या कौन-सा पाप हुआ? ऐसा किसी भी समय न सोचने पर भला वह किस प्रकार अपनी गलतियों को ध्यान में ला सकता है और उन्हें पुनः न करने की प्रतिज्ञा कर सकता है? बस, इसीलिए प्रतिक्रमण आदि किया जाता है।

तो बन्धुओ, धर्म शासन से अलग नहीं है तथा शासन-कार्य चलाने के लिए जो भी कानून बनाये जाते हैं वे धर्म की रक्षा करते हैं। आज अछूतों को अछूत न मानने के लिए भी नियम बनाया गया है तथा उन्हें मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त है। साथ ही ऐसे शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को योग्यता-नुसार प्रत्येक नीचा या ऊँचा पद दिया जाता है। पर क्या यह नियम वर्तमान में ही बना है? नहीं।

मगवान महावीर ने भी अपने काल में जातिवाद की घोर भस्मना की थी तथा उसका प्रबल विरोध किया था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि किसी भी जाति में उत्पन्न पुष्य या स्त्री सम्मान हैं तथा समान भाव से धर्म-साधना करने के अधिकारी हैं। इस विषय में ऊँची जाति वालों को जो अधिकार हैं, वही निम्न समझी जाने वाली जाति के व्यक्तियों को भी हैं। महामुनि हरिकेशी चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु क्या उन्हें किसी भी अन्य उच्च कुलोत्पन्न साधु से कम महत्त्व दिया गया था? नहीं।

शास्त्रों में भी सच्चे साधु के लक्षण बताते हुए केवल यही कहा है—

इह लोणणिरावेक्खो,
अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मिह ।
जुत्ताहार विहारो,
रहिक्कसाओ हवे समणो ॥

—प्रवचनसार, ३-२६

अर्थात्—जो इस लोक में निरपेक्ष है, परलोक में भी अप्रतिबद्ध यानी अना-सक्त है, विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है तथा कषाय रहित है, वही सच्चा श्रमण है ।

तात्पर्य यही है कि धर्म जाति पर आधारित नहीं है, अपितु कर्म पर है । अगर व्यक्ति निम्न कुल में जन्म लेकर उत्तम कार्य करता है तो कोई कारण नहीं है कि उसे उच्च कुल में जन्म लेने वाले की अपेक्षा नीचा समझा जाय । बल्कि निम्न कुल में जन्म लेकर उच्च कार्य करने वाले की अपेक्षा उच्च कुल में जन्म लेकर निकृष्ट कर्म करने वाला ही हीन समझा जाना चाहिए । इस प्रकार भगवान महावीर ने पच्चीस सौ वर्ष पूर्व ही अछूतों को अछूत या निम्न कुल में जन्म लेने वाले को सदा निम्न ही न समझने वाला कानून बना दिया था । उन्होंने स्पष्ट कहा है—

कम्ममुणा बंभणो होइ, कम्ममुणा होइ खत्तिओ ।
कम्ममुणा वइसो होइ, सुट्ठो होइ कम्ममुणा ॥

अर्थात्— व्यक्ति जन्म से ही नहीं वरन् अपने कार्यों से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है ।

स्पष्ट है कि धर्म के उदार क्षेत्र में व्यक्ति-व्यक्ति में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं होता । जिस प्रकार समस्त नदियाँ सागर में मिलकर समान हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जाति, कुल या गोत्र का व्यक्ति धर्म के पवित्र प्रांगण में प्रवेश करके समान धर्म का अधिकारी बन जाता है । धर्म ही मनुष्य-मनुष्य के बीच समत्वभाव की स्थापना करता है । इसीलिए धर्म का मर्म समझने वाले महापुरुष भगवान महावीर के पश्चात् भी सदा यही प्रयत्न करते आये हैं कि प्रत्येक मानव दूसरे मानव को पूर्णतया अपने समान समझे । आज के युग में गाँधीजी भी अपने जीवनकाल में यही कहते और मानते रहे हैं । वे सदा ही हरिजनोद्धार के प्रयत्न में लगे रहे ।

मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि राज्य-शासन और धर्म अलग-अलग नहीं अपितु एक ही हैं । धर्म के आधार पर ही राज्य के कानून बनते हैं और तभी

के मनुष्यों के लिए माननीय होते हैं। ऐसा जब नहीं किया जाता है तो वैर-विरोध बढ़ता है तथा शासन भी खतरे में पड़ जाता है।

हमारे भारत को प्राचीनकाल में आर्यावर्त ही कहा जाता था क्योंकि यहाँ आर्य निवास करते थे। आर्य वे ही व्यक्ति कहे जाते हैं जो हेय कार्यों से परे रहकर धर्म का आचरण करें तथा शिष्ट एवं संस्कारशील बनें। ध्यान में रखने की बात है कि धर्मपरायण, शिष्ट एवं उत्तम संस्कारों से युक्त व्यक्ति ही अपने समाज एवं देश को गौरवान्वित कर सकते हैं, इसलिए समाज के नेताओं को और राज्य के कर्णधारों को भी यही प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे देश व समाज के व्यक्ति पुनः सच्चे आर्य बनें। इस प्रयास में दोनों का संगठित होकर कार्य करना आवश्यक है। अगर समाज के व्यक्ति राज्य शासन की अवहेलना करें और राजनीतिज्ञ नेता समाज की उपेक्षा करने लग जायें तो समाज और देश दोनों ही समान रूप से अपयश के भागी बनेंगे तथा आर्यावर्त जैसी उत्तम उपाधि रसातल को चली जायेगी।

तो यह जो अधिवेशन हो रहा है, इसका उद्देश्य यही है कि अग्रणी लोग संगठित होकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे समाज का हर व्यक्ति सभ्य, सुसंस्कारी एवं धर्म-परायण बने। तभी समाज का और देश का कल्याण हो सकेगा। व्यक्तियों से समाज बनता है और समाज मिलकर राष्ट्र। अगर प्रत्येक समाज का प्रत्येक व्यक्ति विवेकी और संस्कारी बन जाय तो राष्ट्र या देश स्वयं ही उन्नत बन जायेगा।

इसलिए बन्धुओं, उन्नति के इच्छुक मुख्यमन्त्री को और आप जैसे समाज के कर्मठ व्यक्तियों को संगठित होकर बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करना है तथा मानव-मानव में जो भेद-भाव हो गया है उसका जड़ से उन्मूलन करना है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि आप प्राणपण से इस कार्य में जुट जायें। अगर अब भी आप जागरूक नहीं होंगे तो फिर कब यह कार्य हो सकेगा ?

भूखे भगति न होई गोपाला !

आप जानते हैं कि पूर्व काल में लोगों की मनोवृत्ति धर्म-प्रधान थी। अतः उस समय भारतीय जीवन बड़ा सुखमय एवं शान्तिमय था। उस समय मनुष्यों के हृदयों में आज के समान अशान्ति, व्याकुलता एवं धन के लिए हाय-हाय नहीं थी। क्योंकि धर्म उनकी तृष्णा पर अंकुश रखता था तथा संतोष, शान्ति एवं संयमी जीवन बिताने की प्रेरणा दिया करता था। इसी कारण उस समय व्यक्ति का जीवन उच्च और पवित्र बना रहता था। लोग एक-दूसरे के प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं संवेदना रखते थे। परिवार के, समाज के और मित्र-मित्र गाँवों

के व्यक्ति भी एक-दूसरे को अपना आत्मीय एवं कुटुम्बी समझते थे। कोई भी दूसरे को ठगने की, धोखा देने की या किसी की सम्पत्ति को हड़पने की चेष्टा नहीं करता था; जैसी चेष्टा आज प्रत्येक व्यक्ति करता रहता है। कारण उस समय यही था कि धर्म के प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक भावना भी बड़ी जबर्दस्त थी।

किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है, लोगों की विचारधाराएँ भी बदलती गई हैं। दुर्भाग्य से इस देश पर विदेशियों का शासन बरसों रहा, जिनमें न धर्म की गम्भीरता थी और न ही भारत जैसा अध्यात्मवाद था। उनका सिद्धान्त केवल 'जीवन का सुख प्राप्त करो तथा मौज से रहो' यही था। भोग-लिप्सा, फँसनपरस्ती तथा अनात्मवाद की लहरों में बहने वाले उन विदेशियों का प्रभाव भारत के व्यक्तियों पर भी पड़ा और वे भी धर्म से उदासीन हो गये। परिणाम यही हुआ कि धर्म-भावना के अभाव में नैतिकता का लोप होने लगा तथा नास्तिकता के कारण परलोक से डरने वाले भारतीय भी एक दूसरे को ठगने में, नीचा दिखाने में, धोखा देने में और परिग्रह को असाधारण रूप से बढ़ाने में लग गये। यही कारण है कि आज चारों तरफ अशान्ति का एवं व्याकुलता का वातावरण छाया हुआ है। चन्द व्यक्ति, जिन्होंने खूब धन एकत्र कर लिया है वे तो गुलछरें उड़ते हैं, किन्तु बाकी सारी जनता त्राहि-त्राहि कर रही है।

यह सब धर्म एवं नैतिकता की कमी के कारण ही हुआ है। खेद की बात तो यह है कि विरले महापुरुषों को छोड़कर आज कोई भी अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि आत्म-कल्याण की भावना का तो मानो लोप ही हो गया है। धनी लोग भोग-विलास में डूबे रहकर अत्मा का भान भूल गये हैं और दरिद्र व्यक्ति धन के अभाव में आर्त-ध्यान करते रहते हैं। कोई भी यह नहीं सोचता कि हमारा सच्चा आत्मधन क्या है और हमें यह मानव-जीवन पाकर इससे कौनसा लाभ उठाना है। और तो क्या अपने-आपको धर्मात्मा मानने वाले व्यक्ति भी आपस में वैमनस्य रखते हैं तथा स्वयं को अच्छा और दूसरों को बुरा समझते हैं।

यह सब देखकर मन को बड़ा क्लेश और दुःख होता है। लगता है कि आज हमारे बीच से मानो धर्म का सच्चा रूप तो लुप्त ही हो गया है, रह गया है केवल कलेवर। किन्तु उसको पकड़े रहने से क्या होगा? खात्ती घड़ा हाथ में लिये रहने से जिस प्रकार व्यक्ति की प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार धर्म का नाम पकड़े रहने मात्र से जीवन की उन्नति या आत्मा का उद्धार कैसे हो सकता है?

बस, इसीलिए आज की नाजुक परिस्थिति में संगठन की बड़ी भारी आवश्यकता है और उदार धनिकों की आवश्यकता है जो धर्म का रक्षण करें यानी अपने समाज के घनहीन और धर्महीन व्यक्तियों को आश्रय देकर सन्मार्ग पर लाएँ। आज समाज में ऐसे-ऐसे कुटुम्ब भी हैं जो आधा पेट अन्न भी नहीं जुटा सकते, और भूखे रहने पर वे धर्म का मर्म क्या समझेंगे ? कहते भी हैं—

“भूखे भगति न होई गोपाला !”

बेचारा दरिद्र और भूखा व्यक्ति यही कहता है—“हे प्रभु ! भूखे पेट तो हम आपकी भक्ति नहीं कर सकते।” बात सत्य भी है। धर्म-साधना शरीर के द्वारा ही हो सकती है और शरीर तभी चलता है, जबकि वह व्याधिग्रस्त न हो और उसे थोड़ा-बहुत अन्न भी उदर में डालने के लिए मिलता रहे। बड़े-बड़े साधक भी शरीर को धर्म-साधन में सहायक मानकर उसे रूखा-सूखा ही सही, पर कुछ तो उदर में डालने के लिए देते ही हैं।

भोजन पहले चाहिए, उपदेश उसके बाद

कहा जाता है कि भगवान बुद्ध बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए यत्र-तत्र भ्रमण कर रहे थे। एक बार वे किसी गाँव में ठहरे तथा अपने सदुपदेशों के द्वारा वहाँ के निवासियों को धर्म का मर्म समझाने लगे।

उनके शिष्य आनन्द भी इस कार्य में बड़ा सहयोग देते थे। एक दिन वे जब भिक्षा लेकर लौटे तो देखा कि एक व्यक्ति सड़क के किनारे पर किसी वृक्ष के नीचे लेटा हुआ है। आनन्द ने सोचा—‘इसे भी धर्म के विषय में समझाना चाहिए।’ वे उसके पास गये और कुछ सरल-सी बातें समझाने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु उस व्यक्ति ने आनन्द की बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और मुँह फेर कर लेट गया।

यह देखकर आनन्द वापिस अपने स्थान पर लौट आए, पर उस व्यक्ति को प्रबुद्ध करने की भावना उनके हृदय से नहीं गई और वे दो-तीन बार और भी उसके पास गये। पर आश्चर्य की बात थी कि उस व्यक्ति ने एक बार भी आनन्द की बातों को सुनने में रुचि नहीं दिखाई और पूर्ववत् पड़ा रहा।

अन्त में कुछ खिन्न होकर वे बुद्ध के समीप आए और बोले—“भगवन् मैं देखता हूँ कि प्रत्येक स्थान पर लोग बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ धर्मोपदेश सुनते हैं और उसे ग्रहण करते हैं। किन्तु यहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक ऐसा नास्तिक व्यक्ति लेटा हुआ है जो जागते रहकर भी वह धर्म की एक भी बात सुनना पसंद नहीं करता। मैं कई बार उसके पास गया और उसे समझाने की चेष्टा की, पर वह उस से मस नहीं होता।”

भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द की बात को ध्यान से सुना पर कोई उत्तर न देते हुए उन्होंने कुछ खाने की वस्तुएँ अपनी झोली में रखीं और उठ खड़े हुए। आनन्द चकित हुए पर बोले कुछ नहीं।

बुद्ध ने कहा—“वत्स ! कहां है वह व्यक्ति ? मुझे मार्ग बताओ।” आनन्द चुपचाप अपने गुरु के साथ हो लिए। धीरे कदमों से चलते हुए बुद्ध आनन्द सहित उस व्यक्ति के पास पहुँचे और बोले—

“भाई ! उठो, यह थोड़ा-सा मिशान्न है, इसे ग्रहण करो।”

उस व्यक्ति ने आँखें खोलीं पर विश्वास न होने के कारण कुछ उत्तर नहीं दिया। किन्तु बुद्ध ने जब अपनी बात पुनः दोहराई तब वह उठा और देखा स्वयं बुद्ध उसके समीप कुछ खाद्य-पदार्थ झोली से निकाल कर रख रहे हैं। बड़ी कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से व्यक्ति ने बुद्ध को नमस्कार किया और उनके दिये हुए अन्न को खाने लगा। खाने के पश्चात् जब वह सुस्थिर हुआ तो बोला—
“भगवन् ! मुझे भी आत्म-कल्याण का मार्ग सुझाइये।”

बुद्ध ने बड़े प्रेम से उसे कुछ बातें समझाईं जिन्हें समझते ही वह उनके साथ हो लिया और बोला—“प्रभु ! मैं आज से ही आपका शिष्य बनना चाहता हूँ तथा धर्म की शरण लेना चाहता हूँ।”

लौटते समय जब बुद्ध ने आनन्द की विस्मय-विह्वल दृष्टि को देखा तो स्नेहपूर्वक बोले—“आनन्द, तुम्हें इस पर आश्चर्य हो रहा होगा कि इस व्यक्ति ने तुम्हारा उपदेश क्यों नहीं सुना ? बात केवल यही थी कि यह व्यक्ति संभवतः कई दिनों से निराहार था, और ऐसी स्थिति में तुम इसे धर्मोपदेश सुनाने जा रहे थे। पर वत्स ! धर्मोपदेश से पहले उसे भोजन की आवश्यकता थी। भूखे पेट भला वह तुम्हारा उपदेश कैसे सुनता ? मनुष्य को सबसे पहले भोजन की आवश्यकता होती है। उसके अभाव में कभी उसका चित्त धर्म-साधना में नहीं लग सकता। अच्छा हुआ, हम समय पर पहुँच गये, अन्यथा सम्भ्रम है उसका बचना ही कठिन हो जाता, धर्मोपदेश तो दूर की बात थी।”

तो बंधुओ, आप समझ गये होंगे कि प्रत्येक व्यक्ति को सर्वप्रथम अन्न की आवश्यकता होती है, वह मिलने पर ही उसे धर्म-साधना सूझ सकती है। हम और आप भी यह चाहते हैं कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति धर्म को समझे और उसे ग्रहण करके जीवन में उतारे, किन्तु उससे पहले जो दरिद्र, असहाय एवं अनाथ परिवार हैं, उन्हें उदर-पूर्ति के लिए अन्न तथा लज्जा ढकने के लिए वस्त्र मिलना कितना आवश्यक है ?

अभी आपने सुना कि अगर समय पर बुद्ध न पहुँच पाते तो वह व्यक्ति संभवतः अन्न के अभाव में दम तोड़ देता और फिर भिक्षु कौन बनता ?

ऐसा ही कठिन वक्त आज हमारे समाज के अनेक असहाय प्राणियों के लिए भी है। अतः आज सबको संगठित होकर समय रहते ही उनकी सहायता करनी चाहिए अन्यथा फिर आपका धन किस काम आएगा ?

संस्कृत भाषा के एक विद्वान ने अन्योक्ति अलंकार का सहारा लेकर बादलों के बहाने आप जैसे धनिकों से कहा है—

मुंच मुंच सलिलं दयानिधे,
नास्ति नास्ति समयो विलम्बने ।
अद्य चातक कुले मृते पुनर्वारि,
वारिधर ! किं करिष्यसि ?

कवि ने बादलों को सम्बोधित करते हुए कहा है—“अरे दया के सागर बादल ! अपने अन्दर रहे हुए जल को छोड़ । यह समय विलम्ब करने का नहीं है, क्योंकि जल के अभाव में अगर आज चातक पक्षी का परिवार मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा तो फिर हे बादल, तू अपने पानी का और कौनसा सदुपयोग करेगा ?”

वस्तुतः चातक नदी, तालाब या कुए का पानी नहीं पीता, वह केवल वर्षा की बूंदों को ही ग्रहण करता है। इसीलिए कवि ने कहा है कि—“अगर प्यास के मारे चातक आज अपने कुल सहित नष्ट हो जाएगा तो फिर बाद में तुम्हारा बरसाया हुआ जल किस काम का ?”

चातक के समान ही समाज के सदस्य भी होते हैं, आत्म-गौरव के कारण वे किसी के समक्ष हाथ नहीं फैलाते, किन्तु धनिकों का कर्तव्य है कि वे स्वयं हाथ ऊँचा करके जरूरतमंदों की बड़े प्रेम और भाईचारे के साथ सहायता करें। उन अभावग्रस्त व्यक्तियों को दाता बनकर नहीं, अपितु भाई बनकर अभावों से छुटकारा दिलाएँ। अन्यथा उनका धन आखिर फिर किस काम आएगा ?

आगे और भी कहा है—

वितर वारिद ! वारि दवानुरे,
चिर पिपासित चातकपोतके ।
प्रचलिते मरुतौ क्षणमन्यथा,
क्व च भवान् क्व पयः क्व च चातकः ॥

कितनी मर्मस्पर्शी सीख है ? कवि कहता है—“हे बादल ! जहाँ असह्य गर्मी है और चातक के नन्हें-नन्हें बच्चे बहुत दिनों से प्यासे हैं, वहाँ तुरन्त जल प्रदान करो । अन्यथा अगर तेज हवा चलनी प्रारम्भ हो जाएगी तो फिर कहाँ तुम होंगे ? कहाँ पानी रहेगा और कहाँ ये चातक रह जाएँगे ?

बंधुओ, इस यथार्थ उक्ति से आप सभी को निश्चय रूप से जान लेना चाहिए कि धनिकों का धन बादलों में भरे हुए जल के समान ही होता है और अगर समय पर इसका सदुपयोग न किया जाय तो निरर्थक चला जाता है । खेती सूख जाने पर वर्षा का क्या उपयोग है ? का वर्षा जब कृषि सुखानी ? इस बात को हमें गंभीरतापूर्वक समझना चाहिए कि धनाढ्य व्यक्ति बादल के समान हैं, धन जल के समान और मारुत अर्थात् पवन मृत्यु रूपी झौके के समान ।

इस प्रकार धनाढ्य व्यक्ति अगर जरूरत के समय अपना जल रूपी धन चातक रूपी अभावग्रस्त प्राणियों के लिए काम में नहीं लेंगे तो न जाने किस समय पवन रूपी काल आकर उन्हें इस लोक से हटाकर ले जाएगा और परिणाम यही होगा कि दुःखी और अनाथ व्यक्ति कहीं रह जाएँगे, धन न जाने किसके हाथ जा पड़ेगा और स्वयं भी कौन जाने किस सुदूर की ओर प्रयाण कर जाएँगे । अतः यही सर्वोत्तम है कि समय रहते, काल रूपी पवन के आने से पहले ही चातक के समान पिपासाकुल यानी दीन-दरिद्रों की कष्ट एवं दुःख रूपी पिपासा को मिटा दिया जाय ।

पर कितने लोग ऐसे हैं जो जीवन की क्षणभंगुरता को समझ कर अपने मन, वचन, शरीर एवं धन का अपने जीवन-काल में ही सदुपयोग करके उससे लाभ उठाते हैं ? बहुत ही थोड़े । अधिकांश व्यक्ति तो चाँदी-सोने की चमक के सामने अपनी आत्मा की चमक का ख्याल ही नहीं करते । फल यही होता है वे सोना-चाँदी, जमीन-मकान आदि की वृद्धि में लगे रहकर आत्म-कल्याण को भविष्य के लिए स्थगित कर देते हैं, और इसी बीच काल आकर उन्हें स्थानांतरित कर देता है ।

कवि श्री ‘भारिल्ल’ जी ने भी अपनी अनित्य-भावना में मानव की तृष्णा, आसक्ति और मूर्खता देखते हुए लिखा है—

अमर मानकर निज जीवन को परभव हाथ भुलाया,
चाँदी-सोने के टुकड़ों में फूला नहीं समाया ।
देख सूदृता यह मानव की उधर काल मुस्काया,
अगले पल ले चला यहाँ पर नाम निशान न पाया ।

पद्य का अर्थ सरल और स्पष्ट है कि मिड्रास और सिकन्दर जैसे व्यक्ति इस प्रकार धन को इकट्ठा करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं, मानो वे अमर हैं और अनन्तकाल तक अपने धन का उपभोग करते रहेंगे। किन्तु उनकी मूर्खता पर काल हँसता हुआ अचानक ही किसी दिन झपट्टा मारकर उन्हें पृथ्वी पर से उठा ले जाता है तथा नामो-निशान भी कहीं नहीं रहने देता।

इसीलिए मेरे भाइयो ! आपको समय रहते ही चेत जाना है तथा समय पर बरस कर चातक-कुल को तृप्त करने वाले बादलों के समान बनना है। समाज और देश के हितार्थ आपको अपने तन एवं धन, दोनों का ही सदुपयोग करते हुए धर्म का प्रचार व प्रसार करना है। इस अधिवेशन और संगठन का उद्देश्य यही है कि आप लोग संगठित होकर समाज के सदस्यों की बहाय स्थिति सुधारें तथा उनके मानस को भी सुधार कर उज्ज्वल बनाएँ।

संगठन और धर्म

संगठन की शक्ति अद्वितीय होती है और फिर उसमें धर्म भी रमा हुआ हो तो समाज और देश तो क्या संसार की भी कायापालट हो सकती है। आज जैनदर्शन और बौद्धदर्शन के सिद्धान्त हमारे देश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी मान्य तथा यशःप्राप्त हैं। यह कैसे हुआ ? इसलिए कि धर्म के अनुयायी संगठित होकर अपने देश में और विदेशों में भी इसके प्रचार के लिए जाते रहे हैं। उस परिश्रम के फलस्वरूप ही इन दर्शनों का दूसरे देशवासियों ने आदर किया तथा इन्हें ग्राह्य मानकर ग्रहण किया।

संगठन के साथ धर्म को रमा देने के कारण ही हमारा देश वर्षों की विदेशी सत्ता को हटाने में समर्थ हुआ था ! महात्मा गाँधी ने जब देश को विदेशी सत्ता के चंगुल से मुक्त करने का विचार किया तो सर्वप्रथम इने-गिने व्यक्ति ही उनके साथ थे, किन्तु जब लोगों ने देखा कि गाँधीजी परम धर्म 'अहिंसा' के महान शस्त्र से वर्षों की विदेशी श्रृंखला को तोड़ने जा रहे हैं तो हजारों-लाखों व्यक्ति प्रभावित होकर उनके साथ हो लिये। सत्य एवं अहिंसा धर्म ने ही लोगों को आकर्षित किया और वे संगठित होकर इस ब्रह्मास्त्र के द्वारा विदेशी शासन से लोहा लेने के लिए तैयार हो गये।

प्राचीन काल से जहाँ व्यक्ति अपनी थोड़ी-सी जमीन अथवा छोटे-से राज्य के लिए खून की नदियाँ बहा देते थे, वहाँ इतने बड़े भारत देश को भी हमारे देशवासियों ने संगठित होकर बिना रक्त बहाये अहिंसा धर्म के द्वारा संसार को चमत्कृत करके वर्षों की दासता से छुड़ा लिया।

शास्त्रों में कहा गया है :—

अत्थि सत्थं परेण परं,
नत्थि असत्थं परेण परं ।

—आचारसंगसूत्र १३।४

अर्थात्—शास्त्र (हिंसा) एक से एक बढ़कर हैं, किन्तु अनस्त्र (अहिंसा) एक से एक बढ़कर नहीं हैं। अर्थात् अहिंसा से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आप लोग संगठन के जिस उच्च उद्देश्य को लेकर यह अधिवेशन करने जा रहे हैं, उसके पीछे आपकी भावना निःस्वार्थ एवं यशप्राप्ति की कामना से रहित होगी तो आपका उद्देश्य अवश्य सफल होगा। क्योंकि काम करने के पीछे अगर किसी प्रकार का स्वार्थ हो, प्रसिद्धि की कामना हो या उच्च पद की लालसा हो तो भावनाएँ पवित्र नहीं रहतीं तथा उनके साथ किया हुआ परिश्रम भी अपना सुफल प्रदान नहीं करता। पर इसके विपरीत अगर शुद्ध भावनाओं के साथ धर्म की सहायता से जो प्रयत्न किया जाता है, वह निश्चय ही फल-प्रद बनता है।

मैं आशा करता हूँ कि आप संगठन के लिए तथा समाज की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करने के लिए जो प्रयत्न करने जा रहे हैं, उसमें समाज की बाह्य तथा आंतरिक, दोनों ही स्थितियाँ सुधर सकेंगी, साथ ही आपको आत्मिक-सन्तोष का लाभ हासिल होगा। क्योंकि इस संसार में सुखी कम हैं और दुःखी अधिक। अतः दुःखियों का दुःख मिटाने से आंतरिक खुशी हासिल होती है।

उर्दू-कवि जीक ने भी कहा है—

राहतो रंज जमाने में हैं दोनों, लेकिन—

याँ अगर एक को राहत है तो है चार को रंज ।

वस्तुतः इस संसार में सुख और दुःख दोनों ही हैं, पर अधिकता दुःख की ही है, क्योंकि चार दुःखियों पर मुश्किल से एक सुखी मिलता है।

अन्त में, मैं एक बार पुनः आपके अधिवेशन एवं संगठन के प्रयत्नों की सराहना करता हुआ इनकी सफलता के लिए शुभकामना करता हूँ तथा आशा ही नहीं अपितु विश्वास रखता हूँ कि आप लोगों के प्रयास का फल आपको अवश्य मिलेगा। भले ही वह तुरन्त न मिल पाए, किन्तु धीरे-धीरे उसका परिणाम अवश्य निकलेगा। आपको भी धैर्य और लगन के साथ कार्य करते जाना चाहिए ताकि हमारा समाज एवं धर्म दोनों ही अपने गौरव को प्राप्त कर सकें।

○

जाए सद्भाए निक्खन्ते

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारा संवरतत्व के सत्तावन भेदों पर विवेचन चल रहा है। उनमें से इकत्तीसवाँ भेद 'दर्शन परिषह' है जो कि बाईस परिषहों में अन्तिम परिषह माना गया है।

दर्शन का अर्थ श्रद्धा है और जो 'दर्शन परिषह' पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता, यानि श्रद्धा से विचलित हो जाता है वह व्यक्ति शंकाओं से भरकर सोचने लगता है कि 'परलोक कहीं नहीं है अतः अब तक मैंने जो तपश्चर्या की, वह निरर्थक गई है। मैं छला गया हूँ, क्योंकि किसी भी तपस्वी को मैंने कोई ऋद्धि प्राप्त करते नहीं देखा।'

पर तपस्वी या साधक का ऐसा विचार करना गलत है। क्योंकि उसने ऋद्धि देखी नहीं, इसलिए ऋद्धियाँ नहीं होती यह कैसे हो सकता है? हम जिस वस्तु को न देख पाएँ, उसका अस्तित्व ही नहीं है ऐसा कहना सरासर गलत है।

मराठी भाषा में संत तुकारामजी कहते हैं—

“आंघल्यासी जन अवघेचि आंघले,
आपणासी डोले दृष्टि नाहीं।”

अन्धे व्यक्ति को सभी व्यक्ति अन्धे ही जान पड़ते हैं। उदाहरणस्वरूप किसी अन्धे व्यक्ति की लकड़ी पकड़ कर कोई व्यक्ति चलता है, पर असावधानी से या इधर-उधर दृष्टि होने से लकड़ी पकड़कर चलने वाला व्यक्ति ठोकर खा जाता है। ठोकर खाने से लकड़ी ऊँची-नीची हो जाती है और वह अन्धा कहता है—“मुझे कुछ नहीं दिखता पर लगता है कि तुझे भी कुछ दिखाई नहीं देता।”

इस प्रकार अन्धा व्यक्ति देखने वाले को भी अन्धा बनाता है, पर क्या वह व्यक्ति वास्तव में अन्धा होता है या उसे कुछ दिखता नहीं है ? नहीं, उसे दिखता है पर अन्धे को कुछ दिखाई नहीं देता अतः वह दूसरे को भी अन्धा समझता है ।

अपनी श्रद्धा कायम रखना चाहिए

ऋद्धियों की प्राप्ति के विषय में भी यही बात है कि जो इन्हें पाने के लायक तप नहीं कर पाता और ऋद्धि-सिद्धि हासिल नहीं कर पाता वह यही कहता है कि ऋद्धियाँ या चमत्कार होते ही नहीं । किन्तु हमें ऐसा कहने वाले अश्रद्धालु व्यक्तियों की बात सुनकर अपने विश्वास को नहीं डोलने देना है । अन्धे को न दिखाई देने पर भी जिस प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं का अस्तित्व कायम है, उसी प्रकार ऋद्धि प्राप्त न कर सक पाने पर भी ऋद्धियों का प्राप्त होना अवश्य ही सत्य है । प्राप्त वे उन्हें ही होती हैं जो उन्हें प्राप्त करने लायक तपश्चर्या और साधना करते हैं ।

वीतराग और केवलज्ञानियों ने जो कहा है अपने अनुभवों के आधार पर ही कहा है और उनके वचन हमें शास्त्रों में मिलते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को शास्त्रों पर विश्वास रखते हुए अपनी साधना और तपश्चर्या यथाशक्ति जारी रखनी चाहिए । कहा भी है—‘जाए सद्गाए निबखन्ते तमेव अणुपालेज्जा ।’ यानी जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, उसी श्रद्धा के साथ संयम का पालन करना चाहिए ।

इस संसार में दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं । एक तो गुणग्राही और दूसरे गुणनिदक । गुणग्राही व्यक्ति तो जहाँ से और जिससे भी आत्मोन्नति के गुण प्राप्त होते हैं, उन्हें ले लेता है और बाकी सब छोड़ देता है, किन्तु निदक व्यक्ति न तो स्वयं गुण ग्रहण करता है और न ही दूसरों को गुणी बनने देता है । हमें ऐसे निदकों से बचना चाहिए तथा अपने सद्गुणों को सुरक्षित रखना चाहिए । प्रायः देखा जाता है कि दान देने वाला दानी तो देता है, पर निदक व्यक्ति कहता है—“मूर्ख धर गँवा रहा है अपने आगे की नहीं सोचता ।” इसी प्रकार तपस्वी तप करता है पर इर्ष्यालु कह देता है—“शरीर को बिगाड़ रहा है, अरे जान है तो अहान है ।”

इस प्रकार जो मिथ्यात्वी या अश्रद्धालु होते हैं, वे प्रत्येक सद्गुण को बुरा बताये बिना नहीं रहते । किन्तु उनके बुरा बताने से क्या सद्गुण अवगुण हो सकते हैं ? नहीं । सोना जिस प्रकार सदा चमकता रहता है, गुण भी कभी

मलीन या बुरे नहीं हो सकते अपितु आत्मा के लिए कल्याणप्रद बनते हैं। कहा भी है—

गुण सुद्विग्स वयणं, घयपरिसित्तुव्व पावओभाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहणो जह पईवो ॥

—बृहत्कल्पभाष्य २४५

अर्थात्—गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी होता है, जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन तेलरहित दीपक की तरह तेज और प्रकाश से शून्य होता है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति सदा गुण ग्रहण करने की होनी चाहिए मले ही वे किसी साधारण प्राणी में ही क्यों न हों? अभी मैंने आपको कहा है कि दुर्गुणी और निदक व्यक्ति तो दान देने और तपस्या करने को भी मूर्खता कहते हैं, जिसके कारण धन कम होता है और शरीर क्षीण हो जाता है।

किन्तु हमें यह विचार करना है कि धन तो क्षणभंगुर है ही, अगर अपने हाथ से दिया जायेगा तो पुण्य के रूप में अनेक गुना बढ़कर परलोक को सुखद बनायेगा। और इसी प्रकार यह शरीर है, चाहे कितनी भी सावधानी क्यों न रखो, एक दिन नष्ट हो जायेगा पर अगर इसके द्वारा तपस्या की जायेगी तो न जाने कितने पूर्व संचित कर्मों का क्षय होगा। ऐसा ही सभी सद्गुणों के विषय में कहा जा सकता है और पूर्णतया यथार्थ भी है। इसलिए श्रद्धाविहीन व्यक्तियों के कथनमात्र से ही हमें सद्गुणों को दुर्गुण और शुभ-क्रियाओं को अशुभ नहीं मान लेना चाहिए।

गुणहीन व्यक्ति जैसा कहेगा और करेगा, उसका परिणाम वह स्वयं ही भोगेगा।

शास्त्र में बताया भी है—

चउर्ह ठार्णेह संते गुणे नासेज्जा—
कोहेणं, पडिनिवेसेणं, अकयण्णुयाए
भिच्छित्ताभिणिवेसेणं ।

—स्थानांगसूत्र ४।४

अर्थात्—क्रोध, ईर्ष्या-डाह, अकृतज्ञता और मिथ्या-आग्रह इन चार दुर्गुणों के कारण मनुष्य के वर्तमान गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होंगे कि जो व्यक्ति अपने हृदय में अभी-अभी बताये गये चार अवगुणों को स्थान देता है वह औरों का बुरा तो नहीं भी कर सके, किन्तु अपना बुरा तो कर ही बैठता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति

को न तो किसी के अवगुणों पर दृष्टिपात करना चाहिए और न ही उसके बहकावे में आकर आत्म-धन रूपी अपनी सद्गुणों को खोना चाहिए ।

शास्त्रों के अनुसार अभी बताये गये क्रोध, ईर्ष्या, मान आदि सभी दुर्गुण कषाय में आते हैं और कषाय पापों को जन्म देती हैं । जो व्यक्ति इनके वशीभूत हो जाते हैं वे पशुओं से भी गये-बीते होते हैं ।

कहा जाता है कि एक बार भगवान के परम भक्त हुसेन से समीप बैठे हुए किसी दुष्ट व्यक्ति ने कुत्ते की ओर इशारा करते हुए पूछा—“हुसेन साहब ! आप में और उस कुत्ते में क्या अन्तर है ?”

हुसेन ने सहज भाव से अविलम्ब उत्तर दे दिया—

“भाई ! जब मैं भगवान की भक्ति और धर्म-साधना में लगा रहता हूँ तो मैं कुत्ते से श्रेष्ठ साबित होता हूँ तथा जब पापाचरण करता हूँ तो कुत्ता मुझ से श्रेष्ठ होता है ।”

वस्तुतः जब मानव अमानवता को अपना लेता है तथा अपने आत्म-गुणों को भूलकर पाप-कार्यों में संलग्न हो जाता है तब वह पशु से भी निम्न स्तर पर पहुँच जाता है । पशु तो पाप-कार्य करने पर भी क्षम्य हो सकता है क्योंकि उसमें बौद्धिक बल नहीं होता, किन्तु मनुष्य जिसे ईश्वर ने इतनी बुद्धि दी है कि वह चाहे तो सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करले, फिर भी अगर वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग न करके पाप-कार्यों में दुरुपयोग करता है तो वह कदापि क्षम्य नहीं है और इसीलिए पशु से भी गया-बीता माना जाता है ।

इसलिए वीतराग के वचनों पर विश्वास एवं अटल श्रद्धा रखते हुए प्रत्येक मुमुक्षु को शुभ-कर्मों में तथा तप एवं साधना में यथाशक्य संलग्न रहना चाहिए । उसे कभी यह विचार नहीं करना चाहिए कि—“इतने काल तक मैंने व्यर्थ ही साधना की या तप किया । इनके फलस्वरूप मुझे ऋद्धि-सिद्धि तो प्राप्त हुई ही नहीं, अतः निश्चय ही इनका अस्तित्व न कभी रहा है और न ही भविष्य में होगा ।”

शास्त्रों में कभी मिथ्या बातें नहीं होतीं । हमारे यहाँ अट्टाईस प्रकार की लब्धियाँ होती हैं, ऐसा वे बताते हैं । पर हमें वे हासिल नहीं होतीं तो इसका एकमात्र यही कारण है कि हम उत्तम साधना नहीं कर पाते और उत्कृष्ट तप भी हमसे नहीं हो पाता । पर इसके लिए दुःख, खेद या मन में अश्रद्धा क्यों लाना चाहिए ? क्या हम इतने से संतुष्ट नहीं रह सकते कि शुभ कार्य करने पर या यथाशक्य तप-साधना करने पर जबकि इस लोक में लोग हमें बुरा नहीं कहते और स्वयं हमारा मन भी संतुष्ट एवं प्रसन्नता से परिपूर्ण रहता है तो परलोक

में भी इनके कारण कष्ट तो निश्चय ही नहीं मिलेगा, मिलेगा तो कुछ न कुछ अच्छा फल ही। एक छोटा-सा उदाहरण है—

उलटी गंगा बह गई

किसी बादशाह के यहाँ एक व्यक्ति नौकरी करता था। यद्यपि उसे कार्यानुसार वेतन मिलता था, पर तनिक भी असावधानी होने पर या गलती हो जाने पर कमी-कमी उच्च-पदस्थ व्यक्तियों की और कमी-कमी स्वयं बादशाह की डाँट-फटकार खानी पड़ती थी।

इस कारण धीरे-धीरे उसका मन सांसारिक पचड़ों से विरक्त हो गया और वह बादशाह की नौकरी छोड़कर फकीर बन गया। फकीर बन जाने पर उसे बड़ा संतोष और आत्मिक शांति प्राप्त हुई। उसे लगा कि थोड़ी जमीन और छोटे से राज्य के मालिक की नौकरी करने से सृष्टि के मालिक की भक्ति करना सर्वोत्तम है।

अब वह फकीर दिन-रात खुदा की इबादत करता और जब कमी मन आता तब जो कुछ मिलता उसे खाकर पुनः अपनी साधना-तपस्या में लग जाता। इस जीवन में न कोई उसकी भर्त्सना करने वाला था, न डाँटने-फटकारने वाला और न ही किसी कार्य में भूल हो जाने पर सजा देने वाला। अतः निश्चिन्त होकर वह अपने अल्लाह की प्रार्थना करता तथा अपनी मौज के अनुसार बैठता उठता, खाता या इबादत करता। फकीरावस्था में न वह किसी का गुलाम था और न घंटों किसी के द्वार पर खड़े रहकर मालिक के दर्शन करने और उनसे किसी कार्य की आज्ञा लेने की आवश्यकता थी। अपना मालिक वह स्वयं था और परम सुखी था।

धीरे-धीरे उसके फकीर बन जाने की बात शहर में फैल गई और बादशाह के कानों तक भी जा पहुँची। किसी ने उनसे कहा—“आपके यहाँ का ही अमुक नौकर बड़ा भारी फकीर बन गया है और अब वह किसी की परवाह नहीं करता। मन होता है तो किसी से बात करता है और नहीं तो मिलता भी नहीं।”

बादशाह को यह सुनकर बड़ा गुस्सा आया कि मेरा ही नौकर मेरे राज्य में नबाब बना बैठा है और अपनी इच्छा के अनुसार चलता है। उन्होंने अपने एक कर्मचारी से कहा—

“जाओ, उस फकीर को बुला लाओ ! कहना बादशाह बुला रहे हैं।”

कर्मचारी राजाज्ञा होने के कारण तुरंत फकीर के पास पहुँचा, और विनय पूर्वक बोला—“आपको बादशाह बुला रहे हैं।”

“मुझे समय नहीं है और न ही मैं बादशाह का नौकर हूँ।” फकीर ने बेफिक्री से उत्तर दे दिया। कर्मचारी ने यही बात बादशाह के समक्ष आकर दोहरा दी।

यह सुनकर प्रथम तो बादशाह आग-बबूला हुआ पर फिर सोचने लगा—“मेरे एक साधारण से नौकर में मेरी ही अवज्ञा करने की हिम्मत कैसे आ गई?” वह कुछ समझदार था अतः सोचा—“चलकर उसी से पूछूँ कि जब मेरे पास रहते थे, तब तो तुम मीठी बिल्ली के समान घंटों मेरे भवन के द्वार पर मेरी आज्ञा या मेरे संकेत के लिए खड़े रहते थे, पर आज मेरे बुलाने पर भी तुमने आने से इन्कार किस बूते पर किया?”

राजा या बादशाह उतावले तो होते ही हैं! उसी वक्त घोड़े पर चढ़कर फकीर के पास जा पहुँचे। देखा कि फकीर बड़े आनन्द, संतोष एवं निराकुल भाव से अपनी प्रार्थना में लगा हुआ है। उसके चेहरे पर अखंड शांति तथा आत्म-तेज विद्यमान है, जिससे चेहरे की कांति फूटी पड़ रही है।

यह देखकर बादशाह का रहा-सहा क्रोध भी समाप्त हो गया और वह पूछ बैठ—“क्योंजी! क्या सोचकर तुमने यह फकीरी धारण की है? आखिर मेरे यहाँ काम करते थे तो वेतन और उसके अलावा कभी-कभी इनाम भी पाते थे जिससे अच्छा पहनने और अच्छा खाने को मिलता था। पर वह सब छोड़कर ये न कुछ से वस्त्र पहनकर और कंद-मूल या रूखा-सूखा खाकर रहने से तुम्हें कौन-सा अनोखा लाभ हो रहा है?”

फकीर ने आँखें खोलकर मुस्कराते हुए उत्तर दिया—

“बादशाह! खुदा की शरण में आने से सबसे पहला लाभ तो यही हुआ है कि जहाँ मैं घंटों आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा में आपके द्वार पर खड़ा रहता था और आप परवाह ही नहीं करते थे, वहाँ आज आप स्वयं चलकर मेरी कुटिया के दरवाजे पर मुझसे मिलने आये हैं। दूसरे, उस समय मुझे हर समय यह चिन्ता रहती थी कि मेरे किसी कार्य से आप नाराज न हो जायँ और मुझे दंड न भुगतना पड़े, उसके बजाय अब मैं पूर्ण निराकुलता और निश्चिन्तता-पूर्वक रहता हूँ। जब इच्छा होती है सोता हूँ, जब इच्छा होती है उठता हूँ और अल्लाह की इबादत में लग जाता हूँ।”

“यह तो अल्पकाल में ही प्राप्त होने वाला प्रत्यक्ष लाभ है और अब, जबकि मैं एक मनुष्य की गुलामी करके खाने-पहनने को पाता था तो संसार के मालिक की गुलामी करके परलोक में निश्चय ही कुछ ऐसा प्राप्त करूँगा जिसके सामने खाना-पहनना तुच्छ बात है अपितु वह ऐसा होगा जिसके सामने खाने-

पहनने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। यानी मुझे फिर खाने-पीने और जन्म लेकर मरने की जरूरत नहीं होगी, मैं स्थायी सुख की प्राप्ति कर लूंगा।”

बादशाह फकीर की यह बात सुनकर बहुत चकित हुआ, किन्तु उसकी समझ में आ गया कि फकीर ने मेरी नौकरी छोड़कर जो खुदा की बन्दगी स्वीकार की है, वह मेरी नौकरी की तुलना में अनेकानेक गुनी श्रेष्ठ है।

श्री भर्तृहरि ने भी कहा है :—

नायं ते समधो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि-
स्थित्वा ब्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः ।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
निर्दो' बारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रवम् ॥

श्लोक में मन को संबोधित करके कहा गया है—“रे मन ! जिनके द्वार पर यह सुनने को मिलता है कि 'मालिक से मिलने का यह समय नहीं है, वे इस समय एकान्त चाहते हैं, इस समय सो रहे हैं, अगर तुम्हें खड़ा देखेंगे तो कुपित होंगे, तो ऐसे मालिक का त्याग कर तू उन विश्वेश की शरण में चल, जिनके द्वार पर रोकने वाला कोई दरबान नहीं है जहाँ निर्दय एवं कठोर वचन कभी सुनने नहीं पड़ते। उलटे वे ईश्वर अनन्त एवं शाश्वत सुख प्रदान करते हैं।”

वस्तुतः सच्ची साधना एवं निस्वार्थ तपस्या में ऐसी ही अदभुत शक्ति होती है, पर आवश्यकता है उसके साथ सम्यक् श्रद्धा की। अगर व्यक्ति तप एवं साधना करता भी चले, किन्तु उसके मन में अपनी तपस्या के फल की सतत कामना बनी रहे और फल-प्राप्ति न होने पर सन्देह एवं शंकाओं के भूत मन में तांडव करते रहें तो साधना एवं तप में शक्ति कहाँ रहेगी और कैसे इस लोक में या परलोक में उनका उत्तम फल प्राप्त होगा ?

दिखावे से लक्ष्य सिद्धि नहीं होगी !

आप जानते ही हैं कि दिखावे के कार्यों से उनका लाभ नहीं उठाया जा सकता। भले ही लोग इस लोक में यश-प्राप्ति की कामना से पूजा-पाठ, जप-तप या भक्ति कर लें, तथा मनुष्यों की आँखों में धूल झोंककर महात्मा कहलाने लग जायँ, किन्तु कर्मों की आँखों में धूल झोंककर परलोक में सुख प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। वहाँ तो वही फल मिलेगा जैसी यहाँ भावना रहेगी। कार्यों के अनुसार ही अगर भावना शुद्ध रहेगी तो परलोक में उत्तम फल मिलेगा और उसे कोई भी रोकने में समर्थ नहीं होगा। कहा भी है—

जेम चित्तं समावाय, भुज्जो लोयंसि जायइ ।

—दशाश्रुतस्कन्ध ५।२

अर्थात्—निर्मल चित्त वाला साधक संसार में पुनः जन्म नहीं लेता ।

ध्यान में रखने की बात है कि गाथा में साधक के लिए निर्मल चित्त वाला होना आवश्यक बताया गया है । चित्त की निर्मलता को ही दूसरे शब्दों में भावना की विशुद्धता कहा जाता है । अतः जिस साधक की भावनाएँ निर्मल यानी शंका, मिथ्यात्व या नास्तिकता के मल से रहित होंगी वही अपनी साधना एवं तपस्या का सही फल भी प्राप्त कर सकेगा ।

अब मैं 'दर्शन परिषद्' के विषय में कही गई दूसरी गाथा को आपके सामने रखता हूँ । वह इस प्रकार है—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अबुवावि भविस्सई ।

मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चित्तए ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २, गाथा ४५

भगवान ने फरमाया है कि भिक्षु कभी यह न सोचे कि जो लोग कहते हैं, जिन हुए, जिन हैं और जिन होंगे, वे झूठ बोलते हैं ।

मैंने आपको बताया था कि जिस प्रकार अंधा संसार की वस्तुओं को नहीं देख पाता तो भी वे होती हैं और जिन्हें दिखाई देता है वे उन वस्तुओं को देख लेते हैं । इसी प्रकार हम जिन बातों को अपने अज्ञानांधकार के कारण अथवा अत्यल्प ज्ञान के कारण नहीं जान पाते, उन्हें सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अथवा जिन्हें हम तीर्थंकर या जिन कहते हैं वे जान चुके हैं, देख चुके हैं । उन जिनों के वचनों को आप्तवचन कहा गया है, वही संगृहीत होकर जैनागम कहलाते हैं ।

खेद की बात है कि अश्रद्धालु श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी भी, जिन हुए हैं, जिन हैं और जिन होंगे, इस बात को असत्य समझ बैठते हैं । जैसा कि मैंने पूर्व में बताया था, व्यक्ति अपने पूर्वजों को भी देख नहीं पाता पर वे हुए अवश्य थे, इसी प्रकार हमारे देख न पाने पर भी जिन हुए हैं यह अनुमान आदि प्रमाणों से स्वतःसिद्ध है । अतः इसमें संदेह या शंका की बात ही नहीं है ।

भूतकाल में राग-द्वेष को जीतने वाले केवली, अरिहन्त, सर्वज्ञ या जिन कह लें, वे हुए हैं और वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में 'बीस विहरमान' विद्यमान हैं जो वर्तमान के तीर्थंकर हैं, तथा भविष्य में भी तीर्थंकर होंगे । 'समवायांग' सूत्र के मूल पाठ में भविष्य में होने वाले चौबीसों तीर्थंकरों के नाम भी निर्देश कर दिये गये हैं जो कि अपने भरतक्षेत्र में होने वाले हैं ।

नास्तिक इन यथार्थ बातों को गलत कहते हैं, किन्तु आस्तिक नहीं। मुनियों को भी नास्तिकों के समान चिंतन नहीं करना चाहिए अन्यथा उनकी श्रद्धा लोप हो जायेगी और पतित होकर वे कहीं के भी नहीं रहेंगे। हमारे आगम चौदह गुणस्थानों के विषय में बताते हैं और कहते हैं कि परिणामों की धारा ज्यों-ज्यों उत्कृष्ट होती जायेगी त्यो-त्यो आत्मा प्रथम गुणस्थान से क्रमशः ऊँची उठती चली जायेगी, यानी ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों को प्राप्त करती जायेगी।

किन्तु अगर भावनाओं में या परिणामों में अश्रद्धा आ गई तो आत्मा कहाँ जाकर गिरेगी यह कहा नहीं जा सकता। गुणस्थानों की दो श्रेणियाँ होती हैं— (१) क्षपक एवं (२) उपशम। उपशम श्रेणी वाले बाह्यरूप में तो शांत होते हैं, किन्तु आंतरिक रूप से दोषपूर्ण बने रहते हैं। परिणाम यह होता है कि इस श्रेणी वाले व्यक्ति किसी तरह बारहवें गुणस्थान तक तो पहुँच जाते हैं, किन्तु वहाँ से सीधे नीचे तक आ गिरते हैं। उदाहरणस्वरूप, हम मकान में दूसरी मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ना प्रारम्भ करें और दस सीढ़ियाँ चढ़ भी जायँ, किन्तु उसके बाद ही असावधानी से पैर फिसल जाय तो दसों सीढ़ियों पर से लुढ़कते हुए फर्श पर आ गिरते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि दस सीढ़ियों तक अगर हम चढ़ गए हैं तो अब नीचे तक आ ही नहीं सकते। इसी प्रकार उपशम श्रेणी वाले व्यक्ति भी दस गुणस्थान तक पहुँच सकते हैं किन्तु जब भावना में विकृति उत्पन्न होती है तो पुनः सबसे नीचे आकर गिर जाते हैं।

किन्तु क्षपक श्रेणी वाली अन्य आत्माएँ सदा बाहर और अन्दर से शांत एवं समाधि-पूर्ण रहती हैं। इसके फलस्वरूप वे प्रत्येक गुणस्थान को पार करती हुई चढ़ती चली जाती हैं, कभी गिरती नहीं। वे आत्माएँ निरंतर कर्मों का क्षय करती हुई अन्त में उनसे पूर्ण मुक्त हो जाती हैं।

पर ऐसा होता कब है? तभी, जबकि व्यक्ति अपनी श्रद्धा को अविचलित रखे तथा विषय-कषाय से परे रहे। आपको याद होगा एक उदाहरण में मैंने बताया था कि जिनपाल और जिनरक्षित से यक्ष ने कहा था—“मैं तुम्हें ले चलता हूँ पर रयणा देवी तुम्हें फुसलाने का प्रयत्न करेगी। उस स्थिति में अगर तुम्हारे मन में फर्क आया तो मैं तुम्हें गिरा दूँगा।”

विषय-कषाय भी ऐसे ही मानव के मन को फुसलाया करते हैं तथा अपनी ओर आकर्षित करने के प्रयत्न में रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जो साधक जिस श्रेणी पर होता है, वहीँ से नीचे आ जाता है। यहाँ गम्भीरता से सोचने की बात तो यह है कि व्यक्ति थोड़ा चढ़कर वहाँ से गिरेगा तो चोट कम

लगेगी, किन्तु अधिक ऊँचाई पर चढ़कर गिरेगा तो हाथ-पैर टूट जाएँगे तथा चोट भी अधिक आएगी ।

साधु के लिए भी यही बात है । अरे माई ! तुमने गृह त्याग कर साधु का बाना पहना है तथा पंच महाव्रत धारण करके उच्च पद को प्राप्त किया है, तो उस पद के अनुसार ही उत्तम साधना करो तथा अपनी भावनाओं को निर्मल रखो । अन्यथा गुणस्थान की उपशम श्रेणी के कारण बहुत ऊँचे चढ़कर नीचे गिरोगे तो तुम्हारी अधिक हानि होगी । अर्थात् तुम्हारी की हुई बहुत-सी साधना एवं तपस्याएँ निरर्थक चली जायेंगी ।

कहने का अभिप्राय भगवान का यही है कि साधु को सच्चे अर्थों में साधुत्व का पालन करते हुए गुणस्थान की क्षपक श्रेणी को ही प्राप्त करना चाहिए । उपशम श्रेणी उस गंदे पानी के समान होती है, जिसमें ऊपर से तो स्वच्छ जल दिखाई देता है, किन्तु नीचे कचरा, रेत या अन्य मलिनता जमी रहती है । इसके कारण तनिक-भी हिलोर आते ही पुनः सारा पानी गंदा हो जाता है और उससे वस्त्र, शरीर आदि किसी भी वस्तु की शुद्धि नहीं होती और न ही वह पीने के योग्य रहता है ।

इसलिए जो साधक उपशम श्रेणी प्राप्त करके रह जाता है, उसके बाह्य-चार में तो शुद्धता दिखाई देती है, किन्तु अंतर में कषायों और विकारों की मलिनता जमी ही रहती है । परिणाम यह होता है कि तनिक से अशुभ संयोग के मिलते ही हृदय में विकृत भावना की तरंग उठ जाती है और अन्दर जमी हुई मलिनता बाह्य शुद्धता एवं आचार-विचार को भी दोषपूर्ण बनाकर की हुई सम्पूर्ण साधना को निरर्थक बना देती है ।

बड़े-बड़े ऋषि और मुनि इसी प्रकार विषय-विकारों के आकर्षण से मन की भावनाओं को पुनः विकृत बनाकर साधना से च्युत हुए हैं और पतन के गहरे गर्त में गिर चुके हैं ।

एक श्लोक में कहा भी है—

विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यञ्च सघृतं पयोवधियुतं ये भुञ्जते मानवा—
स्तेषामिन्द्रिय निग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत्सागरं ॥

मर्तृहरि ने इस श्लोक के द्वारा बताया है कि—“विश्वामित्र एवं पराशर आदि अनेक बड़े-बड़े तपस्वी एवं ऋषि ऐसे हो चुके हैं, जिनमें से कोई तो वायु ग्रहण करके रहता था, कोई केवल जल ग्रहण करके ही जीवन-निर्वाह करता था

और कोई वृक्ष के पत्तों पर ही जीवन चलाता था । किन्तु ऐसे घोर तपस्वी भी स्त्री का सुन्दर मुख देखते ही विकार-ग्रस्त होकर अपनी तपस्या या साधना से विचलित हो गये । ऐसी स्थिति में धी, दूध एवं दही से युक्त 'शालि' यानी चावलों को खाने वाले तथा अन्य पौष्टिक पदार्थों का सेवन करने वाले अगर अपनी इन्द्रियों का दमन करलें, तब तो विन्ध्याचल पर्वत ही जल में तैरने लग जाय । तात्पर्य यह है कि रूखा-सूखा एवं निस्सार पदार्थ ग्रहण करने वाले भी जब विकारों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते तो पौष्टिक भोजन करने वाले कैसे उन्हें जीत सकते हैं ?

बन्धुओ, इस श्लोक के अर्थ को ध्यान से समझना चाहिए । इसमें यही भाव दर्शाया है कि साधारण व्यक्ति तो सांसारिक भोग-विलासों के बीच रहता है, इन्द्रियों की तृप्ति में जुटा रहता है साथ ही पौष्टिक आहार ग्रहण करता हुआ आनन्द से जीवनयापन करता है अतः उसके पतित होने में कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है । किन्तु जो साधक शरीर-सुख को त्याग कर साधना के पथ को अपना लेता है तथा घोर तपस्या में जुट कर कर्मों का क्षय करने में संलग्न हो जाता है; वह कठिन व्रतों का धारक, अगर संयम, साधना या अपने तप-मार्ग से विचलित होकर पतन की ओर अग्रसर होने लगता है तो अत्यन्त आश्चर्य एवं खेद की बात होती है । हानि भी उसी की अधिक होती है क्योंकि वह बहुत कुछ पाकर उसे खोता है ।

इसीलिए भगवान ने जैसे तो सभी व्यक्तियों को, जोकि संसार से मुक्त होने की इच्छा रखते हैं, दर्शन परिषद् पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी है लेकिन जो साधु मुक्ति की केवल कामना ही नहीं रखते अपितु मुक्ति-प्राप्ति के मार्ग पर चल पड़े हैं और काफी आगे बढ़ भी गये हैं, उन्हें तो पूर्णतया आदेश दिया है कि वे अपने मन को तनिक भी विचलित न होने दें, अश्रद्धा को मानस में प्रवेश न करने दें तथा भगवान के वचनों पर स्वप्न में भी सन्देह न करें । जो ऐसा करते हैं वे ही यह विचार मन में लाते हैं कि—'जिन हुए हैं, जिन हैं और भविष्य में भी जिन होंगे यह सर्वथा मिथ्या बात है ।'

ज्ञान की तरतमता

अभी मैंने आपको बताया था कि जिन या केवलज्ञानी अनुमानादि प्रमाणों से स्वतःसिद्ध हैं अतः उनके अस्तित्व में शंका करने की आवश्यकता ही नहीं है । वैसे भी हम वर्तमान में जो व्यक्ति हैं उनके ज्ञान की तरतमता को देखकर अंदाज लगा सकते हैं कि इसकी अन्तिम सीमा भी अवश्य होगी ।

इस संसार में अनेकानेक मानव हैं और हम देखते ही हैं कि ज्ञानावरणीय

कर्म के कम या अधिक क्षयोपशम के कारण किसी की बुद्धि इतनी मोटी होती है कि वह चार अक्षर भी सुगमता से नहीं सीख सकता और कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण बत्तीसों शास्त्र पढ़ लेते हैं, उन्हें समझ लेते हैं तथा आगम-वर्णित बातों को तथा सिद्धान्तों को कण्ठस्थ कर लेते हैं।

ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरणों से जब यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्तियों के ज्ञान में तरतमता अवश्य है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञानवृद्धि की चरम सीमा हो गई और इससे अधिक ज्ञानी न हुए हैं, न हैं और न होंगे ही। यह तो वही कूप-मंजूक वाली बात हो गई कि कुए का मेंढक कुए की ही संसार के विस्तार की सीमा समझ लेता है। अब उसके कहने से क्या संसार का विस्तार कुए से बड़ा रहा नहीं ? है नहीं ? और होगा नहीं ?

इसलिए साधक को ऐसी बात न सोचकर यह सोचना चाहिए कि आज भी जब व्यक्तियों के ज्ञान में जमीन-आसमान की तरतमता पाई जाती है तो ज्ञान-वृद्धि की चरम सीमा अवश्य है और वह सर्वज्ञता या सर्वदर्शिता के रूप में ही हो सकती है, क्योंकि उससे अधिक ज्ञान क्या हो सकता है ? सर्वज्ञ सब कुछ जान लेता है और सब कुछ देख लेता है, कुछ भी और जानना और देखना उसके लिए बाकी नहीं रह जाता।

तो भले ही आज कोई व्यक्ति ज्ञान की उस चरम सीमा को न पा सके, किन्तु जबकि वह भूतकाल में रही है, आज भी है और भविष्य में भी रहेगी तो कुछ भव्य आत्माओं ने निश्चय ही ज्ञान की उस सीमा को पाया है और वे भव्य आत्माएँ तीर्थंकर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और जिन के नाम से संबोधित की गई हैं। पर वह सीमा प्राप्त कर लेना हूँसी-खेल नहीं है और न थोड़े से शारीरिक या बौद्धिक श्रम से हासिल की जा सकती है।

ज्ञान की चरम सीमा कैसे हासिल होती है ?

प्रत्येक साधक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जिस आत्मा का जितने परिमाण में कर्मक्षय या क्षयोपशम होगा उसकी उतनी ही ज्ञान वृद्धि होती चली जायेगी। आत्मा तो अपने स्वभाव से अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान का भंडार है, किन्तु उसकी दर्शन और ज्ञान की अनन्त शक्ति को कर्म के प्रगाढ़ आवरण आच्छादित किये रहते हैं। उन आवरणों को जितने-जितने अंशों में दूर किया जायेगा उतने ही अंशों में ज्ञान का विकास होता चला जायेगा और जिस क्षण वे कर्म-जन्म आवरण सर्वथा दूर हो जाएँगे, ज्ञान अपनी अनन्तशक्ति सहित अन्तिम सीमा को प्राप्त कर लेगा अर्थात् कर्मरहित आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बन जायेगी।

किन्तु बंधुओ ! इसके लिए अथक प्रयत्न की आवश्यकता है और वह भी एक ही जन्म में ही नहीं बरन् अनेकों जन्मों तक करना पड़ता है । अब प्रश्न उठता है कि वह प्रयत्न किस प्रकार किया जाता है जिससे सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो सके और आत्मा अपने अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान को प्रकाशित कर सके ।

इसके लिए सर्वप्रथम तो साधक के हृदय में सच्चे देव, गुरु एवं धर्म पर विश्वास होना चाहिए तथा भगवान के वचनों पर अटूट आस्था होनी चाहिए । उसके पश्चात् उसे विषय-विकार अथवा राग-द्वेष को कम से कम करते हुए त्याग-तपस्यामय जीवन बिताना चाहिए । कर्मों का बन्धन राग और द्वेष से ही होता है ।

प्रत्येक बेड़ी तोड़नी होगी

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है—

रागो य दोसो वि य कम्मबोयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥

अर्थात्—राग और द्वेष ये दो ही कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुतः दुःख है ।

स्थानांगसूत्र में भी बताया गया है—

दुविहे च बंधे ।
पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव ।

अर्थात्—बंधन के दो प्रकार हैं । एक प्रेम का बंधन और दूसरा द्वेष का बंधन ।

आप सोचेंगे कि द्वेष का बंधन तो सही है और वह समझ में भी आता है पर मोह का भी बन्धन होता है क्या ? उत्तर हाँ में दिया जाता है । निश्चय ही मोह का बन्धन भी उतना ही मजबूत होता है, जितना द्वेष का । उदाहरण स्वरूप हम दो प्रकार की बेड़ियों को ले सकते हैं । एक बेड़ी होती है लोहे की और दूसरी सोने की । प्राणी दोनों से ही बँध सकता है और दोनों ही प्रकार की बेड़ियाँ उसे मजबूती से बाँधे रहती हैं । पाप और पुण्य को ऐसी ही बेड़ियाँ कहा जा सकता है । लोहे की बेड़ी पाप कर्मों को समझ लीजिए और सोने की बेड़ी पुण्य कर्मों को ।

भले ही जीव पाप कर्मों से जकड़ा रहकर दुःख पाता है और पुण्य कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग में देव बनकर अपार सुखों का भोग भी कर लेता है। किन्तु जन्म-मरण के बन्धन से या संसार-कारागार से मुक्त वह तभी होता है, जबकि पाप और पुण्य, दोनों ही प्रकार की कर्म-बेड़ियाँ हट जायँ।

भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी उनके बड़े योग्य शिष्य थे। संयम, साधना एवं तपश्चर्या आदि में भी उत्कृष्ट थे किन्तु केवल अपने गुरु भगवान महावीर में उनका अतीव मोह था। उनकी साधना के फलस्वरूप उनके केवलज्ञान की प्राप्ति का समय भी आ गया पर वह उन्हें प्राप्त नहीं हुआ जबकि उनसे छोटे गुरु-भाइयों को वह ज्ञान हासिल हो गया।

इस पर एक बार गौतम ने किञ्चित् खेद प्रगट करते हुए महावीर स्वामी से कहा—“भगवन् ! क्या कारण है कि मुझसे छोटे सन्त केवलज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु मुझे वह हासिल नहीं हुआ। क्या मेरी साधना में कहीं त्रुटि हो रही है ?”

इस पर भगवान ने उत्तर दिया—“गौतम ! तुम्हारी साधना में कोई कमी नहीं है। किन्तु मेरे प्रति तुम्हारा जो अटूट स्नेह है वही बस तुम्हारे कैवल्य की प्राप्ति में बाधक हो रहा है। केवलज्ञान तुम्हारे मस्तक पर मँडरा रहा है और जिस क्षण मेरे प्रति तुम्हारा ममत्व नष्ट हो जाएगा, उसी क्षण तुम उसे प्राप्त कर लोगे।”

ऐसा ही हुआ। जिस समय भगवान का निर्वाण होने को था, उस समय उन्होंने गौतम स्वामी को किसी कार्यवश अन्यत्र भेज दिया था। जब वहाँ से लौटकर उन्होंने भगवान को शरीर-मुक्त पाया तो विचार करने लगे—“मैं भगवान का सबसे प्रिय शिष्य था किन्तु अपने अन्तकाल के समय उन्होंने मुझे ही अपने पास नहीं रखा। वास्तव में इस संसार में कोई किसी का नहीं है।”

बस, यह विचार आते ही उनके हृदय से मोह लुप्त हुआ और उसी क्षण उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। दूसरे शब्दों में मोह-कर्म रूपी सोने की बेड़ी के टूटते ही उन्हें सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त हो गया।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होंगे कि राग और द्वेष, इन दोनों को जब नष्ट किया जाता है तभी साधक कर्मों के आवरणों से अपनी आत्मा को मुक्त करके उसमें रही हुई अनन्तदर्शन की एवं अनन्तज्ञान की सर्वोच्च शक्ति का अनुभव कर सकता है यानी उसे प्राप्त करता है। अतः प्रत्येक साधक को कर्मों का क्षय करने के लिए बाईस परिपहों का जीतना आवश्यक है और यही प्रयत्न संवर के मार्ग पर अग्रसर होने में सहायक है।

यहाँ एक बात और मैं आज आपको बताना चाहता हूँ कि कर्म आठ होते हैं जो इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय ।

ये आठों कर्म ही आत्मा को संसार-परिभ्रमण कराते हैं किन्तु जिन बाईस परिषहों का वर्णन मैं आपके समक्ष कई दिनों से रख रहा हूँ ये परिषह प्रत्येक कर्म के उदय से उदय में नहीं आते अपितु ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय एवं अन्तराय इन चार कर्मों के कारण ही बाईस परिषह सामने आते हैं । अब मैं आपको यह भी बता देता हूँ कि किस कर्म के कारण कौन-कौन से परिषह उदय में आया करते हैं ?

ज्ञानावरणीय कर्म—इसके उदय से प्रजा एवं अज्ञान परिषह का उदय होता है ।

अन्तराय कर्म—इसके कारण अलाम परिषह होता है ।

वेदनीय कर्म—यह कर्म कई परिषहों को उदय में लाता है यथा—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, मल, वध, रोम एवं तृण परिषह । इस प्रकार ग्यारह परिषह केवल वेदनीय कर्म के कारण उदय में आया करते हैं ।

अब आता है मोहनीय कर्म । यह दो प्रकार का होता है—चारित्र मोहनीय एवं दर्शन मोहनीय ।

चारित्र मोहनीय—इस कर्म से अरति, अचेल, स्त्री, नैषेधिकी, याचना, सत्कार और आक्रोश परिषह उदय में आते हैं ।

दर्शन मोहनीय—यह कर्म दर्शन परिषह को उपस्थित करता है । दर्शन परिषह के विषय में यह जानना आवश्यक है कि अगर साधक इस परिषह को जीत ले तो अन्य परिषहों को अवश्य ही सरलतापूर्वक विजित कर सकता है । क्योंकि जो व्यक्ति धर्म पर एवं वीतराग प्रभु के वचनों पर हृद श्रद्धा रखता है, वह अपने ऊपर आये हुए सभी कष्टों और संकटों को अपनी अविचलित श्रद्धा के बल पर समभाव से सहन कर सकता है ।

परिषहों के विषय में अन्त में कहा गया है—

ए ए परिषहासब्बे, कासवेण पवेइया ।

जे भिखू न विहन्नेज्जा, पुट्टो केणइ कण्हुई ॥ ति बेमि ॥

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र, अ. २—४ :

गाथा में कहा गया है—काश्यपगोत्रीय भगवान महावीर के द्वारा प्रति-

पादित किये गये इन बाईस परिषदों को भली-भाँति जानकर साधु कहीं भी और किसी प्रकार से भी इनके उदय में आने पर पतित न हो ।

गाथा के अन्त में एक और ध्यान देने योग्य बात है । वह यह कि इसके अन्त में 'त्ति बेमि' शब्द है । इसका अर्थ है—'इस प्रकार मैं कहता हूँ ।' आपको जानने की उत्सुकता होगी कि यहाँ कौन किससे कह रहा है ? इस विषय में भी मैं आपको प्रसंग-वश संक्षिप्त रूप से बताता हूँ ।

अभी गाथा में आया है कि इन बाईस परिषदों का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया है । भगवान की वाणी को श्री सुधर्मा स्वामी ने सुना था और उन्होंने भगवान के उपदेश को ज्यों का त्यों अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बताया । पर साथ ही 'त्ति बेमि' भी कहा । इस कथन से उनका आशय यह था, यानी उन्होंने कहा—'हे शिष्य ! जैसा मैंने भगवान से सुना, वैसा ही तेरे सम्मुख कथन करता हूँ । इसमें मेरी अपनी बुद्धि नहीं है । यानी मैंने अपनी स्वयं की कल्पना से कुछ नहीं कहा है ।'

विचारणीय बात है कि भव्य आत्माओं में कितनी सहजता, सरलता और अपनी प्रशंसा करके यश-प्राप्ति की कामना का अभाव है । आज के लेखक और कवि तो जो लिखते हैं वह कुछ कहीं से और कुछ कहीं से, यानी किसी का कुछ और किसी का कुछ ले-लिवाकर ऊपर स्पष्ट शब्दों में अपना नाम छपवा देते हैं । अनेक बार तो देखा जाता है कि पूरी की पूरी रचनाएँ ही लोग अपना नाम देकर छपवा डालते हैं । यह चौर्य-कर्म वे अपना नाम करके प्रसिद्धि पाने के लिए करते हैं, पर वे भूल जाते हैं कि इस कार्य के परिणामस्वरूप उन्हें बाद में कर्मों से झूझना पड़ेगा । इससे अच्छा यही है कि वे अपनी बुद्धि और ज्ञान के अनुसार ही पूर्ण सरलता रखते हुए जितना उनके पास है, उतना ही लोगों के समक्ष रखें ।

सरलता के विषय में उत्तराध्ययनसूत्र के उन्तीसवें अध्याय में कहा गया है—

**“अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविस्वायणं जणयई ।
अविस्वायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस आराहए भवइ ।”**

अज्जव यानी आज्ञव, ऋजुता या सरलता । कहा है—ऋजुता से जीव काया यानी शरीर की सरलता, भाव यानी मन के विचारों की सरलता, भाषा की सरलता तथा अविस्वाद अर्थात् प्रामाणिकता को प्राप्त करता है और अविस्वाद से सम्पन्न होने पर धर्म का सच्चा आराधक बनता है ।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि सुधर्मास्वामी निश्चल भाव से कहते

हैं—“हे जम्बू ! मैंने भगवान के उपदेशों में प्रतिपादित बाईस परिषद् तुम्हारे सामने ज्यों के त्यों रखे हैं । जो साधु इन्हें समझकर इनका वीरतापूर्वक सामना करेंगे, वे निश्चय ही अपने अभीष्ट की सिद्धि कर लेंगे ।”

वस्तुतः इस संसार में व्यक्ति जो नश्वर वस्तुएँ पाना चाहता है, उनके लिए भी उसे कितना श्रम करना पड़ता है और कितना कष्ट भोगना होता है, तो फिर शाश्वत सुख की प्राप्ति बिना कष्टों को सहन किये या बिना परिषद्ओं का मुकाबला किये कैसे हो सकती है ? लक्ष्य जितना ऊँचा होगा, कष्ट भी उतने ही झेलने पड़ेंगे । हम चाहते हैं कि हमारी आत्मा अनन्तज्ञान की प्राप्ति करले और कभी न मिटने वाले सुख को हासिल करे, पर इतने महान् फल के लिए श्रम कुछ भी न करें तथा शरीर को भी कष्ट न पहुँचाएँ तो बात कैसे बन सकती है ?

परमात्मा का पद प्राप्त करने की इच्छा तो सभी की होती है, किन्तु उसके अनुरूप व्यक्ति साधना न करे, कुछ त्याग न करे, तप न करे और परिषद्ओं को जीतने के लिए प्रयत्न भी न करे तो परमात्म-पद क्या आँखों के सामने पड़ी हुई कोई छोटी-मोटी वस्तु है जिसे इच्छा करते ही उठाया जा सके ? नहीं परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए तो बहुत साधना करनी होगी, यह भी सम्भव है इस एक जन्म तक ही नहीं, अनेक जन्मों तक भी करते जाना होगा । तब कहीं आत्म-मुक्ति सम्भव हो सकेगी । जो साधक इस बात को भली-भाँति समझ लेगा वह दृढ़ कदमों में संवर की आराधना करेगा तथा मार्ग में आने वाले सम्पूर्ण परिषद्ओं का पूर्ण आत्म-बल से सामना कर सकेगा और ऐसा करने पर एक न एक दिन उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होगी ।

○

सामान सौ बरस का, कल की खबर नहीं...!

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संवरतत्त्व पर हमारा विवेचन चल रहा है, उनमें से तीस भेदों का वर्णन हो चुका है। बाईस परिषद् भी इन्हीं के अन्तर्गत थे जिन पर विचार किया गया था। अब इकतीसवें भेद से क्रमशः बारह भावनाएँ भी बताई जाएँगी जो कि संवर में ही कारण भूत होती हैं।

बारह भावनाओं में से पहली भावना 'अनित्य भावना' कहलाती है। इस संसार में जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सब अनित्य हैं, स्थायी नहीं। इस विषय पर पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी ने कहा है—

तन घन परिवार अनित्य विचार जैसे,
जामणी चमक जैसे संध्या को सोवान है।
ओस बिन्दु जल बुदबुदो सो घनुष्य जान,
पीपल को पान जैसे कुंजर को कान है ॥
स्वप्न मांहीं सिद्धि जैसे, वादल को छाया मान,
सलिल जो पूर जैसे सागर तोफान है।
ऐसी जग रीत भाई भावना भरतजी ये,
कहत तिलोकरिख भाव से निरवाण है ॥

पद्य में कहा गया है कि 'शरीर, सम्पत्ति एवं परिवार आदि सभी अनित्य हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि विजली की चमक और सार्यकाल का प्रकाश थोड़े काल के लिए ही होता है।

सर्वप्रथम कवित्त में तन की अनित्यता के विषय में कहा गया है। आप

और हम भी इस शरीर की अनित्यता को सदा देखा करते हैं। यद्यपि इस शरीर में रहने वाली आत्मा अनित्य नहीं है, वह शाश्वत है पर शरीर या जीवन शाश्वत नहीं है। किसी भी क्षण यह नष्ट हो सकता है। कोई व्यक्ति अल्प समय पूर्व स्वजन-परिजनों से हर्ष सहित वार्तालाप कर रहा है तथा हास्य-विनोद में निमग्न है, किन्तु कुछ पलों में ही उसके हृदय की धड़कन रुक जाती है और जीवन का अंत हो जाता है। कोई बैठा-बैठा भविष्य के ताने-बाने बुनता होता है कि अगले क्षण ही पृथ्वी पर लुढ़ककर निश्चेष्ट हो जाता है। कोई पत्थर की ठोकर लगते ही इस लोक से प्रयाण कर जाता है और कोई किसी रोग के आक्रमण से यह शरीर छोड़ जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जब तक जीवित है, नाना मनोरथों का सेवन करता रहता है तथा भविष्य की सैकड़ों योजनाएँ गड़ता रहता है, किन्तु काल आकर ऐसा झपट्टा मारता है कि प्राणी को पलभर का भी अवकाश दिये बिना उठा ले जाता है और उसके मनोरथ तथा उसकी सम्पूर्ण योजनाएँ ज्यों की त्यों धरी रह जाती है। कहा भी है—

आगाह अपनी मौत से कोई बखर नहीं।

सामान सौ बरस का कल की खबर नहीं ॥

वस्तुतः यह शरीर मौत के चंगुल में जब फँस जाता है तो कोई भी शक्ति उसे छुड़ाने में समर्थ नहीं होती और मानव के बरसों के लिए बनाये हुए प्रोग्राम एक पल में ही स्वप्नवत् मिट जाते हैं। यह शरीर आज ठीक है पर कल इसका क्या होगा ? यह नहीं कहा जा सकता।

सनत्कुमार चक्रवर्ती, जिनके रूप की ख्याति चारों तरफ फैली हुई थी और स्वयं उन्हें भी अपने सौन्दर्य पर बड़ा गर्व था, कहाँ जानते थे कि कल ही मेरे शरीर में एक-दो नहीं, सोलह भयंकर रोग घर कर लेंगे। इसीलिए हमारा धर्म बार-बार कहता है कि—‘शरीर का गर्व मत करो, यह अनित्य है। इसका उपयोग जितना भी हो सके आत्म-साधना में अविलम्ब करलो।’

जो महापुरुष इस बात को हृदयंगम कर लेते हैं वे अपने शरीर को तनिक भी विराम नहीं देते तथा इससे पूरा-पूरा लाभ उठा लेते हैं। परिणाम यह होता है कि मृत्युकाल में उन्हें तन छोड़ने का रंचमात्र भी खेद नहीं होता, उलटे वे परम प्रसन्न और निश्चित दिखाई देते हैं।

मरने से भय कैसा ?

एक संत अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। उनके चारों ओर शिष्य समुदाय एवं अन्य अनेक भक्त भी अत्यन्त उदास भाव से बैठे हुए थे।

किन्तु आश्चर्य की बात थी कि जहाँ उपस्थित अन्य सभी व्यक्ति दुःखी एवं शोकमग्न थे, स्वयं संत अत्यन्त प्रसन्न एवं हर्ष-विभोर दिखाई दे रहे थे। उनका चेहरा आत्मानन्द एवं परम शांति से ओतप्रोत था।

यह देखकर एक भक्त से नहीं रहा गया और उसने पूछ लिया—“भगवन् ! इस समय भी आपके चेहरे पर इतनी प्रसन्नता कैसे है ? क्या आपको अपनी स्थिति के लिए तनिक भी दुःख या मायूसी नहीं ?”

संत शांतिपूर्वक धीरे-धीरे बोले—“भाई खेद कैसा ? यह शरीर अनित्य है और एक दिन इसे छोड़ना होगा, यह तो मैं पहले ही जानता था। इस समय भी मुझे इसके छूटने का रंजमात्र भी दुःख नहीं है। क्योंकि प्रथम तो मैंने इसका पूरा लाभ ले लिया है, दूसरे मुझे यही लग रहा है कि मैं स्वयं जहाँ हूँ वहाँ मृत्यु का आगमन होता ही नहीं। यानी मैं केवल मेरी आत्मा को लेकर हूँ, उसकी मृत्यु तो होनी ही नहीं है। मेरा स्वरूप पूर्ण ज्योतिर्मय और शाश्वत है अतः इस समय भी मैं उसी की साधना में तल्लीन हूँ। अपने शुद्ध, अजर, अमर और अविनाशी उस चिदानन्दमय रूप के अलावा मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है। इसीलिए मेरे मन को किंचित मात्र भी खेद या भय किसी प्रकार का नहीं है। शरीर के अवश्यम्भावी परिवर्तन के लिए मैं किसलिए विचलित होऊँगा ? तुम सबसे भी मेरा यही कहना है कि मेरे लिए किसी को दुःख करने की आवश्यकता ही नहीं है। यह तो और भी अच्छी बात है कि मैं इस जर्जर शरीर को त्यागने पर नवीन शरीर प्राप्त करूँगा और वह इसकी अपेक्षा मेरी साधना में अधिक सहायक बनेगा।”

संत की बात सुनकर उपस्थित सभी व्यक्ति चकित हो गये और संत के कथन की यथार्थता का अनुभव करने लगे।

भक्त कवि ‘दीन’ ने भी अपने एक पद्य में संसार की अनित्यता और आत्मा की अमरता पर एक सुन्दर कुंडलिया लिखी है। वह इस प्रकार है—

जितना दीसे थिर नहीं, थिर है निरंजन राम ।
ठाट-बाट नर थिर नहीं, नाहीं थिर धन-धाम ॥
नाहीं थिर धन-धाम, गाय, हस्ती अरु घोड़ा ।
नजर आत थिर नहीं नाहिं थिर साथ संजोड़ा ॥
कहे दीन दरवेश कहा इतने पर इतना ।
थिर निज मन सत शब्द नाहिं थिर दीसे जितना ॥

कुंडलिया में यही कहा है—इस संसार में धन, धाम, गाय, घोड़ा, हाथी,

परिजन, पति, पत्नी जो भी दिखाई देते हैं, उनमें से कोई भी स्थिर नहीं है अर्थात् स्थायी नहीं है। स्थिर केवल निरंजन राम एवं सत्य है।

बंधुओ, यहाँ राम से आशय आत्मा है। क्योंकि आत्मा ही परमात्मा है, अगर इनके बीच रही हुई कर्मों की दीवार को गिरा दिया जाय। कहते भी हैं—'प्रत्येक के हृदय में परमात्मा का निवास है,' या 'घट-घट में राम' है।

तो प्रत्येक मुमुक्षु को संसार की वस्तुओं की एवं शरीर की अनित्यता की भावना सदा मन में रखनी चाहिए। अगर यह भावना प्रतिपल हृदय में रहेगी तो वह प्रथम तो शरीर का साधना में पूर्ण सहयोग ले सकेगा, दूसरे अन्तकाल के समीप आने पर भी भयभीत या खेदखिन्न नहीं होगा।

जीवनोन्नति के चार अमूल्य सूत्र !

कहा जाता है कि एक बार किसी राजा ने भगवान बुद्ध से कहा—“गुरु-देव ! मैं राज्य-कार्य में इतना व्यस्त रहता हूँ कि आपका उपदेश भी बराबर नहीं सुन पाता अतः कृपा करके मुझे संक्षेप में जीवन को सफल बनाने का उपदेश दे दीजिए।”

बुद्ध ने उत्तर दिया—“राजन् ! तुम्हारा कहना यथार्थ है कि तुम्हें बड़ी कार्य-व्यस्तता रहती है। अगर ऐसा ही है तो मैं तुम्हें चार बातें बताये देता हूँ। अगर उन चार संक्षिप्त बातों को सदा याद रखोगे तो तुम्हारा जीवन उन्नत और सफल बन जायेगा।”

अंधे को क्या चाहिए ? दो आँखें। राजा भी बुद्ध की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उत्सुकतापूर्वक बोला—

“भगवन् ! इससे बढ़कर और क्या हो सकता है ? चार बातें तो मैं बखूबी याद रख लूँगा, कमी भी उन्हें भूलूँगा नहीं। कृपया बताइये कि वे बातें कौन-कौन सी हैं !”

बुद्ध ने कहा—“पहली बात तुम यह याद रखना कि 'मैं वियोगधर्मी हूँ।' अर्थात्—इस संसार में चेतन और अचेतन जो भी तुम्हें मिले हैं, उन सबका एक दिन वियोग होना निश्चित है। अगर इस बात को याद रख लोगे तो जगत की किसी भी वस्तु पर और किसी भी सम्बन्धी पर तुम्हारी आसक्ति अथवा मोह नहीं रहेगा।

“दूसरी बात केवल यह याद रखने की है कि 'मैं रोगधर्मी हूँ'।

“तीसरी यह कि मैं 'जराधर्मी हूँ'। और—

“चौथी यह कि मैं 'मरणधर्मी हूँ'।

“अगर इन बातों को तुम याद रखोगे कि संसार में मुझे जो भी संयोग मिले हैं उनका वियोग होना है, शरीर के रोगी होने की संभावना है, वृद्धावस्था आने वाली है तथा मरण भी अवश्यभावी है तो फिर तुम अपने वैभव से निरासक्त एवं शरीर से भ्रमत्वरहित रहकर सदा शुभ कार्य करोगे और अन्याय, अत्याचार से बचकर पापों का उपार्जन नहीं करोगे।”

वस्तुतः यही चार बातें प्रत्येक मानव को याद रखनी चाहिए क्योंकि अनित्य भावना ही इनमें निहित है। प्रत्येक मनुष्य को संसार के समस्त पदार्थों को छोड़ना है तथा रोग, वृद्धावस्था या मृत्यु के बहाने यह शरीर त्याग देना है।

शरीर के समान ही धन भी अनित्य है। शरीर तो फिर भी मृत्यु के समय ही जीव से अलग होता है, यानी जीवन रहते उसे कोई दूसरा नहीं ले पाता, किन्तु धन, मकान, जमीन या वैभव की अन्य वस्तुएँ तो एक जीवन में ही उसके पास से चली जाती हैं। आज एक व्यक्ति लखपति है तो कल वही मुट्टी भर चने के लिए तरस सकता है। हिन्दुस्तान का जब विभाजन हुआ था, उस समय हम देखते थे कि हजारों व्यक्ति जो अपने शहर में लखपति-करोड़पति थे वे अन्यत्र जाकर भूखे पेट कई-कई दिन निकाला करते थे।

इस विषय में शतावधानी पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने एक श्लोक लिखा है—

वाताद्भेलित दीपकाङ्कुर समां, लक्ष्मीं जगन्मोहिनीम् ।

दृष्ट्वा किम् हृदि मोदसे हतमते मत्वा ममश्रीरिति ।

पुण्यानां विगमेऽथवा मृतिपथे प्राप्तेऽप्रियं तत्क्षणत् ।

अस्मिन्नेव भवे भवायुभयना तस्या वियोगः परम् ॥

श्लोक में धन की अतीव कामना रखने वाले मनुष्य को उद्बोधन देते हुए कहा है—‘अरे मतिहीन पुरुष ! लक्ष्मी की प्राप्ति करके तू इतना गर्व मत कर और न ही मन में मोद का अनुभव कर। क्योंकि यह अत्यन्त चंचल है तथा किसी भी दिन तेरा साथ छोड़कर पलायन कर सकती है। इस जगत्मोहिनी चंचला को पाकर तू किसलिए इतराता है, जबकि यह जिस प्रकार तेरे पास आई है उसी प्रकार किसी भी समय किसी और के पास जा सकती है।

वायु के झोंके से दीपक की लौ जैसे कभी इधर और कभी उधर हो जाती है, ठीक वैसे ही लक्ष्मी भी कभी एक के और कभी दूसरे के पास पहुँच जाती है जब तक पत्ले में पुण्य है, तब तक यह तुम्हारे पास रहेगी और जब पुण्य

समाप्त हो जायेंगे, उसी क्षण अन्यत्र अपना निवास कर लेगी। इसे जाने के अनेक रास्ते हैं, जिनके द्वारा यह पलायन कर जाती है।

श्लोक में कहा गया है कि लक्ष्मी या तो पुण्यों के समाप्त होने पर स्वयं चली जाएगी और नहीं तो तुम्हें ही इसे यहाँ छोड़कर मृत्यु-पथ पर अग्रसर हो जाना होगा। वास्तव में ही मृत्यु का आगमन होने पर सम्पूर्ण धन-वैभव एवं शरीर को पुष्ट बनाने वाली दवाइयाँ यों ही पड़ी रह जाती है और आत्मा रूपी हंस अकेला चल देता है।

कवि सुन्दरदास जी ने भी यही कहा है :—

बने रहे बटना बनाए रहे भूषण भी,
 अतर फुलेलन की शीशियाँ धरी रहीं।
 तानी रही चाँदनी सोहानी रही फूल-सेज,
 मखमल के तकियों की पंकती करी रही ॥
 बने रहे नुसखे त्रिफले माजूम कन्द,
 खुरस खमीरा याकृतियाँ परी रहीं।
 उड़ गयो बीच में ते हंस जो सुन्दर हुतो,
 बस यह शरीर अरु खोपरी परी रही ॥

कवि ने कितना मर्मस्पर्शी एवं हृदय को मथने वाला जीवन का चित्र खींचा है कि व्यक्ति ने सांसारिक सुखों का उपभोग करने के लिए तथा अपने अहं की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के आभूषण और सोने के बटनादि बनवाये, इत्र-फुलेल की भरमार की तथा सुख से सोने के लिए सुन्दर शय्या तैयार करवाई। किन्तु काल के आते ही शरीर में स्थित, जीव-रूपी हंस को उड़ जाना पड़ा और समस्त पौष्टिक पदार्थ एवं नुसखे उसे रोक नहीं सके, यहीं पड़े रह गये और पड़ी रही वह खोपड़ी, जिसमें उसके नाना मनोरथ, इच्छाएँ, कामनाएँ एवं अभिलाषाएँ कुछ समय पहले मौजूद थीं।

इसीलिए महापुरुष एवं हमारे धर्मग्रन्थ बार-बार मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि—“आत्मा के अलावा सम्पूर्ण दृश्यमान पदार्थ और जीवन क्षणिक तथा अनित्य हैं। अतः समय रहते ही इस धन से परोपकार करके पुण्योपार्जन कर लो और शरीर से उत्तम साधना करते हुए संवर के मार्ग पर बढ़ते रहो ताकि पूर्व कर्मों का क्षय हो सके।”

किन्तु ऐसा वही कर सकता है, जिसके हृदय में ‘अनित्य भावना’ प्रतिपल

बनी रहती है और समय की भी जिसे कद्र होती है। महात्मा गांधी से एक बार किसी ने कहा—

“आप दिन-रात कुछ न कुछ करते हुए व्यस्त रहते हैं, जबकि आपको अब कुछ अधिक विश्राम करके शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए।”

गांधीजी उस व्यक्ति की बात का उत्तर देते समय भी किन्हीं जरूरी कार्गजों को छाँटते हुए बोले—“भाई ! शरीर को विश्राम देने से क्या होगा ? यह तो ठीक वक्त पर जाएगा ही, फिर मैं इन मिले हुए जीवन के कुछ क्षणों को निरर्थक क्यों जाने दूँ ? मुझे तो एक पल भी व्यर्थ जाने देना अच्छा नहीं लगता।”

‘कीमत बढ़ती जायगी !’

इसी प्रकार का उदाहरण मिस्टर फ्रेंकलिन का है। उनके हृदय में भी समय का मूल्य महान् था।

एक बार वे अपनी पुस्तकों की दुकान के भीतरी कार्यालय में पत्र के सम्पादन में निमग्न थे। उस समय एक व्यक्ति दुकान में आया और काफी देर खोज-बीन करके एक पुस्तक लेने के लिए छाँटी। तत्पश्चात् उसने दुकान के कर्मचारी से पूछा—“इस पुस्तक की क्या कीमत है ?”

क्लर्क ने उत्तर दे दिया—“एक डालर।”

इस पर वह क्लर्क से पुस्तक के दाम कुछ कम करने का आग्रह करने लगा किन्तु वह नहीं माना। इस पर व्यक्ति ने पूछा—“क्या फ्रेंकलिन इस समय अन्दर हैं ?”

“जी हाँ, वे कार्यालय में काम कर रहे हैं।” कर्मचारी ने उत्तर दिया।

व्यक्ति बोला—“तनिक उन्हें बुला लाओ !”

क्लर्क अन्दर गया और फ्रेंकलिन को बुला लाया। ग्राहक ने उनसे कहा—“मिस्टर फ्रेंकलिन ! इस पुस्तक के कम से कम दाम आप क्या लेंगे ?”

उत्तर मिला—“सवा डालर।”

“बाह ! आपके क्लर्क ने तो अभी इसका मूल्य एक डालर बतया था आप सवा डालर कह रहे हैं ?”

फ्रेंकलिन ने चटपट उत्तर दिया—“इसका मूल्य एक डालर ही है पर आपने मेरे काम में हर्ज करके समय बिगाड़ा है अतः अब सवा डालर हो गया।”

ग्राहक ने समझा फ्रेंकलिन मजाक कर रहे हैं अतः वह बोला—“अच्छा अब ठीक-ठीक बताइये कि इसका मैं क्या दाम दूँ ?”

“डेढ़ डॉलर ।” तुरन्त ही फ्रेंकलिन बोल उठे ।

ग्राहक चौंक पड़ा और बोला—“यह क्या बात है ? अभी आपने स्वयं तो इसका मूल्य मवा डॉलर कहा था और अब डेढ़ डॉलर कह रहे हैं ?”

फ्रेंकलिन ने स्पष्टतापूर्वक उत्तर दिया—“मेरे समक्ष समय की बहुत बड़ी कीमत है क्योंकि मैं इसका मूल्य जानता हूँ और अब आप मेरा जितना-जितना समय नष्ट करेंगे, पुस्तक की कीमत उतनी ही बढ़ती जाएगी ।”

पुस्तक का खरीददार यह सुनकर अत्यन्त लज्जित हुआ और चुपचाप डेढ़ डॉलर देकर पुस्तक ले गया ।

जान-बूझकर कुए में ..

समय की कद्र करने वाले महापुरुष इसी प्रकार अपना एक-एक क्षण सार्थक करते हैं और धन का या तन का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं । वे भली-भाँति जानते हैं कि ये दोनों अनित्य हैं और अगर इन्हें निरर्थक जाने दिया तो अन्त में पश्चाताप करना पड़ेगा ।

आप कहेंगे कि—“यह तो हम भी जानते हैं और देखते ही हैं कि लक्ष्मी और जिन्दगी दोनों ही अनित्य व अस्थिर हैं, भला इसमें कौन-सी नई या आवश्यक बात है ?”

आपका विचार करना ठीक भी है पर जो ठीक नहीं है वह यही कि आप जानते-बूझते हुए भी उल्टे कार्य करते हैं । आप जानते हैं कि धन अनित्य है, यह एक दिन हमें छोड़कर जा सकता है या हमी इसे छोड़कर जाएँगे । किन्तु फिर भी आप हजार हों तो लाख और लाख हों तो करोड़ रुपये बनाने के फेर में सदा रहते हैं । धन आत्मा के साथ नहीं जाता, यह जानते हुए भी तो आप इसका पीछा नहीं छोड़ते । क्या आप ऐसा नहीं करते ? अवश्य करते हैं । आप में से अधिकांश व्यक्ति ऐसे होंगे जिनके पास आवश्यकता से अनेक गुना अधिक पैसा है, पर तब भी क्या कमाई करना छोड़ चुके हैं ? नहीं, वह तब तक करते रहेंगे जब तक आप से होता रहेगा । तो ऐसे जानने से क्या लाभ हुआ ? जानते हुए भी अगर व्यक्ति गड्ढे में गिरे तो क्या वह सच्चा जानकार कहला सकता है ? नहीं, उसकी जानकारी बाहरी है । सच्ची जानकारी आत्मिक होती है और जिसकी आत्मा इन बातों को समझ लेती है वह व्यक्ति जानकर फिर कभी गड्ढे में नहीं गिरता । धन-लिप्सा भी बड़ा गहरा गर्त है । अगर आप इस गर्त की गहराई को समझते हैं तो फिर इस लिप्सा का त्याग क्यों नहीं

करते ? क्यों जान-बूझकर इस लालसा रूपी गड्ढे में दिन-प्रतिदिन ही क्या जीवनभर ही गहरे उतरते चले जाते हैं ?

आप पुनः कहेंगे—हम यह भी भली-भाँति जानते हैं कि एक दिन इस शरीर को छोड़ना है । पर इस जानकारी को ही क्या जानकारी कहते हैं ? अगर ऐसा है तो फिर इस शरीर से तपस्या एवं साधना करके अपने कुछ कर्मों का क्षय क्यों नहीं करते ? परिषहों को समभावपूर्वक सहकर संवर के मार्ग पर क्यों नहीं बढ़ते ? मैं तो अनुभव करता हूँ कि शरीर की अनित्यता को जानते हुए भी आप प्रातःकाल एक नमोस्कारसी भी नहीं करते । ऐसा क्यों ? इसीलिए कि, मात्र चालीस मिनट का खान-पान छोड़ देने से आपके शरीर को कष्ट होता है । पर अस्थिर और अनित्य शरीर की फिर इतनी फिक्र क्यों ? इससे तो बहुत अधिक काम लेना चाहिए, जिससे आत्मा का भला हो सके जो नित्य या शाश्वत है ।

मैं इसीलिए कहता हूँ कि महापुरुषों को ही संसार की अनित्यता का वास्तविक ज्ञान होता है । ऐसा ज्ञान होने पर फिर वे तन या धन में ममत्व रख ही नहीं सकते । अन्यथा ज्ञान का होना न होना बराबर है । आपको भी ऐसा ही ज्ञान हासिल करके धन का तथा तन का सदुपयोग करना चाहिए और इनसे अधिकाधिक लाभ आत्मा को कर्मों से अनावरण करने में लेना चाहिए ।

श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने अपने पद्य में तन और धन के पश्चात् परिवार को भी अनित्यता बताई है । लोग सोचते हैं—“मेरे माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पौत्र, मित्र या चिरसंगिनि पत्नी है, फिर और क्या चाहिए ?

पर कवि बाजिद कहते हैं—

नहिं है तेरा कोय नहीं तू कोय का,
स्वारथ का संसार बना दिन दोय का ।
मेरे-मेरे मान फिरत अभिमान में,
इतराते नर भूढ़ एहि अज्ञान में ।

कवि का कहना यही है कि संसार के सभी सगे-सम्बन्धी स्वार्थ से नाता रखते हैं, तुझसे नहीं; इसलिए न तेरा कोई है और न तू किसी का । माता-पिता अपने बेटे को सपूत तब कहते हैं जब वह उनकी सेवा-चाकरी करता है और पत्नी तभी प्रसन्न रहती है जब पति खूब कमा कर उसका भली-भाँति पालन-पोषण करता है तथा वस्त्राभूषण बनवाता है । अगर व्यक्ति किसी कारण से धन-प्राप्ति नहीं कर पाता तो माता-पिता और पत्नी भी क्षणभर में उसे निखटू कहकर भर्त्सना करने से नहीं चूकते । ऐसा ही सभी सम्बन्धियों के लिए

होता है। अगर किसी के पास खूब धन है और उसके द्वारा वह अपने बन्धु-बांधवों की तथा मित्र-दोस्तों की खातिरदारी कर सकता है तो वह सबका प्रिय बन जाता है। पर अगर वही व्यक्ति दुर्भाग्यवश दरिद्र हो जाय तो सभी उसकी ओर से कबूतर के समान आँखें फेर लेते हैं। कहने का आशय यही है कि संसार के सम्बन्धियों से जो प्रेम का नाता होता है वह अस्थिर होता है और किसी भी कारण से, कभी भी टूट जाता है।

इसके अलावा मृत्यु भी प्रिय से प्रिय सम्बन्धी के वियोग का कारण बन जाती है। आपने सुना होगा कि सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र गंगा नदी को नाने के लिये गये। लेकिन न गंगा नदी आई न उनके पुत्र वापिस लौटे। सब के सब मिट्टी में दब गये।

यह समाचार भी सगर को उनकी कुलदेवी ने आकर दिया। वह एक बुद्धिया के रूप में आई और चक्रवर्ती के समक्ष रोने लगी। कारण पूछने पर उसने बताया—‘मेरा पुत्र मर गया है।’

सगर चक्रवर्ती ने यह सुनकर उसे समझाया कि इस संसार में जन्म-मरण तो प्रत्येक जीव के साथ लगा ही रहता है, जिसका संयोग होगा, उससे वियोग होना अवश्यम्भावी है अतः तुम दुःख मत करो। इस पर वृद्धा ने उन्हें उनके साठ हजार पुत्रों की मृत्यु का समाचार दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस संसार में धन, तन एवं परिवार के लिए यही विचार रखना चाहिए कि ये सब अनित्य हैं और किसी भी समय इनका वियोग हो सकता है। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि लोग यह सब अपनी आँखों से देखते हुए भी शिक्षा नहीं लेते; बिरले ही भव्य पुरुष ऐसे होते हैं जो यथार्थता का अनुभव करते हैं तथा सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भी जल-कमलवत् संसार से उदासीन एवं विरागी रहते हैं।

श्मशानिया बंराग्य

एक बार महात्मा कबीर से कोई व्यक्ति आवश्यक कार्य से मिलने आया। उस समय कबीर जी किसी सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने से शब-यात्रा में सम्मिलित होकर श्मशान गये हुए थे।

आगन्तुक बड़ी दूर से आया था और शीघ्र ही कबीर से मिलना चाहता था। अतः उनकी पत्नी ने कहा—

“आपको जल्दी है तो श्मशान की ओर जाकर ही उनसे मिल लीजिये।”

यह सुनकर वह व्यक्ति हैरान होता हुआ बोला—

“बहन, मैं उन्हें पहचानता कहाँ हूँ ? वहाँ तो अनेक व्यक्ति होंगे, भला उनके बीच मैं कबीर जी को कैसे खोज पाऊँगा ?”

कबीर जी की पत्नी ने आगन्तुक की बात सुनकर मुस्कराते हुए कहा—
“भाई ! उन्हें खोजना तनिक भी कठिन नहीं होगा । तुम ध्यान से देखोगे तो पता चल जाएगा कि इमशान के अन्दर तो उपस्थित सभी व्यक्तियों के मुँह लटकें हुए होंगे और वैराग्य की अलक उन पर दिखाई देगी । किन्तु वहाँ से बाहर आते ही सब हँसी-खुरी के साथ वार्तालाप करते हुए लौटेंगे । केवल कबीर जी के चेहरे पर ही स्थायी गम्भीरता, शान्ति, वैराग्य एवं मध्यस्थ भाव होगा । इस पहचान से तुम फौरन उन्हें जान लोगे ।”

वास्तव में ही यह बात सोलहों आने सत्य है । मैं भी लोगों से सुनता हूँ कि नेत्रों के सामने मुर्दा रखा होने पर और अपने हाथों से उसे जलाने पर भी व्यक्तियों के मन में विरक्त भावना या अन्य कोई फर्क नहीं आता । इमशान में कुछ समय ज्यादा लगने पर कई व्यक्ति तो इधर-उधर होकर बीड़ी-सिगरेट पी आते हैं या मृत प्राणी अगर स्त्री होती है तो उसके जीवित पति के विवाह की बातें करने लग जाते हैं । कई बार तो विवाह-सम्बन्ध इमशान में ही करीब-करीब पक्के हो जाते हैं, केवल दस्तूर करना बाकी रहता है । यह कार्य वहाँ इसलिए सरल होता है कि बहुत से व्यक्ति इमशान में इकट्ठे होते हैं और वहाँ अन्य कुछ कार्य नहीं होता अतः ऐसे उत्तम समय का वे लोग उत्तम सदुपयोग कर लेते हैं । दूसरे जिनकी लड़कियाँ होती हैं, वे यह सोचते हैं कि हमारे बात करने से पूर्व ही अन्य बेटी वाला यह रिश्ता तय न कर ले । इसलिए पत्नी के फूँके जाने से पूर्व भी दूसरा विवाह पक्का हो जाता है ।

ऐसी बातें सुनकर मन को बड़ा आश्चर्य और खेद होता है कि मानव मृत्यु-ग्रस्त प्राणी को देखकर भी जागृत नहीं होता । जागृत से अभिप्राय चक्षु-इन्द्रिय के खुलने से नहीं, अपितु विवेक और ज्ञान के नेत्रों के खुलने से है । उन्हीं के द्वारा आत्मा की दशा दिखाई देती है और उन्हीं के द्वारा कर्म-फल का सच्चा अन्दाज लगाया जा सकता है । अपने ज्ञान-रूपी नेत्रों को खोलने पर ही व्यक्ति ‘अनित्य भावना’ के सच्चे स्वरूप को समझ सकता है तथा संसार की वास्तविकता को जानकर इससे निरासक्त रहता हुआ आत्म-साधना में संलग्न होता है ।

अनित्य भावना ही मनुष्य को महसूस करा सकती है कि यह संसार ओस बिन्दु के समान, वर्षाकाल में दिखाई देने वाले इन्द्रधनुष के समान तथा समुद्र में आने वाले तूफान के समान अस्थायी और स्वप्नवत् है । स्वप्न में मानव नाना प्रकार के दृश्य देखता है, तथा कभी-कभी तो अपने आपको राजा बन गया

देखकर खुशी से फूला नहीं समाता । किन्तु वह स्वप्न कितनी देर का होता है ? कुछ क्षणों के पश्चात् ही जब नींद खुलती है तो उसका सम्पूर्ण राज्य-पाट विलीन हो जाता है ।

पूज्यश्री अमीरखण्डिजी महाराज ने इस सम्बन्ध में एक बड़ा सुन्दर और पद्यमय उदाहरण दिया है । वह इस प्रकार है—

एक महामूढ़ अविवेकवंत स्वप्न में,
हुवो अति चतुर पण्डित सरदार है ।
सिद्धांत पुरान वेद न्याय तर्क ग्रन्थ कोष,
काव्य श्लोक व्याकरण छंद को उच्चार है ॥
बहोत्तर कला विद्या चउदे निपुण भयो,
करि-करि वाद जीत्या पण्डित अपार है ।
जाग्यो तब अक्षर न याद रह्यो एक तस,
अमीरिख कहे तैसो जाणिये संसार है ॥

दृष्टांत बड़ा हास्यप्रद किन्तु शिक्षाप्रद भी है । कहते हैं कि एक महामूर्ख एवं अविवेकी व्यक्ति ने स्वप्न में देखा कि वह बड़ा भारी विद्वान एवं पण्डितों का सिरमौर बन गया है । समस्त वेद, पुराण, न्याय एवं तर्क शास्त्र पढ़कर व्याकरण के अनुसार काव्य, श्लोक एवं छन्दों का सुन्दर एवं शुद्ध उच्चारण कर रहा है । इतना ही नहीं बहतर कलाओं एवं चौदह विद्याओं में भी निपुणता प्राप्त कर चुका है तथा अनेक विद्वानों को वाद-विवाद में परास्त कर विजयी बन गया है ।

इतना होने पर स्वाभाविक ही था कि वह अपार हर्ष एवं गर्व से भर गया, किन्तु अफसोस कि स्वप्न समाप्त होते ही उसे अपने ज्ञान के भण्डार में से एक भी अक्षर याद नहीं रहा । कवि का कथन है कि ठीक उस मूर्ख के स्वप्न के समान ही यह संसार भी है । फर्क इतना ही है कि उस मूढ़ ने स्वप्न में जो कुछ भी किया, उसका कोई दुष्परिणाम उसके जागने पर सामने नहीं आया, किन्तु इस संसार में मानव जो-जो भी अधर्म या पाप-कर्म करता है, उनका फल उसे इस स्वप्नवत् संसार के मिटने पर भी भोगना पड़ता है । इसलिए उसको बहुत ही सावधान रहकर अपने जीवन को निर्दोष बनाना चाहिए । जो ऐसा नहीं कर पाते हैं, अर्थात् अपने जीवन को धर्ममय नहीं बनाते हैं वे निश्चय ही अन्त में पश्चात्ताप करते हैं ।

भक्त दीन दरवेश ने भी मनुष्य को कड़ी चेतावनी देते हुए कहा है—

बंदा करले बंदगी, पाया नर-तन सार ।
जो अब गाफिल रह गया, आयु बहे झखमार ॥
आयु बहे झखमार कृत्य नहिं नेक बनायो ।
पाजी, बेईमान कौन विधि जग में आयो ॥
कहत दीन दरवेश फंस्यो माया के फंदा,

यह कुण्डलिया पद्य सुनकर आप सोचेंगे कि सन्त ने मनुष्य को पाजी और बेईमान कहकर अपमानित किया है ।

पर बन्धुओ, सन्तों को किसी से लेना-देना नहीं है । वे तो पर-दया यानी समस्त अन्य प्राणियों में रही हुई आत्माओं की दशा से दयाद्वं होकर किसी भी प्रकार मानव को सावधान करने का प्रयत्न करते हैं ताकि वह माया और प्रपंच में फँसा रहकर कर्मों का भार बढ़ाते हुए अपनी आत्मा को कष्टों की आग में न झोके । पापों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले घोर दुःखों के मुकाबले में ये हित-भावना से दी हुई गालियाँ सिधु में बिन्दु के समान भी कष्टकर नहीं हैं । अतः उन्हें गालियाँ न समझकर उपदेश समझना चाहिए ।

भरत चक्रवर्ती ये पर अंगुली से एक अंगूठी के गिरते ही उन्होंने एक-एक करके शरीर से समस्त आभूषण उतारे और संसार की अनित्यता को इतनी गहराई और आत्मभावना से सोचा कि उसी समय, महल में बैठे-बैठे उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई । आशा है आप भी अपनी अनित्य-भावना को बढ़ाकर जीवन का सच्चा लाभ उठाएँगे ।



सब टुकुर-टुकुर हेरेंगे...

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संवरतत्त्व के अन्तर्गत आने वाली बारह भावनाओं में से प्रथम 'अनित्य-भावना' के विषय में विवेचन किया था । साथ ही यह भी बताया गया था कि भरत चक्रवर्ती छः खण्ड के अधिपति थे, किन्तु अँगुली से एक अंगूठी के निकल कर गिर जाने का ज्यों ही निमित्त मिला, उन्होंने एक-एक करके समस्त आभूषण शरीर से अलग कर दिये । उस दौरान उन्हें यही विचार आया "अरे, इस शरीर का सौन्दर्य जड़ आभूषणों से है, स्वयं इसमें क्या सुन्दरता है ? कुछ भी नहीं । केवल मांस, मज्जा, रक्त और हड्डियाँ ही तो इसमें हैं, जो मेरी आत्मा के निकलते ही दुर्गन्धमय एवं फूँक देने योग्य ही रह जाएँगी । इससे स्पष्ट है कि जब यह शरीर ही मेरा नहीं है तो ये आभूषण, घन, वैभव, राज-पाट और मुझे अपना कहने वाले स्वजन-सम्बन्धी मेरे कैसे हुए ? निश्चय ही इस आत्मा के अलावा संसार में विद्यमान सभी कुछ मुझसे 'पर' है तथा इससे वियोग होना अवश्यंभावी है । यह सभी अनित्य है और अनित्य से मोह रखने पर मेरा क्या लाभ होगा ? लाभ तो केवल आत्मा को सुखी बनाने में है और वह सांसारिक प्रपंचों के बढ़ाने से या द्यमें गूढ़ रहने से सुखी नहीं बन सकती । आत्मा सुखी तभी बन सकेगी, जबकि इस अनित्य संसार से मुंह मोड़कर अपने अन्दर झाँका जायेगा और अन्दर रही हुई आत्मा की अनन्तज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्यमय सुन्दरता को कर्म-मूल हटाकर ज्योतिर्भान बनाया जायेगा । इसलिए मुझे बाह्य और अनित्य जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है केवल अपनी आत्मा को परखना है ।"

इस प्रकार भरत महाराज ने अनित्य-भावना को इस उत्कृष्टता से भाया कि उन्हें उसी समय केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिसके लिए साधक वर्षों

साधना करते हैं। भव्य आत्माएँ इसी प्रकार तनिक सा निमित्त मिलते ही जाग्रत हो जाती हैं, जबकि साधारण व्यक्ति वर्षों उपदेश सुनते हुए भी, व्यापार में लाखों का नुकसान होते हुए भी और अपने हाथों से सम्बन्धियों के मृत शरीरों को फूँकते हुए भी यह नहीं समझ पाते कि आखिर जिस शरीर को सुखी बनाने के लिए हम रात-दिन प्रयत्न करते हैं, शक्ति का ह्रास करते हैं और दुर्लभ जीवन के अमूल्य समय को निरर्थक गँवाते हैं उसमें है क्या ?

कवि सुन्दरदास जी कहते हैं :—

जा शरीर माँहि तू अनेक सुख मान रह्यो,
ताहि तू विचार या में कौन बात भली है ?
मेद मज्जा मांस रग-रग में रक्त भर्यो,
पेट हू पिटारी सी में ठौर-ठौर मली है ॥
हाड़न सूँ भर्यो मुख हाड़न के नैन नाक,
हाथ-पाँव सोऊ सब हाड़न की नली है ।
सुन्दर कहत याहि देखि जनि भूलै कोई,
भीतर भंगार भरी ऊपर तो कली है ॥

इस प्रकार कवि ने शरीर की वास्तविकता और अनित्यता बताते हुए मनुष्य को उद्बोधन दिया है—“माई ! जिस शरीर को प्राप्त करके तू बड़ा प्रसन्न हो रहा है भला बता तो सही कि इसमें कौन-सी चीज उत्तम है ? केवल मांस, मज्जा, रक्त और हड्डियों का ढाँचा ही तो है इसमें । इतना अवश्य है कि इसके ऊपर चमड़ी की खोली चढ़ी है जो इन नेत्रों को सुन्दर दिखाई देती है, पर यह तो वही बात हुई, जैसे कचरे के ढेर पर कुछ मोगरे की कलियाँ डाल दी गई हों । क्या इससे अन्दर की मलिनता मिट जायेगी ? नहीं, वह वैसी की वैसी रहेगी । दूसरे, सबसे बड़ी बात यह है कि शरीर में भीतर या बाहर जो कुछ भी है, वह भी तो नित्य रहने वाला नहीं है, अनित्य है । जिस दिन आत्मा रूपी हंस इस पिंजरे को छोड़ जायेगा, यह सब ले जाकर फूँक दिया जाएगा । इसलिए इसे सुन्दर मानकर अपना समझने की भूल मत करो, अपितु केवल इसमें अपनी जो आत्मा है, इसे सुन्दर बनाने का एवं कर्मों की मलिनता से मुक्त करने का प्रयत्न करो ।”

कविता का कथन वस्तुतः यथार्थ है और इसे ध्यान में रखते हुए प्रत्येक आत्मामिलापी संसार की अनिहयता को समझते हुए आत्मा की नित्यता पर

विद्वान् रखे तथा उसकी शुद्धि का प्रयास करता रहे तो अपने भविष्य को समुज्ज्वल बना सकता है ।

अशरण भावना

अब मैं आपको दूसरी भावना के विषय में बताने जा रहा हूँ । बारह भावनाओं में से दूसरी है—‘अशरण-भावना’ । इस भावना को हृदय में सतत भाते हुए मानव को विचार करना चाहिए कि इस जीव को संसार में कोई भी शरण देने में समर्थ नहीं है ।

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने इस विषय में फरमाया है—

जन्म जरा रोग मृत्यु दुःखसुख दान एह,
वेदनी के वश जीव होवत हैरान है ।
माता-पिता भ्रात नारी पुत्र परिवार सब,
नहीं हैं सहाई गिने आतम समान है ॥
जिन राज धर्म तोय तारण शरण गति,
एहि बिना कर्म करे अधिक तोफान है ।
ऐसे थे अनाथी ऋषि, भाई शुद्ध भावना ये,
कहत त्रिलोक भावे सो ही शिव स्थान है ॥

बड़े सरल और सीधे-सादे शब्दों में कविश्री ने बताया है कि जीव जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेकानेक दुःखों को वेदनीय कर्म के कारण भोगता है तथा अत्यन्त हैरान बना रहता है । पर मेरा-मेरा कहने वाले माता-पिता, स्त्री, पुत्र या भाई आदि कोई भी उसे इन दुःखों से छुड़ाने में समर्थ नहीं होता ।

क्योंकि, अगर ऐसा होता तो अनाथी मुनि के शरीर में उत्पन्न हुई भयानक व्याधि को उनके माता-पिता या अभिन्नता का प्रदर्शन करने वाली स्नेहमयी पत्नी मिटा देती । पर ऐसा नहीं हुआ क्योंकि होता संभव नहीं । वृहत् परिवार चारों ओर इकट्ठा होकर हाथ मलता रहा और अनाथी मुनि को अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखता रह गया ।

एक कवि ने ठीक ही कहा है—

कर करके उपचार न मैंने स्वजन बचा पाये हैं ।
गये पुराने स्वयं, स्वयं ही नये-नये आये हैं ॥
कौन बचायेगा मुझको जब मृत्युदूत घेरेंगे ।
आस-पास हो खड़े स्वजन सब दुकुर-दुकुर हेरेंगे ॥

वस्तुतः जब मृत्यु काल आता है, कोई भी दवा और कैसा भी उपचार कारगर नहीं होता। स्वजन-सम्बन्धी रोते-धोते हैं, शोक करते हैं किन्तु व्यक्ति को व्याधियों के चंगुल से नहीं बचा पाते।

पैसे वाले व्यक्ति अपने पुत्र के बराबर धन तौलकर देना चाहें, या उससे भी कई गुना बड़ा ढेर लगाकर अपने बेटे को बचाना चाहें, तब भी असफल रहते हैं। अनाथी मुनि के लिए भी यही हुआ। उनके पिता का नाम धनसंचय था। नाम के अनुसार ही उन्होंने अपार सम्पत्ति एकत्रित भी कर रखी थी। अपने पुत्र को व्याधि-मुक्त करने के लिए उन्होंने पैसा पानी की तरह बहाया और बैद्य-हकीमों की कतार लगा दी, किन्तु पैसा रोग नहीं मिटा सकता था अतः नहीं मिटा पाया। कहा भी है—

अक्षय धन परिपूर्ण खजाने शरण जीव को होते।

तो अनादि के धनी सभी इस भूतल पर ही होते ॥

अर्थ स्पष्ट है कि धन अगर जीव को शरण देकर व्याधि-मुक्त कर सकता या कि मृत्यु से बचा सकता तो अनादि काल से जो कुबेर के समान धनी, चक्रवर्ती और तीन खण्डों के अधिपति हो चुके हैं, वे इस पृथ्वी को छोड़कर जाते ही क्यों? अपने अथाह धन के बल पर वे समस्त रोगों को और मृत्यु को जीत लेते। पर ऐसा कभी नहीं हो सका है, क्योंकि धन कितना भी अधिक क्यों न हो, वह जीव को शरण नहीं दे सकता।

अनाथी मुनि ने भी जब देखा कि मैं किसी भी उपाय से रोग-मुक्त नहीं हो रहा हूँ तो उन्होंने मन ही मन धर्म की शरण ली तथा विचार किया— “अगर मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तो क्षमावान, इन्द्रियों का दमन करने वाला तथा आरम्भ-समारम्भ रहित अतगार धर्म को धारण करूँगा।” आश्चर्य की बात है कि ज्योंही उनके मन ने ऐसी धारणा की, त्योंही रोग घट चला और एक रात में ही वे स्वस्थ हो गये। धर्म का कैसा अद्भुत प्रभाव और चमत्कार था।

इसीलिए पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने भी ‘अशरण भावना’ के अन्तर्गत लिखा है—

कालजयी प्रभु साधु और जिन धर्म पूर्ण भयहारी ।

ले इनका शुभ शरण यही हैं अनुपम मंगलकारी ॥

भव-अरण्य में है शरण्य इनके अतिरिक्त न दूजा ।

मन-मन्दिर में इनकी करले शुद्ध हृदय से पूजा ॥

अनाथी मुनि ने भी सच्चे हृदय से धर्म की शरण ली थी, क्योंकि वे भली भाँति जान गये थे कि इस भव-वन में धर्म के अलावा अन्य कोई भी शरण देने वाला नहीं है।

यद्यपि माता-पिता आदि ने उनके स्वस्थ होने पर कहा—‘हमने अमुक देव की मान्यता की थी और हमने अमुक की।’ पर अनाथी मुनि ही जानते थे कि सच्ची मान्यता किसकी पूरी हुई ! उन्होंने स्पष्ट कह दिया—‘मैंने जिन-धर्म की मान्यता की थी और उसी की शरण लेकर साधु-धर्म स्वीकार करूँगा।’ ऐसा ही किया भी। बिना विलम्ब किये उन्होंने अनगार धर्म ग्रहण कर लिया और साधना में लग गये। पर जब महाराजा श्रेणिक ने उन्हें देखा तो उनकी युवावस्था और अपार सौन्दर्य-युक्त तेजस्वी शरीर को देखकर वे कुछ चकित और दुःखी होकर पूछने लगे—

“महाराज ! अपार सौन्दर्य के धनी होने पर भी ऐसी तरुण अवस्था में आपने मुनिधर्म क्यों ग्रहण कर लिया ? आपको क्या दुःख था ?”

सहज भाव से अनाथी मुनि ने उत्तर दिया—

“राजन् ! मेरा कोई नाथ नहीं था, इसीलिए मैं मुनि बन गया हूँ।”

राजा श्रेणिक यह सुनकर तुरन्त बोले—“अगर ऐसी बात है तो मैं आपका नाथ बन जाता हूँ। आप सहर्ष और आनन्दपूर्वक संसार के सुखों का उपभोग कीजिये।”

बात यह थी कि श्रेणिक अनाथी मुनि की बात का रहस्य नहीं समझे थे। साधारण व्यक्तियों की तरह उन्होंने विचार किया कि ‘धन-जन का अभाव होने के कारण ही ये इस अवस्था में साधु बन गये हैं।’ लोग ऐसा ही सोचते भी हैं कि साधु उसी को बन जाना चाहिए जो अपनी उदरपूर्ति नहीं कर सकता हो तथा परिवार का भरण-पोषण न कर पाता हो। इसके अलावा धर्म-कार्यों को वे जवानी में न करके वृद्धावस्था में करने के लिए रख छोड़ते हैं। सोचते हैं—‘जब हाथ-पैर नहीं चलेंगे और व्यापार-व्यवसाय नहीं किया जा सकेगा, उस समय बैठे-बैठे धर्म-ध्यान कर लेंगे।’

यह उनकी कितनी बड़ी भूल होती है ? क्या ऐसे व्यक्ति निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि उनकी वृद्धावस्था आएगी ही ? जीवन के पिछले समय में धर्म-ध्यान करना रख छोड़ा तथा प्रारम्भ के समय में धन कमाते और भोग-विलास करते रहे, पर पिछला समय आने से पहले ही काल झपट्टा मारकर ले चला तो फिर क्या होगा ? यही कि जितने पाप-कर्म किये हैं वे ही केवल पीछा करते चलेंगे। तात्पर्य यह कि अगला समय तो पापों के उपाज्जन में बिगड़ा ही और

उसके बाद का समय उन्हें भोगने में जायेगा । इस प्रकार इहलोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाएँगे ।

पाश्चात्य विद्वान हैरिक ने कहा है—

“That man lives twice who lives the first well.”

यानी—जो व्यक्ति अपनी पहली आयु को सदाचार, संयम एवं धर्ममय बनाकर सुन्दर ढंग से जीता है, वही दुबारा भी चैन से रह सकता है । यथा-पिछली आयु अर्थात् वृद्धावस्था अगर प्राप्त हो गई तो भी वह संतुष्टि और शांति से उसे व्यतीत कर सकता है और वह न भी रही तो अगले लोक में शुभ-कर्मों के फलस्वरूप सुख की प्राप्ति करता है ।

इसलिए जीवन के भिन्ने हुए क्षणों का प्रत्येक व्यक्ति को सदुपयोग करते चलना चाहिए । कोई भी शुभ-कार्य आगे के लिए स्थगित करना बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि अगला समय आएगा ही, यह कौन जानता है ?

हमारे शास्त्र कहते हैं—

जं कल्लं कायद्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं ।
मच्चू अकलुण्हिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि ॥
तूरह धम्मं काउं, मा हु पमार्यं खयं वि कुच्चिदत्था ।
बहु विग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिच्छाहि ॥

—वृहत्कल्पभाष्य

इन दो गाथाओं के द्वारा मानव को कितना हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक उद्बोधन देते हुए कहा गया है—

“जो शुभ काम कल करना चाहते हैं, उसे आज ही कर लेना अच्छा है । मृत्यु अत्यन्त निर्दय है, यह कब आकर दबोच लेगी, कोई नहीं जान सकता, क्योंकि यह आते हुए दिखाई नहीं देती ।”

दूसरी गाथा में भी पुनः कहा है—“धर्माचरण करने के लिए शीघ्रता करो, एक क्षण का भी प्रमाद मत करो । जीवन का एक-एक क्षण विघ्नों से भरा है, इसमें तो सायंकाल तक की भी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए ।” इसी विषय पर एक छोटा-सा उदाहरण है—

चिन्ता किस बात की ?

एक धनी सेठ था और उसके एक ही इकलौता पुत्र था । सेठ के लाखों का व्यापार था और वह सदा उसमें व्यस्त रहता था । किन्तु सेठानी बड़ी धर्म परायणा थी और अपना जीवन यथा-शक्य धर्म-क्रियाओं में व्यतीत करती थी ।

पर उसे इस बात का बड़ा दुःख रहता था कि सेठजी को धन कमाने के अलावा और कुछ भी नहीं सूझता था। कभी भी वे न ईश्वर का नाम लेते थे, और न ही सामायिक-प्रतिक्रमणादि किसी कार्य में रुचि लेते थे।

एक दिन सेठानी से नहीं रहा गया और वह बोली—

“धन तो अपने पास बहुत इकट्ठा हो गया है, अतः आप अब तो अपनी आत्मा के सुधार के लिए कुछ समय निकाल कर धर्म-कार्य किया कीजिये !”

सेठ ने उत्तर दिया—“अभी क्या मैं बूढ़ा हो गया हूँ ? जब तक समय है, पुत्र के लिए और भी इकट्ठा कर दूँ ताकि वह जीवनभर आनन्द से रहे। धर्म की क्रियाएँ तो बाद में ही कर लूँगा जब वृद्ध हो जाऊँगा।”

बेचारी सेठानी यह सुनकर चुप हो गयी। पर संयोग की बात कि दुर्भाग्य से सेठ का वह पुत्र किसी साधारण बीमारी से ही चल बसा। सेठजी को बड़ा दुःख हुआ और वे माथे पर हाथ धरकर बैठ गये।

दस-पाँच दिन बाद एक दिन सेठानी सेठजी के समीप आई और बोली—
“आप हाथ पर हाथ धरे कितने दिन बैठे रहेंगे ? पेड़ी पर नहीं जाना है क्या ? इतने दिन में ही तो न जाने कितना व्यापार में नुकसान हो गया होगा।”

सेठानी की बात सुनकर सेठ ने उत्तर दिया—“कैसी बातें करती हो तुम ? जिस बेटे के लिए मैं धन इकट्ठा कर रहा था, वही चल बसा। अब इसे कौन भोगेगा ?”

पुत्र शोक से स्वयं दुःखी होने पर भी सेठानी धीर एवं संयत भाव से बोली—“वाह ! बेटा चल बसा तो क्या हुआ ? अभी हम कौनसे वृद्ध हो गये हैं ? आप और मैं ही इसे भोगेंगे। हमारा जीवन तो अभी बहुत बाकी है, चिन्ता किस बात की ?”

सेठानी की यह मार्मिक बात सुनकर सेठजी की आँखें खुल गईं, वे समझ गये कि पत्नी मुझे उद्बोधन दे रही है और वास्तव में ही जीवन का कोई भरोसा नहीं। जब इतनी अल्पायु में पुत्र जा सकता है तो मेरे जीवन का क्या ठिकाना ? किसी भी पल काल मुझे भी ले जा सकता है।

उसी वक्त सेठजी उठे और अपना धन गरीबों में बाँटने लग गये। साथ ही स्वयं ने अपना सम्पूर्ण समय धर्म-ध्यान में लगाकर आत्मा का कल्याण करना प्रारम्भ कर दिया।

बन्धुओं, प्रत्येक व्यक्ति को इसीलिए विचार करना चाहिए कि काल के

आक्रमण कर देने पर न धन, और न ही कोई सम्बन्धी प्राणी को शरण देकर इस पृथ्वी पर कुछ काल भी रखने में समर्थ है। लाख उपाय करने पर भी और कहीं जाकर छुप जाने पर भी वह मौत की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता। यही बात कवि ने भी कही है—

अम्बर में पाताल लोक में या समुद्र गहरे में ।
इन्द्र भवन में, शैल गुफा में, सेना के पहरे में ॥
वज्र विनिर्मित गढ़ में या अन्यत्र कहीं छिप जाना ।
पर भाई ! यम के फन्दे में अन्त पड़ेगा आना ॥

कवि ने अकाश सत्य सामने रखते हुए मानव को चेतावनी दी है—“भाई ! तू चाहे आकाश में, पाताल में, समुद्र की तह में, स्वर्ग में जाकर स्वयं इन्द्र के भवन में, या वज्र के सदृश सुदृढ़ चट्टानों से बनी हुई गुफा में जाकर छिप जा, याकि महाशूरवीर योद्धाओं की सेना बनाकर उसके पहरे में रह, किन्तु जिस क्षण तेरा अन्तकाल आ जाएगा उसी पल यमराज का फन्दा निश्चित रूप से तेरे गले में पड़ जाएगा, किसी के रोके नहीं स्केगा। न उस समय तुझे तेरी सेना बचा सकेगी, न इन्द्र ही अपनी शरण में रख सकेगा और न कोई स्थान तुझे यम की दृष्टि से ओझल कर सकेगा।

अतः बुद्धिमानी इसी में है कि तू जीवन रहते ही धर्म की सच्ची शरण ग्रहण कर ले। धर्म ही तुझे पुनः-पुनः जन्म से छुटकारा दिला देगा और तब यमराज ताकते रहेंगे। जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि इस संसार में धर्म के अलावा अन्य कोई भी शरणदाता नहीं है, वह अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाता और न ही वृद्धावस्था आने पर धर्मारामन करूँगा, ऐसा विचार ही करता है।

अनाथी मुनि ने भी अपनी युवावस्था, अपार वैभव और अतुल सौन्दर्य की परवाह न करते हुए अखिलभ्रम धर्म की शरण ले ली तथा पंचमहाव्रतधारी मुनि बनकर साधना करने लगे। किन्तु राजा श्रेणिक को उन्हें देखकर दया आई और इस पर उनसे पूछ लिया—“आप किस दुःख से मुनि बन गये ?”

मुनि ने भी अशरण भावना भाते हुए उत्तर दिया—

“भिरा कोई नाथ नहीं था, यानी मुझे कोई शरण देने वाला नहीं था अतः मैं मुनि बना हूँ।”

यह सुनकर श्रेणिक ने कुछ गर्व मिश्रित भाव से कहा—“अगर ऐसा है तो मैं आपका नाथ बनता हूँ, आप निश्चिन्त होकर सांसारिक सुखों का उपभोग करिये !”

जानते हैं आप ! श्रेणिक की बात का मुनि ने क्या उत्तर दिया था ? उन्होंने कहा—

“अप्यणा अनाहो सन्तो, कंहं नाहो भविस्ससि ?”

यानी—“तुम तो स्वयं ही अनाथ हो, तो फिर दूसरे के नाथ किस प्रकार बन सकोगे ?”

अनाथी मुनि के यह शब्द सुनकर राजा श्रेणिक मानो आसमान से गिर पड़े। उन्होंने कहा—“महाराज ! आप शायद यह नहीं जानते हैं कि मैं कौन हूँ ? मैं मगध देश का सम्राट श्रेणिक हूँ और मेरे विशाल राज्य में कोई कमी नहीं है। लाखों व्यक्ति मेरी शरण में रहते हैं तथा आपको भी मैं बड़े सुख से रख सकता हूँ। मेरे पास राज्य-पाट, महल-मकान, हाथी-घोड़े और विशाल सैन्य संग्रह है। आपको तनिक भी किसी प्रकार की कमी महसूस नहीं होगी।”

अनाथी मुनि राजा की बात सुनकर मुस्कराए और उन्हें बताया कि—“मेरे पिता धनसंचय के पास भी अपार वैभव था। मेरे माता, पिता, भाई, पत्नी एवं अन्य अनेक कुटुम्बी थे, किन्तु जब मैं रोग-पीड़ित हुआ तो सारे कुटुम्बी मिलकर और पानी की तरह पैसा बहाकर भी मुझे स्वस्थ नहीं कर सके। तभी मैंने समझ लिया कि मेरा कोई नाथ नहीं है क्योंकि मुझे रोग से कोई छुटकारा दिलाने में समर्थ नहीं है। समर्थ है तो मात्र एक धर्म। धर्म ही व्यक्ति को जन्म, जरा, व्याधि एवं मरण से सदा के लिए बचा सकता है अतः वही नाथ हो सकता है। भला आप ही बताइये राजन् ! क्या आप मेरे नाथ बनकर मुझे इन सभी से बचाए रख सकते हैं ?”

श्रेणिक क्या उत्तर देते ? बात सत्य थी। राजा स्वयं को भी तो जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से नहीं बचा सकते थे, फिर अनाथी मुनि को बचा लेने का आश्वासन किस प्रकार देते ? वे महसूस करने लगे कि—“अनाथी मुनि की बात यथार्थ है। मैं स्वयं अपना नाथ नहीं हो सकता तो फिर औरों का नाथ तो बन ही कैसे सकता हूँ ?”

‘भावना शतक’ में अशरण भावना बताने के लिए अनाथी मुनि का उदाहरण देते हुए कहा है—

यस्यागारे विपुल विभवः कोटिशो गोगजाइवः ।

रम्या रंभा जनकजननी बंधवो मित्रवर्गः ॥

तस्यामूढोव्यथनहरणे कोऽपि साहाय्यकारी ।

तेनानाथोऽजनि स च युवा, काकथावामराणाम् ॥

श्लोक में कहा गया है—“जिसके घर में अपार वैभव था, करोड़ों गायें,

हाथी और घोड़े थे, सुन्दर एवं पतिश्रुता पत्नी तथा माता-पिता, बंधु-मित्र सभी थे किन्तु उस युवा अनाथी मुनि की व्याधिग्रस्त अवस्था में कोई भी सहायक नहीं बन सका, यानी कोई भी उन्हें रोग-मुक्त नहीं कर सका तो फिर अभाव ग्रस्त एवं तुच्छ व्यक्तियों के लिए तो कहना ही क्या है ?”

वस्तुतः संसार का कोई भी व्यक्ति और धन का सुमेरु भी प्राणी को शरण देकर काल से उसकी रक्षा नहीं कर सकता। जन्म-मरण से बचाने वाला केवल धर्म और कालजयी अरिहन्त हैं। जैसा कि पं शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने कहा है—

चार घातिया कर्मों का जिनने संहार किया है।

मोह अन्ध जीवों को जिनने धर्म प्रदीप दिया है ॥

जो सर्वज्ञ विश्व उपकारक, इस जग के तारक हैं।

वे अरिहन्त देव अशरण के शरण मृत्युहारक हैं ॥

इसलिए बंधुओ हमें अरिहन्त प्रभु की शरण लेकर उनके द्वारा प्रदत्त धर्म-दीपक के प्रकाश में चलना है ताकि कमी भटक सकें।

संत तुकारामजी भी कहते हैं—

“तुका म्हणे तुज सोडवेता कोणी,

एका चक्रपाणी वाचूनिया।”

अर्थात्—एक भगवान् सुदर्शन चक्रधारी श्री कृष्ण के अलावा तुझे कोई भी छुड़ाने में समर्थ नहीं है।

तात्पर्य यही है कि धर्म के अलावा इस संसार में कोई भी शरणदाता नहीं है अतः इसी की शरण प्रत्येक मुमुक्षु को लेनी चाहिए।

○

संसार का सच्चा स्वरूप

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संवरतत्त्व के सत्तावन भेदों पर हमारा विवेचन चल रहा है। जिनमें से बत्तीस भेदों पर हम विचार कर चुके हैं और आज तेतीसवाँ भेद आपके सामने रखना है। यह तेतीसवाँ भेद है बारह भावनाओं में से तीसरी 'संसार-भावना'।

ठाणांगसूत्र के चतुर्थ अध्याय में संसार के चार प्रकार बताए गये हैं। इन्हें ही हम चार गतियाँ भी कहते हैं। वे हैं—नरकगति, तिर्यंच गति, मनुष्य-गति और देवगति। जीव इन्हीं चारों में पुनः-पुनः जन्म लेता और मरता है। इन गतियों में उसे घोर दुःख उठाने पड़ते हैं जिनके विषय में पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने कहा है—

नर्क में सिधायो जम तोड़-तोड़ खायो—

पड़यो-पड़यो बिलखायो कोई आड़ो नहीं आयो है।

कीट में पर्यंत जंत सहा है, अनन्त दुःख,

नरभव नीच जात पुण्यहीन पायो है ॥

नीची सुरगति पाई और को रिझाई अति,

धर्म में न रीझ्यो चऊगत भयो कायो है।

घन्ना शालिभद्र ऐसी भावना भाई है सिरै,

कहत तिलोक भावे सोई जन डाह्यो है ॥

पद्य में सर्वप्रथम नारकीय संसार को लिया गया है क्योंकि वह सबसे नीचे है। चौबीस दंडकों में भी पहला सात नारकी का एक दंडक है।

तो, जो प्राणी घोर पाप करता है वह नरक में जाता है। वहाँ पर

यमराज या जिन्हें हम परमाकामी अथवा परम-अधर्मी देवता कहते हैं, वे जीव को महान् कष्ट देते हैं। करुणा या दया का उनके हृदय में कहीं नामोनिशान भी नहीं होता अतः ठोकना, पीटना, काटना, मारना और अन्य अनेकानेक प्रकार के दुःख वे जीव को देते हैं।

एक कवि ने भी डम विषय में लिखा है :—

कभी नरक गति में जाता है, बीज पाप का बोकर ।
घोर व्यथाएँ तब सहता है दीन नारकी होकर ॥
छेदन-भेदन, ताड़न-फाड़न की है अकथ कहानी ।
बड़े बिलखते सदा नारकी, मिले न दाना पानी ॥

नरक में दस प्रकार की असह्य क्षेत्र वेदना होती है जिसमें भूख और प्यास भी हैं। नारकीय संसार में प्राणी को अनंत क्षुधा सताती है। वे सोचते हैं—तीनों लोकों का सम्पूर्ण अन्न मिल जाय तो खा डालें। पर कहाँ? एक दाना भी खाने के लिए नहीं मिलता।

इसी प्रकार अनंत तृषा भी नारकीयों को लगती है। उन्हें लगता है—मिल जाय तो सम्पूर्ण सागर का पानी पी लें। पर एक बूँद भी जल नहीं मिल पाता। आप देखते हैं कि यहाँ पर अगर एक इजेक्शन भी लगवाना पड़े तो सुई देखकर डर लगता है। किन्तु वहाँ पर सेमल वृक्ष के पत्ते ही इतने तीखे होते हैं कि मस्तक पर गिरकर तलवार की धार के समान शरीर को दो भागों में चीर डालते हैं और कुंभीपाक नरक का तो पूछना ही क्या है वहाँ पर तो ऐसी हालत और इतनी तकलीफ होती है कि मारे दुःख के प्राणी पाँच सौ योजन तक उछल जाता है।

इस प्रकार नरक के अवर्णनीय दुःखों को पापी जीव भोगता रहता है वहाँ पर जीवन भी तो कितना लम्बा होता है। एक बार पहुँच गये तो कम से कम दस हजार वर्ष और बढ़ते-बढ़ते तैंतीस सागरोपम तक भी चला पाता है। इस प्रकार बड़े लम्बे समय तक जब वहाँ घोर दुःख भोगता है तब फिर कभी तिर्यच योनि प्राप्त करता है। पर वहाँ भी कौन-सा सुख है? कहा भी है—

निकल नरक से कभी जीव तिर्यच योनि में आता ।
बध-बन्धन के भार-वहन के कष्ट कोटिशः पाता ॥
एक श्वास में बार अठारह जन्म-मरण करता है ।
आपस में भी एक-दूसरा प्राण हरण करता है ॥

पद्म का अर्थ आप समझ ही गये होंगे कि नरक के असह्य दुःख भोग कर कभी जीव तिर्यंच योनि में आता है, तब भी महान् दुःख उठाता है। निगोद में रहकर यानी साधारण वनस्पति काय में एकेन्द्रिय बनता है तथा अनन्त काल तक एक-एक श्वास मात्र के समय में अठारह बार जन्म और मरण के कष्ट सहता है।

तत्पश्चान् जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न बड़ी कठिनाई से मिलता है, इसी प्रकार जीव त्रस पर्याय में एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय प्राप्त करता है, किन्तु क्या उसे कहीं सुख हासिल होता है? नहीं। सभी पर्यायों में वह दुःख ही पाता है। अगर पंचेन्द्रिय भी बन जाता है तो गधा, बैल एवं घोड़ा बनकर शक्ति से अधिक भार वहन करता है।

इस विषय में आप लोग मली-भाँति जानते हैं और देखते भी हैं कि निर्बल पशुओं पर भी लोग कितना अधिक वजन लादते हैं, ऊपर से बैठकर उनके न चलने पर आरी टोंचते हैं। मूक पशु न शिकायत कर पाता है, न रो पाता है, और न ही विश्राम ले पाता है। भूख-प्यास लगने पर बोल नहीं सकता तथा सर्दी-गर्मी में इच्छानुसार उठ-बैठ नहीं सकता।

असंज्ञी पशु होने पर मन के अभाव में घोर अज्ञानी रहता है और संज्ञी होकर भी अगर निर्बल रहा तो घोर-चीते जैसे क्रूर प्राणियों का आहार बनता है। इस प्रकार तिर्यंच संसार या तिर्यंच योनि में जीव नाना पर्याय धारण करके भी छेदन, भेदन, भूख, प्यास, भार-वहन, सर्दी एवं गर्मी आदि के नाना कष्ट सहन करता रहता है। तिर्यंच गति में भी दुःखों का कोई पार नहीं है। इसीलिए पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज कहते हैं कि नरक, निगोद तथा तिर्यंच गति में जीव अनन्त दुःख भोगता है पर उस समय उसे कौन उनसे बचाता है या सहायक बनता है? कोई भी नहीं।

इसीलिए महापुरुष मानव को उद्बोधन देते हैं—

पापों का फल एकले भोगा कितनी बार।

कौन सहायक था हुआ करले जरा विचार ॥

सोचने की बात है कि मनुष्य अपने परिवार को अधिकाधिक सुख पहुँचाने के लिए जीवन भर नाना प्रकार के पापकर्म करता है तथा उनके मोह में पड़कर अपनी आत्मा का मान भी भूल जाता है। किन्तु जब उन कर्मों का भुगतान वह नरक, निगोद या पशु योनि में रहकर घोर दुःखों के रूप में करता है, तब परिवार का कौनसा सदस्य उनमें हिस्सा बँटाता है? कोई भी तो उस कष्टकर समय में आड़े नहीं आता।

क्या यह सब समझकर मानव को नहीं चाहिए कि वह पारिवारिक कर्तव्य करते हुए भी अपनी आत्मा के लिए किये जाने वाले आवश्यक कर्तव्य को न भूले ? अर्थात् यह लोक छोड़ने के पश्चात् आत्मा को नरक निगोदादि का भ्रमण न करना पड़े, इसके लिए भी धर्माचरण करे। उसे सदा यही विचार करना चाहिए कि मैं अकेला आया था और अकेला ही जाऊँगा।

कहा भी है—

घिरे रहो परिवार से पर भूलो न विवेक।

रहा कभी मैं एक था अन्त एक का एक ॥

मनुष्य भेरा-भेरा करता हुआ जीवन में कभी 'मैं' क्या हूँ यह नहीं सोच पाता, पर कवि ने कहा है—“भाई ! भले ही परिवार से घिरे रहो पर आत्मरूप को मत भूलो।” जो व्यक्ति अपनी आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप को समझता है, वह फिर उससे विमुख नहीं रह सकता। कभी न कभी तो उसे मान आता ही है कि मैं अपने लिए क्या कर रहा हूँ और क्या नहीं ? कर्मजन्य फल को समझकर वह संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहता है।

कर्मों की करामात

अभी मैंने आपको बताया है कि जो भव्य प्राणी कर्मों की कारस्तानी को समझ लेते हैं, वे उनसे दूर रहने का भरसक प्रयत्न करते हैं। वे जान लेते हैं कि इस संसार में भोगोपभोगों के अनेकानेक पदार्थ चारों ओर मन को ललचाने के लिए या आकर्षित करने के लिए फैले रहते हैं और व्यक्ति ज्योंही उन्हें अपनाकर भोगने लगता है, त्योंही सदा घात लगाए रहने वाले कर्म आकर जीवात्मा को अपने फन्दे में जकड़ लेते हैं।

परिणाम यह होता है कि—

एगया खत्तियो होइ, तओ चण्डाल वोक्कसो।

तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथुपिबीलिया ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३, गा० ४

यानी—कर्मों से घिरा हुआ जीव कभी क्षत्रिय बनता है, कभी चांडाल, कभी वर्णसंकर और कभी-कभी कीट-पतंगा, कुंथुआ और चींटी का शरीर प्राप्त करता है।

इतना ही नहीं, वह कभी-कभी इनसे भी सूक्ष्म प्राणी बन जाता है, जैसा कि अभी मैंने बताया था कि निगोद में पहुँचकर वह एक श्वास जितने समय में अठारह बार जन्म-मरण करता रहता है।

‘भारित्लजी’ ने भी अपनी लिखी हुई संसार-भावना के अन्तर्गत कहा है—

कर्मों और कषायों के वश होकर प्राणी नाना-
कार्यों को धारण करता है, तजता है जग जाना ।
है संसार यही अनादि से जीव यहीं दुख पाते,
कर्म-मदारी जीव-वानरों को हा ! नाच नचाते ॥

कितनी यथार्थ और मर्मस्पर्शी भावना है कि प्राणी पाप-कर्मों और कषायों के कारण इस संसार में चौरासी लाख योनियों में बारम्बार जन्म लेता है, दुःख भोगता है और मरता है । अनादिकाल से चले आए इसी संसार में कर्म रूपी मदारियों के इंगितानुसार जीव नाचता रहता है । दूसरे शब्दों में कर्म-रूपी मदारी जीव रूपी बन्दरों को कभी नरक में, कभी निगोद में, कभी तिर्यच पर्याय में, कभी मनुष्य एवं देवगति में भेजते रहे हैं और इसी प्रकार नाना प्रकार के दुःख देते हुए नचाते रहते हैं । जीव को भी नाचना पड़ता है, क्योंकि वह परतन्त्र होता है और उसे कसने वाली डोरी कर्मों के हाथ में होती है ।

आगे कहा है—

देवराज स्वर्गीय सुखों को त्याग कीट होता है,
विपुल राज्य से भूपति पल में हाथ ! हाथ धोता है ।
गोबर का कीड़ा स्वर्गी के दिव्य सौख्य पाता है,
अपना ही शुभ-अशुभ कृत्य यह अजब रंग लाता है ॥

बन्धुओ, आप यह न समझें कि कर्म केवल पाप करने से ही बँधते हैं, पुण्य भादि उत्तम कार्य करने से नहीं । मैंने एक दिन इस विषय में बताया था कि जीव को शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म, बन्धन में रखते हैं । भले ही शुभ कर्मों को सोने की और अशुभ कर्मों को लोहे की बेड़ी मान लिया जाय । दुःख दोनों ही देते हैं, केवल उनमें तरतमता होती है ।

उदाहरणस्वरूप जीव अपने पुण्य या शुभ कर्मों के बल पर स्वर्ग में पहुँच जाय तब भी क्या होगा ? प्रथम तो वहाँ भी श्रेणियाँ हैं । देवलोकों में पहुँचने पर भले ही भोगोपभोगों के द्वारा वह अपार सुख का अनुभव करता है, किन्तु वहाँ भी अन्य देवों की ऋद्धि अधिक देखकर ईर्ष्या से जलता हुआ दुःख का अनुभव करता है, साथ ही अपनी मन्दारमाला को मुरझाते हुए देखकर मरने के दुःख से विकल बना रहता है । ऐसा वह अकाम निर्जरा करके भवनवासी, व्यर्तर अथवा ज्योतिषी देव बनने पर अनुभव करता है और अगर संयोगवश वह वैमानिक देव बन जाय तो सम्यक्दर्शन के अभाव में दुःखी रहता है तथा

अवधिज्ञान के कारण मरने से पहले सोचता है—“हाय ! अब ये सुखोपभोग मुझे नहीं मिलेंगे और पुनः निम्न गतियों में जाकर घोर दुःख उठाने पड़ेंगे !”

इस प्रकार स्वर्ग-संसार में रहकर भी जीव सुख नहीं पाता और पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप देव बनकर भी अनेक प्रकार के दुःख अनुभव करता है। वहाँ से, जैसा कि कवि ने कहा है—‘देवराज स्वर्गीय सुखों को त्याग कीट होता है।’ जीवात्मा पुनः कीट-पतंग भी बनकर पुनः संसार भ्रमण प्रारम्भ कर देता है।

बन्धुओ, यह संसार वस्तुतः ऐसा ही है। कर्मों के बन्ध में रहकर देव, कीट बन सकता है, राजा पलभर में ही अपने साम्राज्य को खो बैठता है और गन्दी नाली या गोबर आदि घृणित वस्तुओं में जन्म लेकर रहने वाला कौड़ा अगर शुभ-कर्म पत्ते में हों तो मरकर स्वर्गीय सुखों को प्राप्त कर लेता है। यह सब कर्म-रूपी मदारी के द्वारा कराया हुआ नाच नहीं तो और क्या है ?

बकरा ही तुम्हारा बाप है !

मैंने एक उदाहरण कहीं पढ़ा था कि एक बड़ा धनवान सेठ था और उसके एक दुकान अनाज की भी थी। सेठ पैसे का धनी अवश्य था पर आत्म-गुणों का नहीं। दिन-रात अपनी दुकान में बैठकर पैसा बनाने की फिक्र में ही वह रहता था पर परलोक बनाने की फिक्र उसने जीवन भर नहीं की, यानी धर्म-ध्यान से कोसों दूर रहा।

धन और दुकान में मृद्ध रहने के कारण मरने के पश्चात् वह बकरा बना और इधर-उधर मुँह मारकर पेट भरने लगा। एक दिन वह अपनी दुकान की ओर भी पहुँच गया तथा बोरी में भरी हुई बाजरी खाने लगा।

यह देखकर उसके पुत्र को, जो कि दुकान में बैठा था, बड़ा क्रोध आया और डंडा लेकर उस बकरे पर पिल पड़ा, जो कुछ समय पहले ही उसका पिता था। बकरा मूक पशु था क्या बोलता ? केवल अपने पूर्व जन्म के पुत्र की मार खाता रहा।

उसी समय उधर से एक ज्ञानी संत गुजरे। अपने ज्ञान से उन्होंने यह देखा कि जिस जीव ने जीवन भर परिश्रम करके यह दुकान बढ़ाई थी और अपने पुत्र का पालन-पोषण किया था, वही पुत्र बाप को दो-मुट्टी अन्न खा लेने पर डंडे से मार रहा है। यह देखकर वे मुस्कुरा दिये।

दुकान का मालिक यह देखकर बोला—“महाराज ! आप हँसे क्यों ? यह बकरा सारी बाजरी खा जाता अगर मैं इसे नहीं मारता तो। आखिर मेरी

दुकान है और मैं हर पशु को इस प्रकार अन्न खाने दूँ तो कैसे काम चलेगा ? ये सब खा जाएँगे और दुकान का दिवाला निकल जाएगा ।”

संत बोले—“भाई ! यह इसकी ही तो दुकान है ।”

पुत्र तनिक क्रोध से बोला—“कैसी बातें करते हैं आप ? दुकान मेरे बाप की है या इस जानवर की ?”

“यह जानवार ही तो तुम्हारा बाप है ।” संत ने उसी प्रकार शांतिपूर्वक उत्तर दिया । पर पुत्र यह सुनते ही आग-बबूला होकर कह उठा—“आप संत होकर मुझे गालियाँ दे रहे हैं ?”

इस बार संत ने राज खोलते हुए कहा—“भाई ! मैं तुम्हें गालियाँ नहीं दे रहा हूँ, अपने ज्ञान से बता रहा हूँ कि तुम्हारे पिता ने ही मृत्यु को प्राप्त कर यह बकरे का शरीर पाया है जिसे तुम मार रहे थे ।”

यह सुनते ही पुत्र अवाक् हो उठा और कर्मों की ऐसी लीला देखकर माथे पर हाथ धरकर बैठ गया ।

वास्तव में ही संसार ऐसा है । इसकी विचित्रता का वर्णन कहाँ तक किया जाय । इस जगत् में तो प्रत्येक जीव के प्रत्येक अन्य जीव से न जाने कितनी बार नाते जुड़े हैं । कविता में आगे यही बताया गया है—

एक जन्म की पुत्री मरकर है पत्नी बन जाती ।

फिर आगामी भव में माता बनकर पैर पुजाती ॥

पिता पुत्र के रूप जन्मता, बैरी बनता भाई ।

पुत्र त्यागकर देह कभी बन जाता सगा जमाई ॥

ऐसी स्थिति में भला किसे दुश्मन और किसे दोस्त कहा जाय ? जिसे आज हम दुश्मन मानते हैं, वह अगले जन्म में भाई या पुत्र बन सकता है और जिसे आज प्राणों से प्यारा पुत्र या पौत्र कहते हैं वह किसी जन्म में कट्टर दुश्मन के रूप में सामने आ सकता है ।

इसीलिए भगवान की वाणी हमें चेतावनी देती है कि संसार के सभी प्राणियों को आत्मवत् समझो तथा किसी के प्रति क्रूरता, निर्दयता या ईर्ष्या-द्वेष का भाव मत रखो । आपको ज्ञात होगा कि भगवान महावीर के पैर के अँगूठे को जब चंड कौशिक सर्प ने अपने मुँह में लिया तो स्वयं इन्द्र दौड़कर आए और भगवान के दूसरे पैर पर मस्तक रखकर प्रार्थना की—“प्रभो ! आपकी आज्ञा ही तो इस भयंकर विषधर को सबक पढ़ा दूँ ?”

किन्तु क्या भगवान ने यह स्वीकार किया ? नहीं, उन्होंने इन्द्र के प्रेम एवं

सौजन्य के कारण उन पर अपनी ममतामयी दृष्टि डालते हुए इन्कार किया तथा उसी ममतामयी दृष्टि से चंडकौशिक को भी निहारा। दोनों के प्रति उनका ममत्व-भाव समान था।

पर क्या आज हम प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसा विचार करते हैं? कभी नहीं, अपने पुत्र-पौत्र, पत्नी या परिवार की उदरपूर्ति के लिए तो अन्य व्यक्तियों का पेट काटने से भी नहीं चूकते! इतना ही नहीं, पेट भरना तो फिर भी गुनाह नहीं है पर पेटियाँ भर-भरकर रखने के लिए भी तो अन्य अनेकों के पेट पर लात मारते हैं और उन्हें भूखा-नंगा रहने को बाध्य कर देते हैं। इस प्रकार प्राणी मात्र की बात तो दूर, अपनी मनुष्य जाति के लिए भी हम आत्म-वत् भावना नहीं रखते तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना कैसे रख सकते हैं।

किन्तु ऐसा न करने का परिणाम क्या होता है? वही नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-संसार में भटकते हुए महान् दुःख पाने का क्रम जारी रहता है। बिरले महा-मानव ही ऐसे होते हैं, जो 'संसार-भावना' का भर्म हृदय में उतारते हैं तथा जीवमात्र को पूर्णतया अपने समान समझते हैं। ऐसे महापुरुषों का जीवन बिना अधिक प्रयास के ही निर्दोष, निष्कलंक एवं पाप-कर्म रहित बनता जाता है। वे संसार के स्वरूप को भली-भाँति समझ लेते हैं तथा बाह्य धन-वैभव इकट्ठा करने का प्रयत्न छोड़कर आत्म-धन सुरक्षित रखने में जुटे रहते हैं।

उन्हें प्रतिपल यह चिन्ता रहती है कि मानव-जीवन जो कि अनेकानेक पुण्यों के संचय से बड़ी कठिनाईपूर्वक मिला है, इसका एक पल भी निरर्थक न चला जाय। क्योंकि अगर इस जीवन में संसार से मुक्त होने का या कर्मों की निर्जरा करने का प्रयत्न न किया और मृत्यु आ गई तो फिर न जाने कितने काल तक पुनः इस भव-सागर में गोते लगाने पड़ेंगे, तब कहीं पुनः यह जीवन मिल सकेगा और मिलेगा ही यह भी निश्चित नहीं है।

केनोपनिषद् में कहा है—

**इह चेद बेदीवय सत्यमस्ति,
न चेदिहा बेवीत महती विनष्टिः ।**

अर्थात्—यदि इसी जन्म को सफल बना लिया यानी आत्मा को जान लिया तब तो अच्छा है; अन्यथा बड़ी हानि होगी।

हानि क्या होगी? यह आप समझ ही गये होंगे। अभी-अभी मैंने बताया भी है कि अगर यह जीवन आत्मा को कर्म-मुक्त करने के काम में न लिया तो फिर चौरासी का चक्कर पुनः-पुनः काटना पड़ेगा तथा फिर से मानव-

जीवन की प्राप्ति असंभव नहीं तो दुर्लभ निश्चय ही हो जाएगी। इस प्रकार मानव-जीवन पाकर कर्मों का क्षय कर लेना इसका लाभ उठाना है और पाप-कर्म करके पुनः चारों गतियों में भ्रमण करने जाना भारी हानि उठाना है।

लोग थोड़ा दान-पुण्य करके उसके बल पर ही स्वर्ग प्राप्ति की कामना करने लगते हैं। प्रथम तो स्वर्ग भी इतनी जल्दी नहीं मिलता और अगर मिल भी जाता है तो उसे मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट लाभ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वहाँ क्या होता है, यह मैं अभी आपको बता चुका हूँ। मुख्य बात यही है कि देवता भले ही स्वर्ग का असीम सुख भोग लें, पर वहाँ का आयुष्य समाप्त होने पर उन्हें निश्चय ही अन्य गतियों में जाना पड़ता है। क्योंकि वहाँ पर वे संयम-साधना करके कर्मों से मुक्त होने का तो विचार भी नहीं करते, उलटे एक-दूसरे से ईर्ष्या, द्वेष, कलह एवं मरने से पहले घोर आर्तध्यान करके कर्म-बन्धन कर लेते हैं। तारीफ़ की बात तो यह है कि वहाँ पर धर्मासाधन न कर पाने पर वे मानव-जीवन प्राप्त करने को तरसते हैं।

कभी गाड़ी नाव पर और कभी नाव गाड़ी पर

कैसी अजीब बात है कि जो मनुष्य स्वर्ग पाने का प्रयत्न करके उसे पा भी लेता है वही स्वर्ग में रहकर पुनः मनुष्य जीवन पाने की अमिलाषा रखता है।

शास्त्रों में स्पष्ट कहा है—

ततो ठाणाइं देवे पोहेज्जा

माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुल पच्चायातिं ।

—स्थानांगसूत्र ३-३

अर्थात्—देवता भी तीन बातों की इच्छा करते हैं। प्रथम, मनुष्य जीवन, द्वितीय, आर्यक्षेत्र में जन्म और तृतीय, श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

तो भाई ! मैं यह कहता हूँ कि जब तुम्हें स्वर्ग में जाकर फिर मनुष्य जीवन की इच्छा करनी है तो अभी मिले हुए इसी जीवन को सार्थक क्यों नहीं कर लेते ? यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ—इसी में तो न जाने कितना काल व्यतीत हो जाएगा। इसके अलावा यहाँ से स्वर्ग ही मिलेगा और इच्छा करते ही वहाँ से पुनः यहाँ आ जाओगे, इसका कौन ठिकाना है ? अतः स्वर्ग की इच्छा न रखते हुए संवर के मार्ग पर चलकर कर्मों के आगमन को रोको और इसके साथ ही त्याग, प्रत्याख्यान, तप एवं उत्कृष्ट साधना करके कर्म-क्षय का ही प्रयत्न करो तो आत्मा का भला हो सकेगा। प्रत्येक आत्मामिलाषी को यही करना चाहिए।

संसार के वास्तविक स्वरूप को जो समझ लेते हैं, वे ऐसा ही करते भी हैं। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि मानव-जीवन भी संसार में लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को मिल जाता है, पर इसका स्वरूप और धर्म का मर्म कितने व्यक्ति समझते हैं ? बहुत थोड़े।

पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अधिकांश मनुष्यों के जीवन का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत करते हुए अपनी कविता में कहा है—

मानवभव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते हैं ।
 विविध व्याधियों के वश होकर अगणित नर रोते हैं ॥
 अंगोपांग विकल हो अथवा पागल होकर अपना ।
 जीवन हाथ बिताते, कब हो पूरा मन का सपना ॥
 दानव-सा दारिद्र्य किसी को स्वजन वियोग किसीको ।
 पुत्र-अभाव किसी को अप्रिय का संयोग किसी को ॥
 नाना चिन्ताएँ डाइन की भाँति खड़ी रहती हैं ।
 इस प्रकार दुनिया में दुःख की सरिताएँ बहती हैं ॥

संसार की वास्तविकता का कितना सही चित्र है ? हम कहते हैं मनुष्य जन्म मिल गया, फिर क्या चाहिए ? पर मनुष्य-जन्म मिल जाने पर भी क्या सभी मनुष्य सुखी हो जाते हैं ? नहीं, अनेक मनुष्य इस जीवन को पाकर भी जीवन भर रोगी बने रहते हैं, अनेकों गूंगे या बहरे होते हैं, अनेकों लंगड़े-सूले या अन्य किसी प्रकार से अपंग रहकर दुःखी होते हैं और अनेकों जन्म से ही पागल होकर, हम मनुष्य बने हैं यही नहीं समझ पाते ।

इसके अलावा अनेकानेक व्यक्ति जो इन दुःखों से दुःखी नहीं भी होते हैं, वे भी रोते रहते हैं क्योंकि कई घोर दरिद्रता से ग्रस्त रहते हैं, कई स्वजनों के मर जाने पर झुरते हैं, कई पुत्रहीनता का दुःख मानते हैं और कई किसी अन्य प्रकार के संकट में पड़कर छटपटाते रहते हैं ।

इस प्रकार इस संसार में नाना प्रकार की चिन्ताएँ या परेशानियाँ डाइन के समान मनुष्य का खून चूसती रहती हैं। ऐसी स्थिति में, पड़े हुए मनुष्य भला किस प्रकार अपने जीवन का लाभ उठा सकते हैं या मन के मनोरथों को पूरा सकते हैं ?

इसीलिए सन्त महापुरुष कहते हैं कि—“अगर तुम्हें भाग्य से मनुष्य-जन्म, स्वस्थ-शरीर, उच्च-कुल, आर्य-क्षेत्र, सन्त-सभागम और वीतरागों के वचन सुन

पाने का महान् योग मिला है तो संसार की वास्तविकता को समझ कर धर्मा-
राधन करो, हृदय में करुणा एवं 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना रखो तथा
संसार में रहकर भी संसार से निरासक्त रहकर अधिक से अधिक समभाव बनाये
रखो।" यह नहीं कि परिवार में किसी की मृत्यु हो गई तो सदा हाय-हाय करते
रहे, किसी ने धन चुरा लिया या छीन लिया तो मारे क्रोध के उससे जीवन
भर बैर बाँध रहे और धर्म-साधना के लिए अगर तत्पर हुए तो तनिक-सा
किसी भी प्रकार का परिपह आते ही उसे छोड़ बैठे।

जीवन में धैर्य एवं समाधिभाव कायम रखने की बड़ी आवश्यकता है।
अगर यह भाव हृदय में घर कर लेता है तो फिर व्यक्ति किसी भी प्रकार के दुःख
और संकट से विचलित नहीं होता। एक उदाहरण है—

धर्म ही सच्चा धन है

प्राचीन समय में एक सौदागर अपना माल लेकर विदेश में व्यापार करने
गया। वहाँ कई वर्ष रहा और मूल पूंजी को अनेक गुनी बढ़ाकर पुनः अपने
देश के लिए रवाना हुआ। एक बड़े भारी जहाज में उसने सामान लदवाया
और कमाया हुआ समस्त द्रव्य लेकर जहाज को समुद्र में चलवा दिया।

रास्ता कई दिन का था और दुर्भाग्यवश बीच समुद्र में आने पर बड़े जोरों
का तूफान आ गया। नाविकों ने जहाज को सम्हालने की बहुत कोशिश की पर
सफल नहीं हुए। परिणामस्वरूप जहाज डूब गया। सौदागर ने बड़ी कठिनाई
से छोटी डोंगी के द्वारा अपनी रक्षा की और किसी तरह घर लौटा।

उसके घर आने पर जब गाँव वालों ने सुना कि सौदागर का जहाज डूब
गया और इतने वर्षों तक कमाया हुआ समस्त अर्थ समुद्र के अतल में चला
गया तो सभी को बड़ा दुःख हुआ क्योंकि सौदागर बड़ा ईमानदार, स्नेह परायण
एवं धर्मात्मा था। अनेक व्यक्ति उसके घर पर समवेदना प्रकट करने के लिए
आए और दुःख न करने के लिए विविध शब्दों में समझाने लगे।

पर सौदागर का चेहरा तनिक भी उदास या दुःखी नहीं था अपितु जैसा
सदा शांत एवं खिला हुआ रहता था वैसा ही था। सौदागर ने लोगों से भी
कहा—“भाइयो ! मुझे तो जहाज के डूब जाने का रंचमात्र भी दुःख नहीं है।
गया सो चला गया, उसके लिए खेद करने की बात ही क्या है ? धन की गति
आखिर और क्या हो सकती है ? दुःख मुझे तब होता, जबकि मेरा आत्म-धन
चला जाता। पर वह ज्यों का त्यों सुरक्षित है। इस धर्म के असली धन को
पानी नहीं डुबा सकता, आग जला नहीं सकती और चोर-डाकू छीन नहीं
सकते, अतः आपको भी कतई दुःख नहीं मानना चाहिए। यही विचार करना

चाहिए कि मैं पूर्ववत् धनी हूँ। सच्चा धन रुपया-पैसा नहीं होता वरन् धर्म होता है।”

सौदागर के इन शब्दों को सुनकर गाँव वालों का हृदय गद्गद हो गया और वे उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए लौट आए।

बन्धुओ, ऐसा धर्म और समभाव वही रख सकते हैं जो कि संसार की वास्तविकता को भली-भाँति समझ लेते हैं। यही ‘संसार-भावना’ भाने का परिणाम है। जो भी मानव यह भावना अपने जीवन में सतत बनाए रखेंगे वे इह-लोक और परलोक में सुखी बनेंगे।



एगोहं नत्थि मे कोई

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने बारह भावनाओं में तीसरी जो 'संसार-भावना' है, उसके विषय में विवेचन किया था। ये भावनाएँ संवरसत्त्व के अन्तर्गत आती हैं। 'संसार-भावना' बारह भावनाओं में से तीसरी है पर संवर के सत्तावन भेदों में से तेतीसवाँ भेद है। आज चौतीसवाँ भेद लेना है, जो कि 'एकत्व भावना' है।

एकत्व भावना किसे कहते हैं ?

एकत्व का अर्थ अकेलापन होता है, और जो 'एकत्व भावना' भाते हैं, वे यही विचार करते हैं कि—'मैं अकेला आया हूँ, अकेला हूँ और अकेला ही जाऊँगा।' वस्तुतः आप और हम सभी देखते-जानते हैं कि जीव अकेला इस पृथ्वी पर आता है और अकेला ही जाता है। न वह साथ में कुछ लाता है और न ही कुछ भी साथ लेकर जाता है।

इस विषय में पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने बताया है—

एकलो ही आयो और एकलो ही जासी जीव,
 आयो मुट्टी बाँघ के पसार हाथ जायगो ।
 महल अटारी पट-सारी तात-भात नारी,
 धन-धान्य आदि कछु साथ नहीं आयगो ॥
 स्वारथ सगाई जग अंत समय कौन तेरो ?
 धरम आराध भाई संकट पलायगो ।
 भावना एकत्व ऐसी भाई नमिराज ऋषि,
 कहत त्रिलोक भावे सो ही मुख पायगो ॥

एकत्व भावना का यही स्वरूप है। महाराज श्री अपनी साधु-भाषा में कह

रहे हैं—“यह जीव अकेला आया है और अकेला ही जाएगा। इतना अवश्य है कि आते समय उसकी मुद्रियाँ बँधी होती हैं और जाते समय हाथ खुले रहते हैं। उसके साथ महल-मकान, धन-धान्य, वस्त्र-आभूषण, सोना-चाँदी एवं माता-पिता या पत्नी-पुत्र, कोई भी नहीं जाता। सम्पूर्ण धन घर पर पड़ा रहता है, दरवाजे की चौखट तक पत्नी साथ चलती है और अन्य स्वजन-सम्बन्धी इमशान तक साथ देते हैं। बस, उसके आगे की लम्बी यात्रा जीव अकेला ही करता है। सांसारिक सम्बन्ध केवल स्वार्थ के नाते बने रहते हैं, मृत्यु आते ही कोई साथ में मरकर चलने की इच्छा नहीं रखता।

यही एकत्व भावना है कि मानव भले ही जीवन-भर अपने परिवार के पालन-पोषण और उन्हें अधिकाधिक सुख पहुँचाने के लिए पाप-कर्म करके नरक की ओर प्रयाण करे, पर वे ही पारिवारिक जन फिर उसकी परवाह नहीं करते। तब फिर धन-वैभव की तो बात ही क्या है ?

पं० शोभाचन्द्र जी ‘मारिल्ल’ ने भी एकत्व भावना पर अपनी कविता में लिखा है—

कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार ।
देख भोगते स्वर्ग-सुख, वे ही अपरम्पार ॥
यह अभिन्न काया नहीं, साथ जाएगी भ्रात !
तो वैभव परिवार की, रही दूर ही बात ॥

कहा गया है—“अरे भाई ! जिन नातेदारों को सुखी बनाने के लिए असंख्य पाप करके तू नरक की ओर प्रयाण कर रहा है, वे ही तेरा साथ न देकर स्वर्गों के सुख भोगने के लिए चल दिये हैं। अधिक क्या कहूँ जीवन भर अभिन्न रहने वाला यह शरीर भी तो तेरा साथ नहीं देता, फिर धन-वैभव की तो बात ही क्या है ?

कहने का आशय यही है कि—“जब अन्त में कोई सम्बन्धी या संपत्ति तेरा साथ नहीं दे सकते तो फिर मेरे-मेरे करके क्यों मोह कर्मों का बन्धन करता है तथा धन के लिए रात-दिन खटता रहता है ?”

धन तो बगदाद के राजा कार्लू के पास भी अपार था। आज भी अधिक धन का उल्लेख करने के लिए—‘कार्लू का खजाना’ कहावत काम में ली जाती है।

तो कार्लू के पास असीम धन था और अपने धन का उसे बड़ा गर्व था। एक बार कार्लू के पास सोलन नामक कवि आया। कार्लू ने उससे कहा—
“कविराज जरा मेरी सम्पत्ति का वर्णन तो अपनी कविता में करो।”

सोलन सच्चा कवि था और सच्चे कवि बिना किसी भय या डर के सच्ची बात अविलम्ब कह देते हैं, चाहे उसका फल मृत्यु ही क्यों न हो। आपने सुना होगा कि बादशाह औरंगजेब ने एक बार कवि भूषण से कविता में अपने गुणों का वर्णन करने के लिए कहा। पर जैसा कि मैंने अभी बताया, कवि किसी से डरते नहीं। भूषण ने भी औरंगजेब के गुणों के साथ सम्पूर्ण अवगुणों का भी वर्णन कर दिया। परिणामस्वरूप बादशाह कुपित हुआ और उसने उसकी राज्य से मिलने वाली सहायता बन्द करते हुए बहुत अनादर किया।

इसी प्रकार गंग कवि का भी हाल हुआ था। गंग कवि से बादशाह अकबर ने कहा—“गंग ! तुमने वर्षों मेरे पास रहते हुए नाना विषयों को लेकर कविताएँ लिखीं, किन्तु कभी मेरी प्रशंसापूर्ण कविता नहीं बनाई। अतः अब एक ऐसी कविता लिखो, जिसके अन्त में यह अवश्य आए—“सब मिल आस करो अकबर की।”

गंग कवि स्त्रीकारोक्ति में सिर हिलाता हुआ चल दिया और कुछ समय बाद एक लम्बी कविता लिख लाया। कविता में बादशाह की बहुत प्रशंसा की गई थी पर अन्त में यह लिखा था—

कवि गंग तो एक गोविन्द भजे, वह संक न माने जब्बर की।

जिनको न भरोसा हो उसका, सब आस करें वे अकबर की॥

यद्यपि कविता में भगवान के बाद दूसरा नम्बर गंग ने अकबर को दिया था और कहा था—जिन्हें भगवान पर भरोसा न हो वे तो अवश्य ही बादशाह अकबर के आश्रय की आकांक्षा करें। क्या यह यथार्थ नहीं था ? निश्चय ही अकाश्रय सत्य था कि भगवान सर्वोपरि हैं और जगत के सम्पूर्ण प्राणियों को आश्रय देने वाले हैं। किन्तु उन पर विश्वास न हो तो फिर लोग अकबर बादशाह की सहायता की अपेक्षा रखें। पर गंग कवि के सत्य पर भी अकबर ने आग-बबूला होकर उसे हाथी के पैरों-तले कुचलवा दिया। गंग भी ऐसी ही सजा की अपेक्षा रखता था अतः हँसते-हँसते मर गया।

इन उदाहरणों से मेरा अभिप्राय यही है कि कवि लोग किसी का लिहाज करके असत्य नहीं लिखते और न कहते ही हैं, चाहे उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। सोलन भी कवि था अतः असत्य कहकर कारूँ राजा को रिझाने का प्रयत्न कैसे करता ? उसने कारूँ के यह कहने पर कि—‘मेरी असीम सम्पत्ति की प्रशंसा करो !’ स्पष्ट कह दिया—

“महाराज ! धन-वैभव की क्या प्रशंसा करूँ ? यह आज है, कल नहीं। आप आज इसके कारण स्वयं को महाशक्तिशाली मानते हैं पर कल इसके न

रहने पर भिखारी बनकर दर-दर घूमने को भी बाध्य हो सकते हैं। सारांश यही है कि इसमें कोई गुण नहीं है, जिसकी प्रशंसा की जाय। धन मनुष्य के जीते जी भी उसे धोखा दे देता है और मरने पर तो साथ देने का सवाल ही नहीं है।”

सोलन की यह बात सुनकर कारूँ को भी बड़ा क्रोध आया कि—“मेरे जिस वैभव का सारा संसार लोहा मानता है और इसकी प्रशंसा करता है, उसी को सोलन निरर्थक, धोखा देने वाला और गुणहीन कह रहा है।”

अपने क्रोध के कारण कारूँ ने भी सोलन को अपमानित करते हुए राज्य से निकाल दिया और सोलन अपनी उसी प्रसन्नता, शान्ति और सन्तोष के साथ वहाँ से चला गया।

संयोग की बात थी कि फारस के बादशाह ने बगदाद पर आक्रमण किया और युद्ध में जीत गया। उसने कारूँ को बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया।

जब कारूँ की ऐसी स्थिति हो गई तो उसका अपने धन पर रहने वाला गर्व चूर-चूर हो गया। उस समय उसे सत्यवादी सोलन की याद आई और अपने किये पर पश्चात्ताप करते हुए पागलों के समान—‘सोलन ...! सोलन.....!’ कहकर उसे पुकारने लगा।

जेल के अधिकारियों ने जब फारस के बादशाह को यह बताया कि कारूँ बन्दीखाने में और किसी तरह की कोई बात न कहकर केवल—सोलन..... सोलन..... कहकर किसी को पुकार रहा है तो बादशाह को आश्चर्य हुआ और उसने स्वयं आकर सोलन को पुकारने का कारण पूछा।

कारूँ ने बादशाह के पूछने पर पूर्वघटित सम्पूर्ण घटना कह सुनाई और कहा—“सोलन की बात सोलह आना सत्य थी। वास्तव में ही मेरा इतना विशाल खजाना मेरे काम नहीं आया और मेरे जीवित रहते ही धोखा दे गया। इसलिए मैं सोलन से मिलकर उससे अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगना चाहता हूँ।”

फारस के बादशाह ने जब सारी बात सुनी तो वह भी सोचने लगा—“जब कारूँ का इतना विशाल खजाना उसके ही काम नहीं आया तो वह मेरे काम कैसे आ सकता है? मेरी भी तो कल को कारूँ के समान ही स्थिति हो सकती है। वस्तुतः धन-वैभव, राज्य-पाट सब निरर्थक हैं, उनके द्वारा किसी का कोई लाभ नहीं हो सकता।”

यह विचार आने पर फारस के उस बादशाह ने कारूँ को छोड़ दिया और ससम्मान विदा किया।

बन्धुओ ! इन उदाहरणों से मेरा आशय यही है कि उन कवियों ने जो कुछ कहा, उससे एकत्व भावना की पुष्टि हुई । जीव अकेला आया है और अकेला जाएगा, घन उसके साथ जाने वाला नहीं है । साथ में अगर कुछ जाता है तो केवल शुभ और अशुभ कर्म । इसीलिए गंग कवि ने गोविन्द का भजन करने पर जोर दिया है । हम भी यही कहते हैं कि वीतराग प्रभु का चिन्तन करो, साथ ही अपनी समस्त क्रियाओं को निर्दोष अर्थात् धर्ममय बनाओ । मानव अगर अपने आचरण को राग, द्वेष, विकार और कषायादि से रहित कर लेता है तो जीवन स्वयं ही धर्ममय बन जाता है ।

एकत्व भावना कैसे भायी जाये ?

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने सुन्दर पद्य के अन्त में कहा है कि नमिराय ऋषि ने जिस प्रकार एकत्व भावना भाई थी, उसी प्रकार अगर प्रत्येक व्यक्ति उसे भाता है तो वह अपनी आत्मा की भलाई कर सकता है । एकत्व भावना ही आत्मा के सच्चे स्वरूप का अनुमान करा सकती है तथा उसके संसार-परिभ्रमण को कम कर सकती है ।

आप विचार करेंगे कि भावना भाने से ही क्या संसार-परिभ्रमण हक जाएगा ? नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता, और मैं यह कहता भी नहीं हूँ कि केवल जीव के अकेलेपन का ज्ञान होने से ही आत्म-कल्याण हो जाएगा । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसे विचार बनाता है, या जैसी भावनाएँ रखता है, धीरे-धीरे उनके अनुसार आचरण भी अवश्य करता है । जैसे कोई व्यक्ति झूठ बोलना, हिंसा करना या चोरी करना बुरा समझने लगता है तो निश्चय ही वह इन कार्यों से कतराएगा तथा एकदम नहीं तो शनैः-शनैः इन्हें निश्चय ही छोड़ देगा । जिन कामों को हम अच्छा नहीं समझते और उनसे घृणा करते हैं, तो फिर उन्हें करने की इच्छा भी नहीं होती ।

इसी प्रकार जब मनुष्य यह समझ लेगा कि मेरी आत्मा अकेली आई है, और अकेली ही जाने वाली है तो वह सांसारिक पदार्थों में ममत्व नहीं रखेगा । यहाँ पुनः आप कहेंगे कि यह बात भी सभी जानते हैं, पर फिर भी लोग जीवन भर पाप करते जाते हैं, ऐसा क्यों ? यह बात भी सत्य है । मचमुच ही हर व्यक्ति इतना तो जानता ही है, किन्तु फिर भी पाप करता है । इसका वास्तविक कारण यह है कि आत्मा के एकत्व को प्राणी के जन्म-मरण से प्रत्यक्ष देखकर व्यक्ति समझ लेता है, किन्तु कर्म-बन्धनों को प्रत्यक्ष न देख पाने के कारण उनके अस्तित्व पर शंकाशील रहता है । उसे इस बात पर दृढ़ विश्वास नहीं हो पाता कि हमारी आत्मा पाप-कर्मों के कारण अनन्तकाल से चौरासी लाख योनियों

में भ्रमण करती रही है और इस जन्म में भी अगर धर्मराधन नहीं किया तो पुनः अन्य गतियों में जाकर दुःख भोगना पड़ेगा। नरक या स्वर्ग व्यक्ति को दिखाई नहीं देता अतः उसे उन पर पूरा विश्वास नहीं होता तथा कर्मों का भय नहीं लगता। इसीलिए आत्मा के एकत्व को वह इस संसार में आने तक और यहाँ से जाने तक में ही मानता है। परिणाम यह होता है कि उसके विचार डौंवाडोल बने रहते हैं और वह पापों से पूर्णतया डरकर उन्हें छोड़ नहीं पाता।

किन्तु मुझे आपसे यही कहना है कि आप वीतराग के बचनों पर पूर्ण विश्वास या हृदय श्रद्धा रखते हुए गम्भीरतापूर्वक यही भावना भाएँ कि हमारी आत्मा केवल इस पृथ्वी पर ही अभी ही अवतीर्ण नहीं हुई है अपितु इससे पहले भी न जाने कब से शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख और दुःख भोगती हुई आई है, तथा अब हम जैसे कर्म करेंगे उनके अनुसार यहाँ से मरकर भी सुख और दुःख भोगने पड़ेंगे और उस समय वह अकेली होगी। यहाँ का धन यहीं रहेगा और स्वजन-सम्बन्धी भी यहीं छूटेंगे।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि जब इस प्रकार वास्तविक एवं पूर्ण रूप से मनुष्य एकत्व भावना को समझ लेगा और उसे हृदय में विश्वाससहित स्थान दे देगा तो निश्चय ही वह कर्मों से भयभीत होता हुआ पापों से बचने का प्रयत्न करेगा। पर इसके लिए पहले भावनाओं में दृढ़ता लाना आवश्यक है। भावना भाना आचरण की पहली सीढ़ी है। उस पर पैर रखने पर ही वह मोक्ष-मंजिल की अन्य सीढ़ियों पर चढ़ सकेगा। पर जो व्यक्ति पहली सीढ़ी के नजदीक ही नहीं पहुँचता या उस पर पैर नहीं रखता वह ऊपर कैसे चढ़ेगा ?

इसलिए सर्वप्रथम एकत्व भावना को अवश्य और सही तौर पर भाना चाहिए। उसमें अगर सचाई आ गई यानी प्रथम सीढ़ी दिखाई दे गई तो फिर ऊपर चढ़ना सरल हो जाएगा।

किस प्रकार इस भावना को सचाई से भाना चाहिए इस विषय में पं० मारिल्लजी कहते हैं—

जन्मे कितने जीव हैं, जग में करो विचार ।
लाये कितने साथ में, पहले का परिवार ॥
राज-पाट-सुख-सम्पदा, वाजि, वृषभ, गजराज ।
मणि माणिक मोती महल, प्रेमी स्वजन समाज ॥
आया है क्या साथ में, जाएगा क्या साथ ।
जीव अकेला जाएगा, बन्धु पसारे हाथ ॥

दुर्लभ मानवभव मिला, कर एकत्व विचार ।

कैसे होगा अन्यथा, तेरा आत्मोद्धार ?

पद्यों का अर्थ बड़ा सरल और प्रभावपूर्ण है । इसमें यही कहा गया है—
“अरे माई ! जरा विचार कर कि यह जीव अपने साथ धन-वैभव, राज्य-पाट, हाथी-घोड़े और अपना परिवार इनमें से क्या साथ लेकर आया था ? कुछ भी नहीं । और साथ में क्या ले जाएगा ? इसका उत्तर भी यही है—कुछ नहीं । तो फिर तू एकत्व भावना को क्यों नहीं भाता ? जरा विचार कर कि यह भावना हृदय की गहराई में उतारे बिना तेरा आत्मोद्धार कैसे होगा ?

बन्धुओ, यहाँ ध्यान में रखने की बात यही है जो मैं अभी आपको बता रहा था कि आत्म-कल्याण के लिए सर्वप्रथम मन में एकत्व पर विचार करना चाहिए । यानी इस भावना को सच्चाई से मानस में जमाना चाहिए । अन्यथा न जीव कर्मों से डरेगा और न ही आत्म-साधना में जुट सकेगा । भावना वह बीज है, जिसके अन्तर्मानस में बो देने पर धर्म रूपी वृक्ष पनपेगा तथा तप, त्याग, संयम एवं साधना रूपी अनेक डालियों से विकसित होता हुआ मोक्ष-रूपी मधुर फल प्रदान करेगा ।

राजर्षि नमिराय एक बार भयंकर दाह-ज्वर से पीड़ित हो गये । हकीम और वैद्य उनका उपचार कर-करके थक गये पर उनके शरीर की वेदना शान्त नहीं हो सकी । अन्त में सभी ने एकमत होकर कहा—“बावनगोशीर्ष चन्दन का लेप करने से महाराज का दाह-ज्वर शान्त हो सकेगा ।”

यद्यपि महल में सैकड़ों दास-दासी थे जोकि चन्दन घिस सकते थे, किन्तु राजा की पतिपरायणा रानियों ने स्वयं ही यह कार्य करने का निश्चय किया और तत्काल ही चन्दन घिसने लगीं । पर चन्दन घिसते समय उनके हाथों के कंगन और चूड़ियाँ बजने लगे । व्याभिग्रस्त राजा को उनकी आवाज भली न लगी और वे व्याकुलतापूर्वक बोले—“यह आवाज मुझे कष्ट पहुँचा रही है ।”

रानियों ने यह सुनते ही अविलम्ब सब कंगन खोल दिये । केवल सौभाग्य का चिह्न मानकर एक-एक कंकण हाथ में रखा । चन्दन घिसा जा रहा था, पर कंकणों का शब्द वन्द हो गया ।

जब राजा को आवाज सुनाई देनी एकदम बन्द हो गई तो उन्होंने आश्चर्य से पूछा—“क्या चन्दन घिसा जाना रुक गया ?”

रानियों ने उत्तर दिया—“नहीं महाराज ! चन्दन तो हम घिस रही हैं, पर हाथों में अब एक-एक ही कंकण रखा है अतः इनकी सम्मिलित आवाज, जो आपको कष्ट पहुँचा रही थी, वह मिट गई है ।”

यह सुनते ही राजा के हृदय में एकत्व भावना आई। उन्होंने विचार किया—“एकाकी जीवन ही सुखी रह सकता है। जब तक मनुष्य परिवार से तथा अन्य लोगों से घिरा रहता है, तब तक उनके कोलाहलपूर्ण शब्दों के कारण सच्ची शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। कंकण के शब्दों के समान ही जनरव भी उसे सदा आकुल-व्याकुल बनाये रहता है और ऐसी स्थिति में वह किस प्रकार आत्म-साधना कर सकता है? क्या ही अच्छा हो कि मैं भी मुनि-धर्म ग्रहण करके एकान्त वास करूँ और पूर्ण शान्तिपूर्वक साधना में लग जाऊँ।”

ऐसा ही उन्होंने किया भी। उत्तराध्ययन सूत्र के नवें अध्याय में कहा गया है—

से देवलोग सरिसे, अन्तेउरवरगओ धरे भोगे ।

भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्छयई ॥

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र, अ. ९, गाथा ३

अर्थात्—अपनी रानियों के साथ देवोपम भोगों को भोगते हुए भी नमिराज स्वयं प्रतिबुद्ध होकर उनका त्याग कर देते हैं।

तात्पर्य यही है कि नमिराज ने तत्त्व को समझ लिया था। अतः उन्हें विश्वास हो गया कि संसार के कामभोग असार हैं और कटु परिणाम के कारण हैं। आत्मा को तो यहाँ से एकाकी जाना ही है पर अगर संसार के भोगों में उलझे रहे तो पल्ले में पाप-कर्म जरूर बँध जायेंगे। इसलिए सच्ची एकत्व-भावना के प्रभाव से उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और अविलम्ब मुनि बनकर उन्होंने आत्मा को कर्मों से मुक्त करने का प्रयास जारी कर दिया।

मध्य प्राणी इसी प्रकार सुलभ-बोधि होते हैं, जो तनिक सा निमित्त पाते ही जाग उठते हैं। वे तुरन्त समझ जाते हैं कि—

सत्य सनातन सारमय, सुख कारण एकत्व ।

यही मुक्ति-पथ अकथ है, यही शुद्ध है तत्त्व ॥

कितनी सुन्दर चेतावनी है कि एकत्व भाव ही सत्य, सारपूर्ण, सुख का कारण एवं मुक्ति का मार्ग है। अतः जो आत्माभिलाषी व्यक्ति इसे ग्रहण कर लेते हैं, वे आस्रव-मार्ग का त्याग करके संवर के मार्ग पर बढ़ते हैं तथा कर्मों की निर्जरा करते हुए शिवपुर को प्राप्त करने में समर्थ बन जाते हैं।



अपना रूप अनोखा

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

सब संयोगज भाव दे रहे मुझको धोखा ।
हाय, न जाना मैंने अपना रूप अनोखा ॥

हम इन दिनों बारह भावनाओं को लेकर चल रहे हैं। उनमें से अनित्य, अशरण, संसार एवं एकत्व भावना पर विचार किया जा चुका है। आज पाँचवीं अन्यत्व भावना को लेना है जो कि संवरतत्त्व का पैतीसवाँ भेद है।

अन्य का अर्थ है दूसरा या पर। हम संसार के अनेक पदार्थों को तथा व्यक्तियों को, 'मेरे' कहते हैं किन्तु वास्तविक रूप से देखा जाय तो वे सब हमारे कदापि नहीं हैं, हमसे सर्वथा भिन्न हैं और भिन्न ही रहेंगे। हमारा अपना तो शरीर भी नहीं है, फिर जड़ पदार्थ या स्वजन-सम्बन्धी कब हमारे हो सकते हैं? कभी नहीं। इन सबसे अल्पकाल के लिए संयोग हुआ है और एक दिन पुनः वियोग होगा।

श्री शतावधानी जी महाराज ने अपने एक संस्कृत के श्लोक में लिखा है—

भार्या स्वसा च पितरौ स्वश्रु पुत्र पौत्राः,
एते न सन्ति तव कोपि न च त्वमपि एषाम् ।
संयोग एष खगवृक्षवदल्पकालम्,
एवं हि सर्वजगतोपि वियोगयोगः ॥

मुनिश्री ने कहा है—इस संसार में पत्नी, पुत्रवधु, माता-पिता एवं पुत्र-पौत्र आदि, जिन्हें तू 'मेरे' कहता है, वे सब अन्य हैं तेरे नहीं। न तो ये तेरे साथ आये हैं और न ही साथ जायेंगे। इस प्रकार न ये तेरे हैं और न ही तू इनका है। इनका और तेरा मिलाप अल्पकाल के लिए हो गया है जो कि कुछ काल पश्चात् ही वियोग में परिणत होने वाला है।

हम देखते हैं कि किसी वृक्ष पर खग अर्थात् पक्षी आकर बैठता है, कुछ ठहर भी जाता है, किन्तु उसके बाद उड़ ही जाता है। तो जिस प्रकार पक्षी और वृक्ष का अल्पकाल के लिए संयोग होता है, या पक्षी कुछ क्षणों के लिए वृक्ष का आश्रय लेकर पुनः अपने गंतव्य की ओर चला जाता है; इसी प्रकार स्वजनों का संयोग या मिलन होता है तथा कुछ समय के लिए व्यक्ति माता-पिता आदि का आश्रय लेता है, किन्तु समय आते ही पुनः आगे बढ़ जाता है।

ध्यान में रखने की बात है कि जीव जिस शरीर के आधार से इस संसार रूपी सराय में ठहरता है, वह शरीर भी यही छूट जाता है। स्पष्ट है कि शरीर भी जीवात्मा का अपना नहीं है। वह भी अन्य है और इसीलिए साथ नहीं रहता। संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं और शरीर एवं इन्द्रियाँ भी नाशवान हैं। केवल आत्मा नित्य या शाश्वत है, इसका विनाश नहीं होता। केवल पुण्य के प्रभाव से इसे कुछ काल के लिए प्रिय-संयोग मिल जाते हैं, पर वे ही पुण्य समाप्त होते ही विलग हो जाते हैं।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने भी इस विषय में कहा है—

जैसे मनोरम्य वृक्ष दलबल फूल युक्त,

नाना भांति पंखी आवे स्वारथ विचार के।

सिरी विन लाय तब कोई नहीं बैठे आय,

दिखत विरूप रूप देखी पतझार के ॥

तैसे तेरे पुण्य के प्रभाव आवे धन-धान्य,

जावे सब समय सुहाने परिवार के।

पुण्य दे उत्तर तब कोई नहीं देगा साथ,

भाई मृगापुत्र ऐसी भावना सुधार के ॥

बन्धुओ, कवि लोग किसी बात को समझाने के लिए नाना प्रकार की उप-माएँ देते हैं और सुन्दर शब्दावलि का प्रयोग करते हैं, जिससे मन को अच्छा लगता है तथा बात शीघ्र समझ में आ जाती है। पर अगर पद्य या कविताएँ बोध-प्रद भी हों तो वे मन पर असर करती हैं तथा आत्मा जाग उठती है। उप-देश, वैराग्य, समत्व एवं शान्त रस से परिपूर्ण कविताएँ व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाती हैं।

साहित्य में नौ रस बताये गये हैं। शृंगाररस, वीररस, रौद्ररस, बीभत्सरस, करुणरस एवं शांतरस आदि-आदि। किन्तु मेरा अनुभव है कि आठों रसों की शक्ति मिलकर भी शांति-रस का मुकाबला नहीं कर पाती। वैराग्यपूर्ण

शांतरस सम्पन्न कविताओं में या पदों में बड़ी मार्मिक शक्ति होती है। मराठी में आप देखेंगे कि समर्थ रामदास स्वामी, संत तुकाराम, जानदेव आदि जिन महापुरुषों ने त्याग के मार्ग को अपनाया, उनके वचनों में बड़ी ताकत थी क्योंकि शान्ति का अखण्ड साम्राज्य उनके अन्दर था।

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज का पद भी इसी प्रकार अत्यन्त सरल, शिक्षाप्रद तथा मर्मस्पर्शी है। पढ़कर हृदय हिल उठता है कि संसार की कैसी विचित्रता है और किस प्रकार जीव इसमें आकर्षित बना रहता है। किन्तु अन्त में परिणाम क्या होता है? यही कि समस्त पर-पदार्थों को छोड़कर वह अकेला चल देता है।

तो महाराज श्री कहते हैं कि जो वृक्ष फल, फूल एवं पत्तों से युक्त मनोरम होता है, उस पर नाना प्रकार के पक्षी अपने-अपने स्वार्थ को लेकर आते हैं। कोई उस पर लगे हुए फलों को खाना चाहता है, कोई उसकी डालों पर अपना घोंसला बनाना चाहता है और कोई उसकी शीतल छाया में आनन्दपूर्वक कुछ समय विश्राम लेना चाहता है। पर वे कब तक उस वृक्ष के समीप आयेंगे? तभी तक, जब तक कि पतझर आकर उसके फल-फूलों को तथा पत्तों को सुखाकर गिरा नहीं देता। खाने के लिए फल न मिलें, बैठने के लिए छाया न मिले और घोंसला बनाने के लिए डालियाँ न मिलें तो कौन वहाँ आएगा? कोई भी नहीं; न पशु-पक्षी और न ही कोई मनुष्य।

तात्पर्य यही है कि पतझर के प्रभाव से श्रीहीन हुए कुरूप वृक्ष को कोई भी पसंद नहीं करता और न ही उसके समीप फटकना ही चाहता है। कवि ने अन्योक्ति अलंकार के उदाहरण के द्वारा वृक्ष की दशा बताते हुए उसे जीवात्मा पर घटित किया है। कहा है—“हे आत्मन् ! जिस प्रकार फल-फूलों से लदे वृक्ष के पास अनेक प्राणी अपने-अपने स्वार्थ को लेकर आते हैं उसी प्रकार जब तक पुण्य-कर्मों के उदय से तेरे पास धन-वैभव है, तब तक सगे-सम्बन्धी भी तुझे घेरे रहते हैं तथा मेरा-मेरा कहते हैं। किन्तु अगर तेरे पुण्य-कर्म समाप्त हो जायँ और पाप-कर्मों के फलस्वरूप तू दीन-दरिद्र और नाना प्रकार से अभावग्रस्त हो जाय तो फिर तेरे सभी सम्बन्धी मुँह फेर लेंगे और मेरा पुत्र, मेरा भाई या मेरा पति, ये शब्द सुनने तुझे दुर्लभ हो जाएँगे।”

वस्तुतः सांसारिक नाते इसी प्रकार के होते हैं। जब तक व्यक्ति धन कमाता है तब तक माँ-बाप, भाई, पुत्र और पत्नी सभी उससे प्रेम रखते हैं तथा अपना कहते हैं, किन्तु संयोगवश अगर वह किसी कारण से कमाने में असमर्थ हो जाय तो कोई उसे देखकर प्रसन्न नहीं होता, उलटे अपमान एवं

क्रोधमरे वचन सुनाना प्रारम्भ कर देते हैं। बहुत दिन पहले मैंने एक छोटी-सी कहानी पढ़ी थी—

दरिद्र बाप

किसी गाँव में एक व्यक्ति रहता था। वह बड़ा दरिद्र था। किन्तु उसने स्वयं भूखा और अधनंगा रहकर बड़ी कठिनाई से अपने पुत्र को पढ़ाकर वकील बनाया। वकील बनाने के बाद पुत्र को समीप के बड़े शहर में वकालत करने भेज दिया।

पुत्र शहर में रहने लगा और उसकी वकालत भी चल पड़ी। अब धन का उसे अभाव नहीं रहा अतः वह आनन्द से समय बिताने लगा। बेचारा बाप अपने पुत्र के कुशल समाचार जानने के लिए गाँव वालों से लिखवाकर प्रायः पत्र डाला करता था। किन्तु वकील साहब ने अपने वृद्ध एवं दरिद्र बाप के एक भी पत्र का उत्तर नहीं दिया और न ही स्वयं उसकी खोज-खबर लेने एक बार भी गाँव गये।

बेचारे पिता की ममता ने ठोकर मारी अतः पुत्र के कोई समाचार न मिलने पर किसी से माँग-भूँगकर उसने थोड़े पैसे इकट्ठे किये तथा स्वयं ही पुत्र से मिलने चल दिया।

जब वह शहर पहुँचा और अपने पुत्र के घर गया, ठीक उसी समय पुत्र घर से बाहर कोर्ट में जाने के लिए निकला। पिता ने उसे देखते ही कहा—‘बेटा, कैसे हो तुम?’

‘ठीक हूँ।’ कहता हुआ पुत्र रवाना हो गया तथा एक बार भी दूर गाँव से आये बाप की कुशल-क्षेम नहीं पूछी। वृद्ध हक्का-बक्का रह गया पर सोचने लगा—‘जरूर ही मेरे बेटे को जल्दी जाना होगा, अन्यथा क्या मुझसे बात नहीं करता? पर कोई बात नहीं, वह कचहरी में ही तो गया होगा। मैं वहीं लोगों से रास्ता पूछता हुआ चला जाता हूँ। शहर में आया हूँ तो कचहरी भी देख लूँगा और मेरा बेटा कैसा वकील बन गया है यह भी जी भर कर देखूँगा। अभी तो मैं भर-आँख उसे एक बार देख भी नहीं पाया।’

ऐसा विचार करता हुआ वृद्ध पिता लोगों से रास्ता पूछता-पूछता कचहरी पहुँच गया। पर वहाँ अन्दर जाकर बैठने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ी और वह दरवाजे पर ही जहाँ जूते खोले जाते हैं धीरे से बैठ गया तथा तृषित नेत्रों से अपने वकील बन गये बेटे को एकटक देखने लगा।

पुत्र ने जब उसे देखा तो मन ही मन बड़ा क्रोधित हुआ पर बोला कुछ नहीं। कचहरी में उस समय भीड़-भाड़ नहीं थी और जज साहब सामने ही

बैठे थे। उनकी दृष्टि उस दीन-दरिद्र व्यक्ति पर पड़ गई जो जूते खोले जाने के स्थान पर बैठ गया था और वकील साहब की ओर बड़ी ममतापूर्ण दृष्टि से लगातार देखे जा रहा था। साथ ही उसका चेहरा भी वकील साहब से बहुत-कुछ मिलता था।

उस समय अन्य कोई कार्य न होने से कौतूहलवश जज ने वकील पुत्र से पूछ लिया—“वकील साहब ! वह वृद्ध कौन है ? उसका चेहरा आप से मिलता-जुलता है और आपकी ओर ही वह देखे भी जा रहा है। क्या आपका कोई सम्बन्धी है ?”

वकील का चेहरा फक हो गया। जल्दी से कोई उत्तर ही देते नहीं बना पर फिर अपने आपको सँभालकर कहा—

“जी, वह मेरे गाँव का आदमी है।”

वृद्ध पिता का ध्यान पूरी तरह से अपने पुत्र पर केन्द्रित था और कचहरी में मीड़-माड़ न होने से उसने अपने लड़के की यह बात सुनली। आखिर तो वह बुजुर्ग और अनुभवी था, अतः उसका स्वामिमान जाग उठा और बिना पुत्र से डरे वह उठकर बोल पड़ा—

“हुजूर ! मैं इसके गाँव का आदमी तो हूँ ही, साथ ही इसकी माता का आदमी भी हूँ।”

वकील साहब पर तो यह बात सुनकर मानो घड़ों पानी पड़ गया और वे स्तब्ध होकर खड़े रह गये। पर पैनी दृष्टि वाले जज ने बात अच्छी तरह समझ ली और बोले—

“वकील साहब ! मैं आपके निजी मामलों में बोलने का तो कोई हक नहीं रखता, किन्तु इतना जरूर कह सकता हूँ कि अगर ऐसे दरिद्र बाप ने मुझे अपना पेट काट-काटकर वकील बना दिया होता तो मैं जीवन भर अपने स्नेह-शील पिता के चरण को धो-धोकर पीता। उन्हें गाँव का आदमी कहना तो दूर की बात थी, सर-आँखों पर बिठाता और तब भी उनके ऋण से अपने को उक्लण नहीं समझता।”

बंधुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि संसार के सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं। अगर पिता धनी होता तो वही वकील उनके मार्ग में आँखें बिछाता, पर पुण्य के अभाव से वह गरीब था तो बेटे ने अदालत में उसे बाप कहने से भी इन्कार कर दिया। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थ सधने पर ही नाते बने रहते हैं अन्यथा वे सब टूट जाते हैं।

इसलिए प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को अन्यत्व भावना के रहस्य को समझना चाहिए तथा मोहरहित होकर विचार करना चाहिए कि इस संसार में मेरा कोई भी नहीं है। ये सब नाते जीते जी के हैं और मरने के पश्चात् पुनः नये बन जाएँगे।

पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अन्यत्व भावना पर लिखी हुई अपनी रचना में सांसारिक सम्बन्धों पर बड़ी विद्वत्तापूर्वक प्रकाश डाला है। कहा है—

पहले था मैं कौन, कहाँ से आज यहाँ आया हूँ ?
 किस-किसका सम्बन्ध अनोखा तजकर क्या लाया हूँ ?
 जननी-जनक अन्य हैं पाये इस जीवन की बेला।
 पुत्र अन्य हैं, पौत्र अन्य हैं, अन्य बन्धु, गुरु, चेला ॥
 चिरकालीन संगिनी पहले मैंने जिसे बनाया।
 कुछ ही क्षण में छोड़ उसे अब आज किसे अपनाया ?
 अन्य धाम धन धरा जीव ने इस जीवन में पाया।
 आगामी भव में पायेंगे, अन्य किसी की माया ॥

अन्यत्व भावना भाने के लिए कितना सुन्दर उद्बोधन है ? वास्तव में ही मनुष्य को विचार करना चाहिए कि—

“पूर्व जीवन में मैं कौन था ? कहाँ था ? और किन-किन प्राणियों के कौन-कौन से नातों को तोड़कर यहाँ आया हूँ। निश्चय ही मेरे पिछले जन्म में दूसरे माता-पिता व सम्बन्धी होंगे, पर इस जीवन में मुझे ये सब फिर दूसरे मिले हैं यहाँ तक कि पूर्व जन्म में मैंने जिसे चिरकाल-संगिनी पत्नी बनाकर चाहा होगा, उसे छोड़कर इस जीवन में पुनः दूसरी अपना चुका हूँ।”

“इसी प्रकार धन, मकान, जमीन आदि का हाल हो गया है। पिछले जन्म में मेरी सम्पत्ति कहीं और होगी, जिसे अब दूसरे ने पाया होगा और मैं भी किसी अन्य की सम्पत्ति पाकर गवित हो रहा हूँ। तारीफ यह है कि यहाँ से भी जब मरूँगा तो मरने के बाद किसी और की माया पर मेरा कब्जा हो जायेगा। कितनी विचित्र बात है ? सदा जीव अकेला ही आता-जाता रहता है। आत्मा के अलावा उसका सब कुछ बदल जाता है। और तो और शरीर भी वह नहीं रहता।

कविता में आगे कहा गया है—

पूर्व भवों में जिस काया को बड़े यत्न से पाला।
 जिसकी शोभा बढ़ा रही थीं, मणियाँ मुक्ता माला ॥

वह कण-कण बन भूमण्डल में कहीं समाई भाई ।
इसी तरह यह मिटने वाली नूतन काया पाई ॥
शैशव अन्य, अन्य यौवन है, है वृद्धत्व निराला ।
सारा ही संसार सिनेमा के से दृश्यों वाला ॥
इन भंगुर भावों से न्यारा ज्योतिपुञ्ज चेतन है ।
मूर्ति रहित चैतन्य ज्ञानमय निश्चेतन यह तन है ॥

पद्यों में शरीर के अन्यत्व पर बड़ी सरल भाषा में बताया गया है कि जीव ने अपने पूर्व जन्म में जिस शरीर को वर्तमान में जैसे सावधानी से रखते हैं, उसी प्रकार रखा होगा और नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया होगा । किन्तु यहाँ आते समय उसे छोड़ा और उसकी राख होकर इसी भूमण्डल में बिखर गई होगी ।

पर यहाँ आते ही पुनः नई देह प्राप्त की है, नया ही शैशव और यौवन पाया है तथा वृद्धत्व भी आयेगा । किन्तु इसके पश्चात् ही पुनः यह देह नष्ट होकर कण-कण के रूप में कहीं समा जायेगी और फिर से कोई दूसरा शरीर प्राप्त होगा । इस स्थिति को देखकर लगता है कि यह संसार वास्तव में नाटक या सिनेमा के समान है, जिसमें पात्रों को सदा नया रूप दे-देकर रंगमंच पर लाया जाता है । कभी वे राजा बनते हैं, कभी रंक, कभी वीर योद्धा के रूप में सामने आते हैं और कभी कायर या डरपीक बनकर पीठ दिखाते हैं । कभी उनके शरीर पर कीमती वस्त्राभूषण होते हैं और कभी तन पर भगवा वस्त्र और गले में रुद्राक्ष की माला । ठीक इसी प्रकार संसार-रूपी रंगमंच पर भी जीव नाना प्रकार के चोले पहनकर आता है । वह कभी रोता है, कभी हँसता है तथा कभी पूजा-भक्ति करके भगवान को रिझाता है ।

पर बन्धुओ, यह भली-भाँति समझ लो कि जो भी नवीन देह या चोला वह धारण करता है, निश्चय ही जड़ होता है और किसी भी समय नष्ट हो जाता है । पर जो नष्ट नहीं होता वह केवल निराकार, ज्ञानमय एवं चैतन्य आत्मा ही है जोकि अद्भुत ज्योति का पुंज है ।

इसी बात को आगे और भी स्पष्ट रूप से समझाया गया है—

हो जल से उत्पन्न जलज ज्यों जल से ही न्यारा है ।
त्यों शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है ॥
तो दुनिया की अन्य वस्तुएँ कैसे होंगी ?
समझ निराले आत्मरूप को मत कह मेरी-मेरी ॥

नया-नया पल सकल विश्व में नव्य रूप लाता है ।
 सकल सुखों का पात्र दूसरे पल में बिललाता है ॥
 है जो जिसकी असल सम्पदा, वह क्या न्यायी होती ?
 क्या सूरज की जोत कभी भी अलग सूर्य से होती ?

अर्थात्—जिस प्रकार जल में उत्पन्न होने पर भी कमल जल से अलग रहता है, इसी प्रकार शरीर में रहते हुए भी जीव शरीर से सर्वथा भिन्न होता है । तो जब शरीर भी आत्मा से अलग होता है, सदा उसका साथ नहीं देता तो फिर संसार के अन्य पदार्थ और सम्बन्धी कैसे उसके हो सकते हैं ? केवल अज्ञान के कारण वह इन सबको मेरा-मेरा कहता है ।

परिवर्तनशील संसार

मनुष्य को विचार करना चाहिए कि इस संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है । प्रत्येक पल, वह परिवर्तित होती रहती है । अगर ऐसा न होता तो आज जो नई वस्तु हम खरीदते हैं वह कुछ समय बाद पुरानी कैसे हो जाती है ? भले ही वह परिवर्तन इतनी सूक्ष्मता से हो कि हम उसे जान न पाएँ, किन्तु होता अवश्यमेव है और इसे कोई गलत साबित नहीं कर सकता । हम और आप सभी लोग देखते ही हैं कि बालक जन्म लेता है और फिर बड़ा होता जाता है । किस प्रकार वह प्रतिपल बढ़ता है इसे हम देख नहीं पाते, समझ नहीं पाते किन्तु हर क्षण वह बढ़ता अवश्य है । तभी तो युवा, प्रौढ़ और वृद्ध होकर वह जर्जरित देह वाला बनता है । क्या ऐसा किसी एक ही दिन या एक ही समय में होता है कि वह बालक से युवा हो गया हो ? नहीं, वह अपने शरीर में प्रतिपल परिवर्तित होकर बढ़ता चला जाता है । हम तो केवल मोटा परिवर्तन ही देख पाते हैं, जैसे अपार धन का स्वामी कल रंक हो गया या रंक राजा बन गया । शरीर के लिए भी यही जान पाते हैं कि किसी प्राणी ने जन्म लिया और कोई प्राणी मर गया, यानी शरीर पाया या उसका नाश हो गया ।

कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मा शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, किन्तु उसके अलावा शरीर या सम्पदा, सभी परिवर्तित होते रहते हैं । इससे स्पष्ट है कि परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनों एक नहीं हो सकते । अगर सांसारिक पदार्थ या शरीर जीव के होते तो वे परिवर्तित होकर नष्ट क्यों होते ? असली सम्पत्ति कभी अलग नहीं होती, जिस प्रकार सूरज की ज्योति । सूर्य की ज्योति के लिए कोई लाख प्रयत्न क्यों न करे, वह उससे अलग नहीं की जा सकती । इसी प्रकार अगर शरीर और अन्य वस्तुएँ जीव से किसी भी प्रकार भी अलग नहीं होतीं, तो वे उसकी कहलातीं । पर ऐसा नहीं होता । घाटा लगते ही धन

अलग हो जाता है, स्वार्थ न सधते ही सम्बन्धी कितारा कर जाते हैं और मृत्यु का आगमन होते ही देह नष्ट हो जाती है। तब फिर ये सब जीव के कैसे हो सकते हैं? जीव या आत्मा के अपने तो केवल अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन या उसके अन्य विशुद्ध गुण ही हैं जो कभी उससे अलग नहीं होते। एक छोटा-सा उदाहरण है—

कोई संत यत्र-तत्र विचरण करते हुए किसी ऐसे प्रदेश में पहुँच गये, जहाँ के व्यक्ति बड़े क्रूर और निर्देयी थे। पशुओं को मारकर खाना तो उनके लिए साधारण बात थी, वे मनुष्यों को मारने में भी वे नहीं हिचकिचाते थे।

संत ने जब यह सब देखा तो उनके हृदय में बड़ी पीड़ा हुई और वे लोगों को अहिंसा धर्म है तथा हिंसा घोर पाप है, इसे नाना प्रकार से अपने उपदेशों के द्वारा समझाने का प्रयत्न करने लगे। फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों के दिलों पर उनके उपदेशों का मार्मिक प्रभाव पड़ा और उन्होंने हत्या करना त्याग दिया।

पर आप जानते ही हैं कि सभी व्यक्ति एक जैसे नहीं होते। कुछ सुलभ बोधि होते हैं, जो थोड़े से बोध से ही अपने आपको बदल देते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो लाख प्रयत्न करने पर भी धर्म के मर्म को अपने पास भी नहीं फटकने देते।

ऐसे ही व्यक्ति उस प्रदेश में भी थे। जब उन्होंने देखा कि हमारी जाति के अनेक व्यक्ति संत की बातों में आकर अपने जन्म-जात व्यवसाय 'हिंसा' को छोड़ रहे हैं तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और मौका पाकर उन्होंने संत को बहुत पीटा तथा उनके वस्त्र, पात्र आदि सब छीन लिये।

संत लहू-लुहान होने पर भी पूर्ण शांति एवं समभावपूर्वक ध्यान में बैठे रहे। जब उनके कुछ अनुयायी उधर आये और संत की ऐसी दशा देखी तो चकित और अत्यन्त दुःखी होकर बोले—“मगवन् ! दुष्टों ने आपकी ऐसी दुर्दशा की और सब कुछ छीन लिया, तब भी आपने आवाज लगाकर हमें क्यों नहीं पुकारा? आपकी आवाज सुनकर हममें से कोई न कोई तो आ ही जाता और उनको अपने कृत्य का मजा चखा देता।”

संत लोगों की यह बात सुनकर अपनी स्वाभाविक शांति मुद्रा और मुस्कुराहट के साथ बोले—“भाइयो ! क्या कहते हो तुम? मेरी दुर्दशा करने वाला और मुझसे अपना सब कुछ छीनने की शक्ति रखने वाला इस संसार में है ही कौन?”

संत की यह बात सुनकर वे हितैषी व्यक्ति बहुत चकराये और आश्चर्य

से बोले—“हम स्वयं देख रहे हैं कि उन लोगों में आपके शरीर को लहू-लुहान कर दिया है और आपकी सब वस्तुएँ छीनकर ले गये हैं। आँखों-देखी भी क्या गलत हो सकती है भगवन् ?”

संत ने उत्तर दिया—“बन्धुओ ! तुम जो कुछ देख रहे हो यह असत्य नहीं है। पर यह शरीर तो ‘मैं’ नहीं हूँ। ‘मैं’ जो कुछ हूँ वह अपनी आत्मा से हूँ। मला बताओ ! मेरी आत्मा को कहाँ चोट लगी है ? उसका तो कुछ भी नहीं बिगड़ा, वह जैसी की तैसी है। रही बात वस्त्र-पात्र छीन ले जाने की। उसके लिए भी तुम किसलिए दुःख करते हो ? वे वस्तुएँ मेरा धन नहीं थीं। मेरा धन मेरी आत्मा के गुण है और वे सब सही सलामत हैं। एक भी उनमें से छीना नहीं गया। कोई उन्हें छीन भी कैसे सकता है ?”

संत की बात सुनकर लोगों की आँखें खुल गई और वे सोचने लगे—
“महाराज का उपदेश अभी तक हमने अधूरा सुना था, आज ही सच्चा उपदेश सुन सके हैं।”

बन्धुओ, यही यथार्थ और अन्यत्व भावना का सच्चा उदाहरण है। प्रत्येक मुमुक्षु को सतत यह विचार करना चाहिए—

मानव, दानव, देव, नारकी, कीट पतंग नहीं हूँ।
चाकर, ठाकुर, स्वामी-सेवक राजा प्रजा नहीं हूँ ॥
लोकालोक-विलोकी हूँ मैं चिदानन्दमय चेतन।
हूँ यह सब पर्याय द्रव्यमय ‘मैं’ हूँ शुद्ध सनातन ॥
मैं हूँ सबसे भिन्न अन्य, अस्पृष्ट निराला।
आत्मीय-सुख-सागर में नित रमने वाला ॥
सब संयोगज भाव दे रहे मुझ को धोखा।
हाय न जाना मैंने अपना रूप अनोखा ॥

कवि श्री ‘भारिल्ल’ जी ने प्रेरणा दी है कि प्रत्येक मानव को इसी प्रकार अन्यत्व भावना माना चाहिए—

“मैं न मनुष्य हूँ और न ही देव, नारकी, कीड़ा, पतिंग या अन्य कोई प्राणी। न मैं किसी का नौकर हूँ और न ही मेरा कोई स्वामी, ठाकुर या राजा ही है। ये सब मैंने पर्याय प्राप्त की थीं जो नष्ट होती गई हैं मैं तो लोकालोक को जानने की शक्ति रखने वाला, शाश्वत आनन्दमय चेतन हूँ अतः इन सबसे भिन्न और निराला ही हूँ। मेरी आत्मा तो मदा सुख के सागर में रमण करने वाली, सर्वथा शुद्ध और सनातन है।

“पर आज तक ये सब झूठे संयोग और नाते मुझे धोखा देते रहे हैं और मैं इन्हें अपना समझकर भ्रम में रहा हूँ। कितने दुःख की बात है कि अब तक मैंने अपने अनन्त शक्तिमय एवं अनन्त शान्तिमय अनोखे रूप को नहीं समझा।”

वस्तुतः इस संसार में मनुष्य मोह-ममता के झूठे बन्धनों में जकड़ा रहकर आत्मा के भाव को भूल जाता है। वह अपने शरीर से दिन-रात श्रम भी करता है पर वह उसे मात्र शारीरिक सुख पहुँचाते हैं, जिन्हें पाना न पाना कोई महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि शरीर को कितना भी सुख क्यों न पहुँचाया जाये, एक दिन तो वह नष्ट हो ही जाता है अतः उसे सुख पहुँचाने का भले ही जीवन भर प्रयत्न किया जाय, सर्वथा निरर्थक जाता है। पर शरीर को सुख पहुँचाने का वह जितना प्रयत्न करता है, उसका चौथाई भी अगर आत्मा को सुख पहुँचाने का करे तो कुछ न कुछ सच्चा लाभ हासिल कर सकता है।

शरीर को सुखी करने का प्रयत्न ठीक वैसा ही है जैसे फल, फूल तथा डालियों पर पानी उड़ोला जाय उससे वृक्ष उन्नति नहीं करता, उलटे सूख जाता है। इसी प्रकार शरीर को सुख पहुँचाते रहने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता, उलटे वह कर्म-बन्धनों से जकड़ी जाकर कष्ट पाती है। तो, जैसे वृक्ष को हरा-भरा बनाने के लिए मूल को सींचना आवश्यक है, वैसे ही सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए धर्माराधन द्वारा आत्मा को विशुद्ध बनाना भी अनिवार्य है। पर धर्माराधन तभी हो सकेगा, जबकि पहले भावनाएँ शुद्ध होंगी तथा मुमुक्षु बीतराग के बचनों पर विश्वास करता हुआ संतों के द्वारा उन्हें सुनेगा तथा सुनकर जीवन में उतारेगा।

सत्संगति का महत्त्व

जिस व्यक्ति के हृदय में आत्म-कल्याण की इच्छा तीव्रतर हो जाती है, वह साधु-समागम से ही साधना के मार्ग की जानकारी करता है। जिस प्रकार बालक को ब्या करना चाहिए और क्या नहीं? यह पहले उसके माता-पिता और उसके बाद शिक्षक समझाते हैं; इसी प्रकार धर्म साधना की क्रियाएँ भी सन्त-महात्मा अज्ञानी पुरुष को बताते हैं। अज्ञानी पुरुष भी बालक के समान ही होता है।

कहा भी है—

‘ण केवलं बयबालो कञ्जं अयाणओ बालो चेव ।’

—आचारारंग चूर्ण १-२-३

अर्थात्—केवल अवस्था से ही कोई ‘बाल’ यानी बालक नहीं होता, किन्तु जिसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है वह भी बाल ही है।

तो अज्ञानी व्यक्ति जो कि बालक के समान ही होता है, उसे सच्चा ज्ञान पाने के लिए तथा आत्मोन्नति के सही मार्ग को जानने के लिए सत्संगति करना आवश्यक है। अगर वह साधु-पुरुषों का समागम नहीं करेगा और उनसे धर्म का मर्म नहीं समझेगा तो केवल इच्छा मात्र से संवर या साधना के पथ पर कैसे बढ़ सकेगा ?

शास्त्र भी कहते हैं—

एगागिस्स हि चित्ताइं विचित्ताइं खणे खणे ।
उपज्जंति विद्यंते य वसेवं सज्जणे जणे ॥

—बृहत्कल्प भाष्य ५.७१.६

अर्थात्—एकाकी रहने वाले साधक के मन में प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एवं विलीन होते रहते हैं। अतः मज्जनों की संगति में रहना ही श्रेष्ठ है।

वस्तुतः शास्त्र-वचन सत्य हैं। जो व्यक्ति इन पर अमल करते हैं यानी सन्त-समागम करते हैं वे कुछ न कुछ लाभ उठाते ही हैं। सज्जनों की संगति कभी निरर्थक नहीं जाती।

अत्यल्प संगति का असर

कहते हैं कि एक बार भारत के स्वर्गीय राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी कहीं जाने के लिए ट्रेन में बैठे थे। उनके समीप ही एक व्यक्ति बैठा हुआ बीड़ी पी रहा था और समीप बैठे व्यक्तियों की परवाह किये बिना धुँआँ छोड़ता जा रहा था।

राजेन्द्र बाबू ने उसे तनिक शिक्षा देने के अभिप्राय से पूछ लिया—“क्यों भाई ! यह बीड़ी जो तुम पी रहे हो, तुम्हारी ही है ?”

यह सुनकर वह व्यक्ति तनिक क्रोध से बोला—“वाह, मेरी नहीं तो क्या किसी और की है ?”

इस पर राजेन्द्र बाबू बोले—“तो भाई ! फिर इससे निकला हुआ धुँआँ भी तो तुम स्वयं रखो। इसे किसी और को क्यों देते हो ?”

यह सुनकर व्यक्ति अपनी असभ्यता के लिए बड़ा लज्जित हुआ और बीड़ी बुझाकर लिडुकी से बाहर फेंक दी। साथ ही उसने मन ही मन निश्चय किया कि अब वह कभी इस प्रकार बीड़ी नहीं पीयेगा।

देखिये ! राजेन्द्र बाबू की अल्प-संगति से भी बीड़ी पीने वाले व्यक्ति पर कैसा असर हुआ ? तो जो व्यक्ति अधिक से अधिक सन्त-पुरुषों की संगति में रहेंगे, उन पर अच्छा प्रभाव क्यों नहीं पड़ेगा ? अवश्य ही पड़ेगा।

मराठी भाषा में भी एक बड़ा सुन्दर पद्य कहा गया है। वह इस प्रकार है—

तुम्हीं कीर्तनासी जा, गा ! तुम्हीं कीर्तनासी जागा ॥

तुम्हीं कीर्तनासी जागा । तुम्हीं कीर्तनासी जा, गा ॥

अनुप्रास अलंकार से युक्त इस सुन्दर पद्य में एक ही वाक्य चार जगह दिया हुआ है, किन्तु सब का आशय कुछ भिन्न-भिन्न है। इस पद्य के द्वारा बताया गया है कि व्यक्ति को कीर्तन में जाना चाहिए क्योंकि वहाँ सन्त-समागम होता है। अब मैं इन चारों एक-सी लाइनों के विविध अर्थों को आपके सामने रखता हूँ।

(१) पहली लाइन में व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा है—“भाइयो, जहाँ जहाँ कीर्तन होता है, वहाँ तुम्हें जाना चाहिए। इस लाइन में ‘जा’ क्रिया पद और गा सम्बोधन के रूप में है।”

(२) दूसरी लाइन में कहा है—“बन्धुओ ! तुम ही कीर्तन की जगह हो। इसका अर्थ बड़ा गूढ़ है। यह बताता है कि चौरासी लाख योनियों में केवल मनुष्य योनि ही सत्संग, धर्मध्यान, भाव-भक्ति या कीर्तन का स्थान है। अन्य किसी भी गति में यह नहीं हो सकता। यहाँ तक कि जिस देव-योनि को पाने के लिए लोग तरसते हैं, वहाँ भी धर्म-ध्यान, साधना या कीर्तन आदि नहीं किया जा सकता।”

(३) तीसरे चरण में कहा है—“लोगो ! कीर्तन में जाकर जागते रहो, निद्रा मत लो।” यहाँ जागते रहने से भी दो आशय हैं पहला तो यही कि नींद मत लो। हम प्रायः देखते हैं कि आप लोग जब अपनी दुकान या फैक्ट्री आदि में बैठते हैं अथवा बहीखाता करते हैं, तब तो जरूरत से ज्यादा सजग रहते हैं। क्योंकि अगर नींद आने लगी और हिसाब मिलाते समय एक भी अंक गलत या धर-उधर लिखा गया तो बड़ी गड़बड़ हो जाती है और आपको पुनः-पुनः श्रम करना पड़ता है। अतः आप पूरी जागरूकता से काम करते हैं।

किन्तु यहाँ प्रवचन में बैठे रहकर बार-बार झोंके लिया करते हैं। इसका कारण यही है कि धर्मोपदेश की आपको परवाह नहीं है। जो सुन लिया ठीक है और जो नहीं सुन पाया वह भी ठीक है। क्या फर्क पड़ता है दस-बीस बातें नहीं भी सुनीं तो ?

पर बन्धुओ, जिन व्यक्तियों को यह संसार कारागार महसूस होता है या वे अपनी आत्मा को शरीर रूपी पिंजरे में कैद मानते हैं, उन्हें बीतराग के वचनों से कभी तृप्ति ही नहीं होती, नींद लेना तो दूर की बात है। इसके अलावा

आप जानते हैं कि जिस समय आपने नींद के झोके लिये, उसी समय कोई दिल पर प्रभाव डालने वाली बात सुनने से रह गई तो कितनी हानि होगी ? नहीं, मैं तो समझता हूँ कि आप पूरा उपदेश ही न सुनें तो भी अपनी तनिक भी हानि नहीं समझेंगे । पर इतिहास में ऐसे-ऐसे उदाहरण भी हैं कि निकटभवि पुरुष, संतों के दो-चार वचनों को सुनकर ही संसार से विरक्त हो गये और आत्म-कल्याण में जुट गये । इसीलिए प्रवचन या सत्संग में जागृत रहना चाहिए ऐसा मराठी पद्य के तीसरे चरण में कहा है ।

जागृत रहने का दूसरा अर्थ है विवेकरूपी नेत्र खुले रखना । शास्त्रों में धर्म-जागरण करने का आदेश मुमुक्षु को बार-बार दिया जाता है । उदाहरण-स्वरूप किसी व्यक्ति को धर्मोपदेश सुनते समय नींद तो तनिक भी न आए, किन्तु अपने सांसारिक कार्यों या व्यापारादि के विचारों में मन उलझा रहे । ऐसी स्थिति में द्रव्य-निद्रा न लेने पर भी उसका मन स्थिर नहीं रहेगा और अनमना रहकर वह कुछ भी सुन-समझ नहीं पायेगा । अतः ऐसे समय मन को पूर्णतया केन्द्रित करके वीतराग के वचनों को सुना जाय, और अपने ज्ञान एवं विवेक के द्वारा उन्हें आत्मसात् किया जाय तभी सच्चा जागरण कहा जा सकता है ।

(४) अब आती है पद्य के चौथे चरण की बात । इस चरण के द्वारा कवि ने प्रेरणा दी है—“भाइयो ! अगर घर पर एकाकी रहने से निद्रा सताती है तो जहाँ भजन, कीर्तन हो रहा है, वहाँ जाओ और कुछ गाओ ताकि निद्रा से बचो और ईश्वर का स्मरण कर सको ।”

गाना भी भक्ति का एक साधन है । अनेकानेक भक्त ऐसे हुए हैं जो ज्ञान से कोरे थे और पूजा-पाठ आदि क्रियाएँ भी नहीं कर सकते थे । किन्तु प्रभु का स्मरण करने के लिए वे अपने मन के विचार भजनों में उँडेला करते थे । पर भजन-कीर्तन भी वे हृदय की ऐसी गहराई और तन्मयता से करते थे कि उसके द्वारा ही वे संसार-सागर से पार हो गये ।

तो बन्धुओ ! महत्त्व भावनाओं का अधिक है । जो भव्य प्राणी संसार की असारता और अन्यत्व को समझ लेते हैं, वे अपने जीवन को निरंतर शुद्ध बनाते चले जाते हैं । कहा भी है—

मुक्ति सौघ सोपान भावना अति सुखदाई,
है अन्यत्व विचार हृदय में समता लाई ।
पापी तिरे अनेक बन्धु ! चिन्तन से इनके,
पाप-ताप-संताप न मिटते हैं किस-किसके ?

उक्त पद्य में कहा गया है—“भाई ‘अन्यत्व भावना’ मुक्ति रूपी मंजिल की सीढ़ी है तथा शाश्वत सुख प्रदान करने वाली है। इसलिए हृदय में पूर्ण समभाव रखते हुए प्रतिपल इसे मानस में रखो।”

अनेक महापापी भी इस भावना के हृदय में सच्चाई से उतरते ही अपना आत्म-कल्याण कर गये हैं और यह यथार्थ भी है। सच्चे हृदय से इसे भाने पर कौन ऐसा व्यक्ति है, जो अपने समस्त पाप और संसार के संताप को दूर नहीं कर सके? यानी इसी भावना के कारण आज तक सभी भव्य प्राणी भव-सागर पार कर सके हैं, और जो करना चाहते हैं, वे भी इसे धारण करेंगे तभी संसार की वास्तविक स्थिति समझ कर इसे छोड़ सकने में समर्थ बनेंगे। अन्यत्व भावना ही मुक्तिरूपी मंजिल का प्रथम चरण या प्रथम सीढ़ी है अतः प्रत्येक मुमुक्षु को उसे अपने अन्तर्मानस में रमाना चाहिए।



हंस का जीवित कारागार

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवरतत्त्व के सत्तावन भेदों में से पैंतीस भेदों का संक्षिप्त में विवेचन हो चुका है। कल अन्यत्व भावना के विषय में हमने विचार किया था और आज 'अशुचि भावना' को लेना है। 'अशुचि-भावना' बारह भावनाओं में से छठी है तथा शरीर की यथार्थ स्थिति को बताती है।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने इस भावना को लेकर कहा है—

करत है स्नान और मन में गुमान आने,
 सोचे नारी गर्भ मांही औंधे मुँह लटक्यो।
 शरीर असार, रस्सी, रुद्र, मांस, हाड़ भीजे,
 चर्म शुकर नसाजाल बन्ध अटक्यो ॥
 अशुचि अपावन को थान एह देह गेह,
 करे शिणगार शठ जोवन के भटक्यो।
 बिनसत बार नहीं सनत्कुमार ऐसी,
 भावना से दीक्षा गही संसार से छटक्यो ॥

बन्धुओ, इस संसार में जीव चारों कषायों के वश में रहकर अनन्त काल से परिभ्रमण करता आ रहा है और जब तक कषाय सम्पूर्णतः नष्ट नहीं होंगे, इसी प्रकार चौरासी लाख योनियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर धारण करता हुआ भटकता भी रहेगा।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। वैसे तो सभी एक से एक बढ़कर हैं और आत्मा को अनेकानेक कर्म-पाशों से जकड़कर बाँधने में

समर्थ है; किन्तु मान यानी अहंकार या गर्व सभी से बढ़कर है। अहंकार के वश में रहकर मानव सारे संसार को तुच्छ समझने लगता है और अनेक पापों का बन्धन करके दुर्गति में जाता है। कहा भी है—

‘अन्नं जणं पस्सति बिबभूयं ।’

अर्थात्—अभिमानी व्यक्ति अपने अहंकार में चूर होकर दूसरों को बिम्बभूत यानी परछाई के समान तुच्छ मानता है।

किन्तु अहंकार का परिणाम कभी भी उसके लिए अच्छा नहीं होता और वह वर्तमान जीवन तो बिगड़ता ही है परलोक को इससे भी अनेकगुना दुखद बना देता है। रावण, कंस, दुर्योधन आदि अपनी शक्ति के गर्व में चूर हो गये थे, पर उसका फल क्या हुआ? अपने जीवन में तो कुल को भी ले डूबे, सदा के लिए कुख्यात हुए, और पापों के कारण कुगतियों में घोर दुःख पाने के लिए गये वह अलग।

यहाँ मैं आपको यह और बताना चाहता हूँ कि अहंकार केवल शक्ति का ही नहीं होता, और भी कई तरह का होता है। योगशास्त्र में कहा गया है—

जाति-लाभ-कुलेश्वर्य-बल-रूप-तपः श्रुतः ।

कुर्वन् प्रदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः ॥ — अ. ४-१३

अर्थात्—जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप एवं ज्ञान, इस प्रकार आठ प्रकार के मद यानी अहंकार में चूर होता हुआ जीव भवान्तर में हीनगति को प्राप्त करता है।

मुनि हरिकेशी चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे और उनके शरीर में रूप का भी अभाव था। किन्तु उनके हृदय में संसार को देखकर अनित्य, अशरण, एकत्व एवं अनित्यादि भावनाओं का उद्भव हुआ जिनके परिणामस्वरूप उन्होंने मुनि-धन ग्रहण कर लिया। पूर्ण हृदतापूर्वक वे मुनि-धर्म का पालन करने लगे एवं साधु-चर्या के अनुसार यत्र-तत्र विचरण करते रहे। मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों योगों पर उनका पूर्ण कब्जा था।

एक बार वे भ्रमण करते हुए कहीं ठहरे और भिक्षा की गवेषणा करते हुए ब्राह्मणों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ-मंडप में पहुँच गये।

उन्हें देखकर जाति एवं कुल के धमण्ड से चूर ब्राह्मण उनका उपहास करने लगे।

‘श्री उत्तराध्ययनसूत्र’ के बारहवें अध्याय में कहा भी है—

जाईमयपडिथडा, हिसगा अजिइन्दिया ।
अद्वभचारिणो बाला, इमं वयणमद्ववी ॥

अर्थात्—उच्च जाति के गर्व से भरे हुए, हिंसा करने वाले, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी एवं अनार्य ब्राह्मण हरिकेशी मुनि का उपहास करते हुए कहने लगे—

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे,
काए व आसा इहमागओ सि ।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया,
मच्छस्सलाहि किमिहं ठिओसि ॥

ब्राह्मण मुनि से बोले—“कौन है तू जो कि इस प्रकार अदर्शनीय है ? किस आशा से यहाँ पर आया है ? रे ! अति जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को धारण करने वाले पिशाच रूप, जा हमारी दृष्टि से भी दूर हो जा ! यहाँ पर क्यों खड़ा है ?”

ब्राह्मणों के ऐसे घोर तिरस्कारपूर्ण शब्दों को सुनकर महामुनि हरिकेशी तो मौन रहे किन्तु उनकी सेवा में छाया की भाँति रहने वाले यक्ष ने उन्हीं के शरीर में प्रवेश किया और उन्हें साधु कैसी शिक्षा लेते हैं यह बताया ।

पर ब्राह्मण यह सुनकर भी बोले—“हमारे यहाँ भोजन शास्त्रोक्त विधि से तैयार किया गया है अतः शूद्र को नहीं दिया जा सकता । क्योंकि शास्त्र शूद्र को दान, पाठ और हवि देने का निषेध करते हैं ।”

इस पर भी हरिकेशी मुनि के शरीर में स्थित यक्ष ने मुनि की जबानी कहा—“भाई पाँच समिति से युक्त, तीनों गुप्तियों से गुप्त और मुझ जितेन्द्रिय को भी अगर तुम निर्दोष आहार-दान नहीं दोगे तो तुम्हारे इस यज्ञ के अनुष्ठान से क्या लाभ प्राप्त होगा ?”

ब्राह्मणों को मुनि के ये वचन सुनकर और भी क्रोध आया और उन्होंने यज्ञशाला में स्थित कई शिक्षार्थी ब्राह्मण कुमारों को संकेत किया कि वे मार-पीट कर इस साधु को यहाँ से निकाल दे । उन ब्राह्मण कुमारों ने ऐसा ही किया । यद्यपि मुनि हरिकेशी तो इस उपसर्ग को पूर्ण समभाव से सहन कर लेते किन्तु यक्ष से मुनि को मारा-पीटा जाना सहन नहीं हुआ और उसने आकाश में भयंकर रूप धारण करके उन छात्रों की खूब मरम्मत की । अनेकों का शरीर क्षत-विक्षत कर दिया और अनेकों के मुख से रुधिर बहने लगा । सभी की दशा बड़ी दयनीय हो गई ।

तब फिर यज्ञ के अधिष्ठाता सोमदेव ब्राह्मण ने अपनी पत्नी भद्रा सहित मुनि से क्षमा याचना की और कहा—

“भगवन् ! इन मूढ़ कुमारों ने आपकी जो अवहेलना की तथा कष्ट पहुँचाया, उसके लिए इन्हें क्षमा करें। क्योंकि सन्त तो क्रोधरहित होते हैं।”

सोमदेव ब्राह्मण के यह वचन सुनकर मुनि ने प्रसन्नमुख एवं शान्तभाव से उत्तर दिया—“भाई ! मेरे मन में तो किसी के प्रति रंचमात्र भी क्रोध या द्वेष नहीं है। यज्ञ मण्डप में आने से पूर्व मेरा जैसा भाव था वैसा ही अब भी है। पर यह सब काण्ड मुझ पर भक्ति रखने वाले यक्ष ने किया है। आखिर वह तो साधु है नहीं जो आप लोगों का उपद्रव सहन कर लेता।”

मुनि के इन शान्त वचनों को सुनकर सभी ब्राह्मणों की आँखें खुलीं और वे बोले—

अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा,
तुम्हे न वि कुप्पह भूइपन्ना ।
तुम्भं तु पाए सरणं उवेमो,
समायया सव्वज्जणेण अम्हे ॥

—श्रीउत्तराध्ययन, अ० १२, धा० ३३

अर्थात्—ब्राह्मण कहने लगे—“हे भगवन् ! आप अर्थ और धर्म के ज्ञाता हैं, कभी क्रुद्ध न होने वाले हैं, क्योंकि आपकी बुद्धि सदा रक्षा करने वाली है अतः हम सब लोग आपके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं।”

बंधुओ, मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि अभिमानी का मस्तक अन्त में नीचा अवश्य होता है। उन ब्राह्मणों को अपनी जाति, कुल एवं ज्ञान का बड़ा अहंकार था, किन्तु अन्त में उन्हें निम्न कुलोत्पन्न हरिकेशी मुनि की शरण लेनी पड़ी और उनसे क्षमा याचना करनी पड़ी। जब तक वे गर्व से भरे रहे, तब तक शांति प्राप्त नहीं कर सके और अपने छात्रों की दुर्दशा का कारण बने।

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि शास्त्रों में बताये हुए आठों प्रकार के गर्व जहाँ रहते हैं, वहाँ अशुभ ही होता है, शुभ नहीं हो सकता। हमारे आज के विषय में भी यही बताया जाना है कि शरीर की यथार्थ स्थिति को समझकर उसके सौंदर्य का व्यक्ति को गर्व नहीं करना चाहिए। गर्व के आठ प्रकारों में ‘रूप’ भी एक है। सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपने शारीरिक सौन्दर्य का बड़ा भारी गर्व था, किन्तु एक ही रात्रि में उनके शरीर में सोलह महारोगों ने घर कर लिया और पान के थूक में असंख्य कीड़े कुलबुलाते हुए नजर आये।

इसलिए प्रत्येक मानव को शरीर की अशुचिता एवं अनित्यता पर विचार करते हुए इसे केवल धर्म-साधनों में सहायक मानना चाहिए, इससे अधिक कुछ नहीं। खेद की बात तो यह है कि लोग इस शरीर को अधिकाधिक सुख कैसे पहुँचाया जा सके, इसी में रात-दिन लगे रहते हैं। उनके समक्ष मनुष्य-जीवन का अन्य कोई उद्देश्य ही नहीं होता। परिणाम यह होता है कि जिस शरीर को सुखी बनाने के लिए वे रात-दिन जुटे रहते हैं तथा नाना पाप करते चले जाते हैं, वह तो एक दिन नष्ट हो जाता है और आत्मा के साथ पाप-कर्म चिपटे हुए चलते हैं जो दुर्गति का कारण बनते हैं।

अशुचि-भावना पर पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने जो कविता लिखी है उसमें शरीर की यथार्थ स्थिति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। कहा है—

हंस का जीवित कारागार, अशुचि का है अक्षय भंडार।

है बाहर का रूप मनोरम, सुन्दरता साकार,
बहिर्दृष्टि मोहित होते हैं, विनय विवेक विसार।

किस सामग्री से इस तन का हुआ बन्धु निर्माण,
कैसे-कैसे जाग उठे हैं, इस शरीर में प्राण।

सोचना है विवेक का सार, हंस का जीवित कारागार।

कहते हैं—यह शरीर अपवित्र वस्तुओं का ऐसा भंडार है, जो कभी समाप्त नहीं होता, साथ ही आत्मरूपी हंस को कैद करके रखने वाला जब-दस्त कारागार भी है।

किन्तु मूढ़ व्यक्ति विवेक के अभाव में ऊपरी रूप को देखकर इससे मोह रखते हैं तथा इसे वस्त्राभूषणों से सजाने और सुख पहुँचाने के लिए अहर्निश प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें विचार करना चाहिए कि कैसी-कैसी विनोनी वस्तुओं से इसका निर्माण हुआ है और किस प्रकार इसमें प्राणों की स्थापना हुई है ?

जीव इस शरीर को पाते समय नौ मास माता के उदर में रहकर घोर कष्ट पाता है और तब जन्म लेकर लम्बे समय तक बड़े असहाय रूप से समय व्यतीत करता है। न स्वयं अपनी उदर-पूर्ति कर पाता है और न ही अन्य कार्य करने की ही क्षमता रखता है। माता दूध पिला देती है तो पी लेता है, अन्यथा भूख से छटपटाता रहता है। न उस अवस्था में उसे किसी प्रकार का ज्ञान होता है न बल; और न ही विवेक जागृत हो पाता है। वर्षों के पश्चात् वह समझ हासिल करता है और तब अपना कार्य स्वयं करने की योग्यता प्राप्त

करता है। किन्तु ज्ञान प्राप्त करने पर और समझ आने पर भी वह यह नहीं सोचता कि—

रुधिर मांस चर्बी पुरीष की है थैली अलबेली,
चमड़े की चादर ढकने को सब शरीर पर फैली,
प्रवाहित होते हैं नव द्वार, हंस का जीवित कारागार ॥
निकल रहा है जिस भोजन से सौरभ का गुब्बार,
किसकी संगति से षटरसमय स्वाद पूर्ण आहार,
पलक में बन जाता नीहार, हंस का जीवित कारागार ॥

मनुष्य को सोचना चाहिए कि जिस शरीर को लेकर वह गर्ब करता है, वह है कैसा? रक्त, मांस, मज्जा एवं गंदगी से भरी हुई एक थैली ही तो है, जिस पर चमड़ा मढ़ा हुआ है और तब भी नौ द्वारों से मलिनता बाहर आती रहती है।

इतना ही नहीं, शरीर इतना घृणित है कि छहों रसों से परिपूर्ण, मधुर एवं स्वादिष्ट भोज्य-पदार्थ जो अत्यन्त सुगन्धित भी होते हैं, वे उदर में पहुँचते ही पलभर में आहार के अयोग्य एवं दुर्गन्धित बन जाते हैं।

बभन किया दूध क्यों नहीं पी सकते

आपको ध्यान होगा कि भगवान नेमिनाथ जब विवाह के लिए तोरण पर आकर भी बाड़े में कँद असंख्य पशुओं की आर्त-पुकार सुनकर लौट गये थे, तब राजुल ने भी संसार से विरक्त होकर संयम ग्रहण करने की ठान ली थी।

किन्तु नेमिनाथ के भाई रथनेमि के मन में विकार आया और वह राजी-मती के समीप जाकर बोला—“राजुल ! मेरे भाई चले गये तो क्या हुआ ? उनके स्थान पर तुम मुझे समझ लो ! मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह आवश्यक नहीं है कि मेरे भाई के चले जाने पर संयम अपनाकर तुम अपने इस अतुल सौन्दर्य को मिट्टी में मिला दो। मैं तुम्हारे रूप पर अत्यन्त मोहित हूँ और चाहता हूँ कि तुम भी मेरे साथ जीवन का आनन्द उठाओ। आखिर यह सुन्दर शरीर तुम्हें किसलिए मिला है ? मेरे साथ भोगोपभोग करके इसका सच्चा लाभ उठाओ, मेरी तुमसे यही प्रार्थना है।”

बंधुओ, यद्यपि राजुल रथनेमि के भाई की वाग्दत्ता एवं होने वाली पत्नी होने के नाते भाभी थी और भाभी मरता के समान पूजनीय होती है। किन्तु कामांध व्यक्ति को उचित-अनुचित का भान नहीं रहता। कहा भी है—

'अन्धावयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः' ॥

अर्थात्—विषयान्ध व्यक्ति अंधों में सबसे बड़ा अंधा है ।

तो रथनेमि भी विषय-लालसा के कारण अंधा हो गया था और इसीलिए उसने मातृवत राजुल से भोगों को भोगने में साथ देने की इच्छा प्रकट की ।

राजुल प्रथम तो रथनेमि के इस प्रस्ताव से चकित हो गई, किन्तु कुछ सोच-विचार कर उसने उत्तर दिया—

“आप कल मेरे लिए एक सर्वोत्तम पेय-पदार्थ लेकर आइयेगा, उसके बाद मैं आपको उत्तर दूंगी ।”

रथनेमि यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और विचार करने लगा—
“निश्चय ही राजुल मेरी बात मानेगी, अन्यथा मेरे द्वारा स्वादिष्ट पेय-पदार्थ क्यों मँगाती ?”

अगले दिन बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने रत्न जड़ित कटोरे में पिस्ता केसर, इलायची आदि मिला हुआ दूध लिया और उसे लेकर राजुल के समीप आया । राजुल ने हर्ष का प्रदर्शन करते हुए सुगंधित दूध के कटोरे को हाथ में लिया और कुछ समय पूर्व ली हुई वमन-कारक औषधि के प्रभाव से दूध पीकर तुरन्त ही उसी कटोरे में वमन कर दिया ।

तत्पश्चात् वह रथनेमि से बोली—“अब आप इसे पी लीजिए ।”

राजुल की यह बात सुनकर रथनेमि क्रोध से भर गया और बोला—“मेरा अपमान करती हो, तुम ? आखिर मैं एक राजकुमार हूँ । क्या वमन किया हुआ दूध पीऊँगा ?”

राजुल हँस दी और कहने लगी—“राजकुमार! आप अपने भाई की वमन की हुई अर्थात् छोड़ी हुई पत्नी को ग्रहण कर सकते हैं तो भला मेरा वमन किया हुआ दूध क्यों नहीं पी सकते ? आप तो मुझे बहुत प्यार करते हैं न ?”

रथनेमि स्तब्ध रह गया । उसे कोई उत्तर राजुल की बात का नहीं सूझा । इस पर राजुल ने उसे समझाते हुए कहा—

“भाई ! प्रथम तो मैं आपके भाई की पत्नी हूँ भले ही उन्होंने मेरे साथ अग्नि के फेरे नहीं लगाये । तब भी मैं अन्य किसी का वरण नहीं कर सकती । दूसरे आप से मेरा यही कहना है कि शरीर के सौन्दर्य को देखकर विकारग्रस्त हो जाना बुद्धिमानी नहीं है । इस शरीर में है क्या ? केवल अशुचि और अपवित्रता होती है । अमी आपने देखा कि दूध पीकर कुछ क्षणों में बाहर निकलते ही वह कैसा दुर्गन्धिपूर्ण एवं घृणित हो गया । वह क्यों ? इस सुन्दर शरीर

के सम्पर्क मात्र से ही तो। इस बात से स्पष्ट है कि आप जिस शरीर की उपरी मुन्दरता देखकर उसे पाना चाहते हैं, वह शरीर अन्दर से अत्यन्त वीभत्स एवं घिनीने पदार्थों से भरा है। इसलिए आप इसका मोह छोड़कर उत्तम मार्ग अपनाएँ, यही मैं चाहती हूँ।”

राजुल की बातों से रश्नेमि को शरीर के अशुचिपन का और इसकी मलिनता का यथार्थ-बोध हो गया और उसने भी विरक्त होकर साधु-धर्म अङ्गीकार कर लिया।

कविता में आगे कहा गया है—

विविध व्याधियों का मन्दिर तन, रोग शोक का मूल,
इहभव परभव में शाश्वत सुख के सदैव प्रतिकूल,
ज्ञानी करो राग परिहार, हंस का जीवित कारागार।
सागर का सारा जल लेकर धो डालो यह देह,
फिर भी बना रहेगा ज्यों का त्यों अशुद्धि का गेह,
न शुचि यह होगा किसी प्रकार, हंस का जीवित....॥

वस्तुतः यह शरीर अनेकानेक रोगों का घर है। कहते हैं कि शरीर में जितने रोम-कूप हैं, उतने ही रोग इसे घेरने के लिए सदा तैयार रहते हैं। यह शरीर ही जीव के शाश्वत सुख की प्राप्ति में बाधक भी है अतः ज्ञानपूर्वक विचार करते हुए इससे राग यानी मोह मत रखो।

बन्धुओ, जब तक शरीर रहता है, भले ही वह किसी भी योनि में क्यों न हो, तब तक आत्मा मुक्त नहीं हो सकती। वह शरीर रूपी पिंजरे में बद्ध रहती है। इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति यही प्रयत्न करते हैं कि उनकी आत्मा कार्यों से सर्वथा मुक्त हो जाय, ताकि कोई भी शरीर पुनः धारण न करना पड़े।

इसके अलावा इस शरीर का निर्माण ऐसे-ऐसे पदार्थों से हुआ है कि कितना भी मल-मल कर नहलाओ और भले ही सम्पूर्ण सागर के जल से इसे पुनः-पुनः धो डालो, तब भी रंचमात्र भी इसमें परिवर्तन नहीं आएगा, ज्यों का त्यों अशुद्ध ही बना रहेगा। इसलिए भी इससे मोह रखना निरर्थक और कर्म-बंधन का कारण है।

आगे कहा गया है—

गाय-भेंस पशुओं की चमड़ी, आती सौ-सौ काम,
हाथी दाँत तथा कस्तूरी बिकती महुँगे दाम,
नर तन किन्तु निपट निस्सार, हंस का जीवित....।
देख अपावन तन, मानवगण, पा विरक्ति का लेश,

भक्ति भाव से भजे निरन्तर पावन परम जिनेश,
मानव अहंकार बेकार, हंस का जीवित कारागार।

हम देखते हैं कि संसार में पशुओं का शरीर तो फिर भी उनके मरने के बाद कुछ न कुछ काम आता है। यथा—अनेक पशुओं को मार कर लोग उनका मांस खाते हैं, ऊपर से उतारी हुई चमड़ी के जूते, बैग, बिस्तर-बन्द के पट्टे और इसी प्रकार अगणित वस्तुएँ बनाई जाती हैं। हाथी-दाँत की चीजें बड़ी सुन्दर और महँगी होती हैं, इसी प्रकार हिरण की नाभि में होने वाली कस्तूरी बड़ी लाभदायक और कीमती मानी जाती है। पशुओं का मल-मूत्र भी अनेक रोगों को ठीक करता है। किन्तु मनुष्य का शरीर उसके मर जाने पर किसी भी काम नहीं आता, ज्यों का त्यों भस्म कर दिया है।

इन सब बातों का विचार करके मानव को चाहिए कि वह शरीर की अप-वित्रता और असारता को समझकर इससे भगवान की यथाशक्ति भक्ति करे तथा इसके द्वारा अधिकाधिक तप एवं साधना करके लाभ उठाये। अन्यथा एक दिन शरीर नष्ट हो जायेगा और पुनः इसकी प्राप्ति दुर्लभ होगी। भले ही देव, तिर्यच और नरक गति में उसे अनेक प्रकार के शरीर मिलेंगे, किन्तु उनका मिलना न मिलना समान होगा, क्योंकि आत्मा की भलाई के लिए तो वह कहीं भी कुछ न कर सकेगा। केवल जन्म का, मरण का तथा अन्य प्रकार के दुःखों का भोगना ही हाथ आयेगा।

इसीलिए कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—

घरी-घरी घटत छीजत जात छिन-छिन,
भीजत ही गलि जात माटी की सी ढेल है।
मुक्ति के द्वार आई सावधान क्यूँ न होवे ?
बेर-बेर चढ़त न तिया को सो तेल है ॥
करि ले ! सुकृत हरि भज ले अखण्ड नर,
याहि में अन्तर पड़े या में ब्रह्म भेल है।
मनुष्य जनम यह जीत भावे हार अब,
सुन्दर कहत या में जूआ को सो खेल है ॥

पद्य अत्यन्त मार्मिक एवं प्रेरणाप्रद है। महापुरुष इसी प्रकार मानव को चेतावनी देते रहते हैं, किन्तु अभागे व्यक्ति ऐसी कल्याणकर चेतावनियों के दिये जाने पर भी आत्म-बोध प्राप्त नहीं करते, यही खेद की बात है।

यहाँ कहा गया है—‘अरे मूढ़ मानव ! तेरी उन्नत तो क्षण-क्षण में और घड़ी-घड़ी में कम होती जा रही है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार मिट्टी का ढेला जल से भीगते ही गलता चला जाता है ; ऐसी स्थिति में मुक्ति के द्वार पर आकर भी तू सावधान क्यों नहीं होता ? स्त्री को जिस प्रकार बार-बार तेल नहीं चढ़ाया जाता उसी प्रकार यह जीवन भी पुनः-पुनः मिलने वाला नहीं है।’

बन्धुओ, प्राचीन कवि और महापुरुष आज के जैसी उच्च शिक्षा हासिल न करने पर भी आध्यात्मिक ज्ञान को मानस की तह में उतार देते थे। वे भली-भाँति महसूस करते थे कि मानव-जीवन ही मुक्ति का द्वार है। यानी चार गति और चौरासी लाख योनियों में से मात्र मनुष्य योनि ऐसी है, जिसमें आकर जीव आत्मा को कर्म-मुक्त करने का प्रयत्न कर सकता है और मोक्ष हासिल करने में समर्थ बन सकता है। इसीलिए कवि ने उद्बोधन दिया है—“अज्ञानी पुरुष ! इस बार तू चूक मत तथा भगवान की अखण्ड भक्ति करके जीवन का सच्चा लाभ उठा ले। इस जीवन में अगर तू पाप-कर्म करेगा तो ईश्वर से दूर होता चला जायगा और शुभ कार्य करके उससे मिल सकेगा। यह मनुष्य-भव ठीक जुए के खेल के समान है, अतः चाहे तो हारकर पुनः संसार-सागर में गोते लगाने चला जा और चाहे तो जीतकर ‘ब्रह्म’ की प्राप्ति कर ले।”

कहा भी गया है—

अशुचि भावना है विरक्ति का कारण सबल अनूप।

चित्तन का चितन कर चेतन ! बन जा ज्योति स्वरूप।

शीघ्र ही होगा बेड़ा पार, हंस का जीवित कारागार ॥

अर्थात्—शरीर की अपवित्रता और अनित्यता की भावना ही मनुष्य को इससे विरक्त बना सकती है। अतः हे चेतन ! पुनः-पुनः इसका चित्तन कर और आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर इसके अनन्त ज्योतिमान रूप को उजागर कर। परिणाम यह होगा कि इस शरीर रूपी कारागार से तुझे छुटकारा मिलेगा और बेड़ा पार हो जायेगा।

जो भव्य प्राणी इस भावना को अमल में लाएँगे, वे निश्चय ही इहलोक और परलोक में सुखी बनेंगे।



कर आस्रव को निर्मूल

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवरतत्त्व के सत्तावन भेदों में से छत्तीस भेदों पर हम विवेचन कर चुके हैं आज इसके सैंतीसवें भेद पर संक्षिप्त विचार करना है। वह भेद है 'आस्रव-भावना'। बारह भाषनाओं में से यह सातवीं भावना है और मानव के लिए इसका पाता आवश्यक है क्योंकि आस्रव का अर्थ है—पाप-कर्मों का आना और इन अशुभ कर्मों के निरन्तर आते रहने से जीव संसार-परिभ्रमण करता हुआ घोर दुःख पाता रहता है। अतः जो व्यक्ति इस भावना को ध्यान में रखते हुए आस्रव से बचेगा, वही आत्मा को कर्मों से मुक्त करने में समर्थ बन सकेगा।

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने आस्रव-भावना के स्वरूप को बताते हुए लिखा है—

आस्रव है महा दुखदायी भाई जगमांही,
 श्रोतेन्द्रिय वश मृग मरत अकाल है।
 नेत्र से पतंग भृंग घ्राण, जीभ मीन जाण,
 मतंग फरस मन महिम बेताल है ॥
 एक-एक इन्द्रि वश मरत अनेक जीव,
 पंचेन्द्रिय वश ताको कहो कौन हाल है ?
 ऐसे अभिप्राय से ही दीक्षा ली समुद्रपाल,
 कहत त्रिलोक भावे होय सो निहाल है ॥

पद्य में कहा गया है कि—इस संसार में जीव को भटकाने वाला और नाना कष्टों को प्रदान करने वाला आस्रव ही है। कर्मों का आगमन आस्रव

कहलाता है और ये उस स्थिति में निरन्तर आते चले आते हैं, जबकि प्राणी इन्द्रियों के वशीभूत रहता है। इन्द्रियाँ अपने विषयों से आकर्षित होकर उन्हें भोगने का प्रयत्न करती हैं और उसके फलस्वरूप जीवात्मा को कष्ट उठाने पड़ते हैं।

पद्य में कहा है कि एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर भी प्राणी अपने प्राण गँवा बैठते हैं तो फिर पाँचों इन्द्रियों के वश में रहने वाले मानवों का क्या हाल होगा ? यथा—

कान के कब्जे में रहने से हरिण अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। सुनने में आता है कि हरिणों को पकड़ने वाले शिकारी जंगल में जाकर वीणा आदि वाद्य बजाते हैं और उनके मधुर नाद से हरिण आकर्षित होकर सहज ही खिंचे चले आते हैं। जहरीले सर्प भी सपेरे के पूंगी बजाने पर वहाँ आ जाते हैं तथा पिटारी में बन्द होकर फिर अपने विष-दन्त ही उखड़वा बैठते हैं।

दूसरी चक्षु-इन्द्रिय होती है। पतंग को दीपक की लौ बड़ी प्रिय और सुहावनी लगती है अतः उसी पर अनवरत मँडराते रहकर अन्त में उसी से जल मरता है।

प्राणेन्द्रिय तीसरी इन्द्रिय है। इसका विषय है सुगन्ध। भँवरे की घ्राणेन्द्रिय बड़ी तेज होती है और इसलिए वह कमल के फूल पर जा बैठता है। किन्तु सुगन्ध से मस्त होकर वह भूल जाता है कि शाम हो रही है और सूर्यास्त के साथ ही कमल के पुट संकुचित होकर बन्द हो जाएँगे। ऐसा हो भी जाता है, यानी सूर्य के अस्त होते ही कमल संकुचित हो जाता है और भ्रमर उसमें रह जाता है। तब वह विचार करता है—

रात्रिर्गंभिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्थान् उवेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः ।
एवं विचिन्तयति कोषगते द्विरेके,
हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ॥

अर्थात्—घ्राणेन्द्रिय के वश में होकर कमल-पुष्प में बन्द हो जाने वाला भ्रमर विचार करता है—“रात्रि चली जाएगी और प्रभात होगा। उस समय भगवान् भास्कर के उदित होने पर ज्योंही कमल खिलेगा, मैं आनन्द से उड़ जाऊँगा।”

किन्तु अफसोस कि सूर्योदय से पहले ही हाथी आता है और तालाब में स्थित उस कमल को नाल सहित अपनी सूँड से उखाड़ लेता है। इस प्रकार न कमल खिल पाता है और न ही उसमें कैद भ्रमर बचता है।

संत-महात्मा मन को भी भ्रमर की उपमा देते हुए कहा करते हैं—अरे मन रूपी भँवरे ! तू माया के लोभ में पड़कर उसे बटोरता ही रहता है तथा आत्म-कल्याण के कार्य को वृद्धावस्था के लिए रख छोड़ता है । किन्तु याद रख जिस प्रकार सुगन्ध एवं पराग के मोह में पड़ा भ्रमर कमल में कँद हो जाता है और उसके बाहर निकलने से पहले ही हाथी कमल को उखाड़ देता है, इसी प्रकार तू धन इकट्ठा करने के चक्कर में रहकर आत्म-साधन नहीं कर पायेगा तथा कालरूपी हाथी आकर तेरी जीवन डोरी तोड़ डालेगा ।

यद्यपि भ्रमर में इतनी शक्ति होती है कि वह लकड़ी में छेद कर देता है पर कमल की कोमल पंखुड़ियों को नहीं बींध पाता । ऐसा क्यों ? इसलिए कि कमल की सुगन्ध में वह मस्त रहता है तथा उसके प्रति अपार आसक्ति रखता है । इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा में भी अनन्त शक्ति है, जिसके द्वारा वह चाहे तो एक समय मात्र में ही सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सकता है, किन्तु धन-वैभव एवं परिवार के प्रति मोह-ग्रस्त रहने के कारण वह न तो अपनी शक्ति का प्रयोग कर पाता है और न ही आत्म-कल्याण के लिए समय ही निकाल सकता है । परिणाम यह होता है कि मुक्ति के मनोरथ हृदय में लिए ही काल का ग्रास बनकर दुर्गति की ओर प्रयाण कर जाता है ।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि भ्रमर त्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर मरता है और मछली रसना-इन्द्रिय के वश में होकर । मच्छीमार व्यक्ति लोहे के काँटे में आटा लगाकर उसे रस्सी के सहारे जल में डाल देते हैं । जब मछली आटा खाने के लिए उसे निगल जाती है तो काँटा उसके गले में फँसकर रह जाता है । फल यह होता है कि डोरी के सहारे वह बाहर खींच ली जाती है और मृत्यु को प्राप्त होती है ।

अब पाँचवीं, स्पर्श-इन्द्रिय का नमूना देखिये । एक विशालकाय हाथी भी इस इन्द्रिय के द्वारा पराधीन होकर रह जाता है । कहते हैं कि हाथी को पकड़ने के लिए एक विशाल गड्ढा खोदा जाता है तथा हथिनी का आकार बनाकर उस गड्ढे में उतार देते हैं । जब मद में आया हुआ हाथी वहाँ आता है तो गड्ढे में हथिनी समझकर उसमें गिर पड़ता है और फिर निकल नहीं पाता ।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि हरिण, पतितगा, भ्रमर, मछली एवं हाथी जैसे प्राणियों को एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर भी अपने प्राण गँवाने पड़ते हैं तो फिर मानव तो पाँचों इन्द्रियों के आकर्षण में पड़ा रहकर नाना प्रकार के कर्मों का बन्धन यानी आस्रव में उलझा रहता है, तब फिर उसकी क्या दशा होगी ? कितनी बार उसे जन्म ले-लेंकर मरना पड़ेगा ? कोई हिसाब नहीं है । अतः सर्वोत्तम यही है कि आस्रव को निर्मूल करने में जुटा जाय ।

एक विद्वान कवि ने भी यही कहा है—

कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी !
 है आत्म-गुणों का शत्रु यही दुखदायी ।
 संसार वृक्ष का मूल विज्ञ कहते हैं,
 फल पा जिसके जग-जीव क्लेश सहते हैं ।
 आस्रव सरिता में चेतन गुण बहते हैं,
 कर्मों से घिरे सदैव जीव रहते हैं !
 इसके कारण सन्मार्ग न दे दिखलाई ।
 कर आस्रव को.... ।

पद्य में उद्बोधन दिया गया है—अरे मुक्ति के इच्छुक भाई ! अगर तू मुक्ति की आकांक्षा रखता है तो आस्रव को जड़ से नष्ट कर । आस्रव आत्मा के सम्पूर्ण सद्गुणों का धोर शत्रु और अनन्त काल तक उसे कष्ट पहुँचाने वाला है ।

संसार रूपी वृक्ष का मूल आस्रव यानी कर्मों का आगमन ही है, जिसके कारण फल रूपी नाना प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं । आस्रव को एक सरिता भी कहा जा सकता है, जिसमें अनन्त शक्ति रखने वाली परम ज्योतिर्मय आत्मा के उत्तम गुण बह जाते हैं और आत्मा कर्मों से घिरी रहती है । आस्रव के कारण व्यक्ति को संवर या निर्जरा का सद्मार्ग मुझाई नहीं देता ।

किन्तु जो भव्य प्राणी कर्मों की भयंकरता को समझ लेते हैं, वे न संसार की किसी वस्तु पर द्वेष रखते हैं और न राग; उनके हृदय में न धन-वैभव को पाकर हर्ष का सागर उमड़ता है और न उसके जाने पर रंचमात्र भी खेद का अनुभव होता है । राजा जनक ऐसे ही विरागी पुरुष थे । उनसे सम्बन्धित एक घटना है—

सत्संग

एक बार महर्षि व्यास घूमते-घामते जनक की मिथिला नगरी में पहुँच गये । उनके साथ उनके कई शिष्य भी थे । जनक को व्यासजी के मिथिला में आने पर अपार हर्ष हुआ और उन्होंने महर्षि से प्रार्थना की—“भगवन् ! जब तक आप यहाँ विराज रहे हैं, कृपया प्रतिदिन मुझे और नगर-निवासियों को सत्संग का लाभ प्रदान करें ।”

व्यास जी ने सहर्ष इस प्रार्थना को स्वीकार किया और प्रतिदिन उनके निवासस्थान पर सत्संग होने लगा । पर एक बात थी कि अगर राजा जनक

को आने में देर हो जाती तो व्यास जी भजन-कीर्तन आदि प्रारम्भ नहीं करते थे और जब वे आ जाते थे, तभी सत्संग किया जाता था ।

व्यासजी के शिष्यों ने पहले तो इस बात पर ध्यान नहीं दिया, पर जब कई बार ऐसा हुआ तो उन लोगों को अपने गुरुजी की इस बात पर झुंझलाहट आने लगी ।

एक दिन तो जनक के आने में देर होने पर और उनकी प्रतीक्षा में सत्संग प्रारम्भ न किया जाने पर एक शिष्य ने कह दिया—“भगवन् ! ऐसा लगता है कि सत्ता और सम्पत्ति का ही सब जगह सम्मान होता है । किन्तु आपको भी ऐसा करते देखकर हमें बड़ा आश्चर्य होता है ।”

इस पर महर्षि ने पूछा—“किस वजह से तुम ऐसा कह रहे हो ?”

शिष्य बोला—“आप तब तक कीर्तन प्रारम्भ नहीं करते हैं, जब तक राजा जनक यहाँ नहीं आ जाते । क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि आप भी ऐश्वर्य एवं सत्ता सम्पन्न होने के कारण ही राजा जनक को महत्त्व देते हैं ? ऐसा क्यों ? क्या आपके हृदय में उनसे कोई स्वार्थ है ? अगर नहीं है तो फिर उनकी प्रतीक्षा में सत्संग क्यों रुका रहता है ?”

व्यासजी ने कहा—“वत्स ! इस बात का उत्तर तुम्हें फिर किसी दिन दूँगा ।”

और कुछ दिन पश्चात् एक दिन, जबकि सत्संग चालू था और सब उसमें भाग ले रहे थे, तब महर्षि व्यास ने अपने योगबल से राजमहल में आग लगा दी । चारों तरफ हाहाकार मच गया और सत्संग में उपस्थित श्रोता भी व्यग्र हो उठे । सोचने लगे—“अभी आग महल में लगी है, पर थोड़ी ही देर में वह मिथिला नगरी को भी अपनी लपेट में ले सकती है !”

यह विचार आते ही लोग अपने-अपने घरों की ओर चल दिये । व्यासजी के शिष्य भी झटपट अपनी झोलियाँ कन्धों पर और कमंडल हाथ में लेकर वहाँ से रवाना होने के लिए तैयार हो गये तथा गुरुजी के समीप आकर उनके भी उठने की प्रतीक्षा करने लगे ।

पर उस समय सभी ने चकित होकर देखा कि राजा जनक पूर्ववत् आत्म-चिन्तन में लीन शांति से बैठे हुए हैं । घबराहट का कोई चिह्न उनके सौम्य एवं प्रफुल्ल मुख पर नहीं है । व्यासजी ने उनसे कहा—

“जनक ! तुम्हारे महलों में ही आग सबसे पहले लगी है, और तुम चुपचाप यहीं बैठे हो ?”

जनक ने उत्तर दिया—“गुरुदेव ! मैं तो अपने महल में ही आनन्द से बैठा हुआ हूँ। मिथिला नगरी के महल मेरे नहीं हैं।”

जनक की यह बात सुनते ही व्यासजी के शिष्य एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। उनकी समझ में कुछ नहीं आया। इस पर व्यासजी ने उन्हें बताया—

“देखो ! जनक के महलों में आग लग जाने पर भी इनके मन में अस्थिरता या व्यग्रता नहीं आई और ये पूर्ववत् सत्संग के आध्यात्मिक आनन्द में डूबे हुए बैठे हैं। किन्तु आग तो लगी है राजमहल में, और तुम लोग अपने दंड-कमंडल लेकर यहाँ से भाग चलने को उद्यत हो गये हो। इस घटना से भली-भाँति समझ लो कि जनक अपने ऐश्वर्य एवं पारिवारिक-जनों से कितने निस्पृह हैं। इनके हृदय में महल के जल जाने का भी खेद नहीं है पर तुम्हें अपने कमंडल के जलने की ही कितनी चिन्ता है ? स्पष्ट है कि इतने श्रोताओं में से केवल जनक ही सत्संग के सच्चे अभिलाषी हैं और इसी-लिए मैं इनकी प्रतीक्षा करता हूँ।”

सभी शिष्य अब समझ गये कि वास्तव में ही जनक प्रतीक्षा किये जाने योग्य हैं। उनके प्रति रही हुई अपनी गलत भावनाओं के लिए वे अत्यन्त लज्जित हुए और व्यासजी से क्षमा माँगने लगे। इसी बीच कृत्रिम आग ठंडी हो गई और जनक भी धीरे-धीरे उठकर अपने स्थान को चल दिये।

तो बंधुओ, जनक ने आस्रव के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया था इसीलिए उन्होंने मोह-ममता, राग एवं लोभादि को सर्वथा त्याग दिया था क्योंकि ये सब कर्मों के आगमन का कारण बनते हैं।

वैसे आस्रव के बीस कारण हैं, जिनके मानस में विद्यमान रहने से कर्म-बंधन होते रहते हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय आदि। इन सभी पर समयाभाव के कारण अभी विवेचन नहीं किया जा सकता। पर इनमें से मिथ्यात्व अर्थात् अश्रद्धान जो पहला ही आस्रव का मार्ग है, यह सबसे जबरदस्त है। मिथ्यात्व जहाँ होता है, वहाँ धर्म का अस्तित्व ही ठहरने नहीं पाता।

तमी कविता में कहा है—

मिथ्यात्व प्रथम आस्रव प्रभु ने बतलाया,
मिट्टी में इसने हाथ विवेक मिलाया।
कर सम्यक् ज्ञान विनाश हमें भरमाया,
विद्वानों पर भी अपना चक्र चलाया।

घर में रह इसने घर में आग लगाई !
कर आस्रव को'''' ।

मिथ्यात्व-पाश में फँसकर मनुज सयाना,
पशुओं से बदतर बना, बना दीवाना ।
जीवन-हित यह सिखलाता विष का खाना,
इसके सेवन से मिला नरक परवाना ।
सत् धर्म देव गुरु शरण गहो हे भाई ।
कर आस्रव को'''' ।

पद्य में कहा गया है—भगवान ने मिथ्यात्व को सर्वप्रथम आस्रव जो बताया है, वह यथार्थ है । यह ऐसा सेनापति है, जिसके पीछे सारी सेना चलती है । यानी जहाँ मिथ्यात्व हृदय में घर कर जाता है, वहाँ अविरति, प्रमाद एवं कषाय आदि अन्य सभी दुर्गुण स्वयं चले आते हैं जो कि कर्म-बन्धनों के कारण हैं ।

वस्तुतः मिथ्यात्व सम्यक्ज्ञान को नष्ट कर देता है तथा विवेक को मिट्टी में मिला देता है; और इन दोनों के अभाव में भला धर्म कैसे टिक सकता है ? जिस प्रकार हमारे दो नेत्र हैं और इनकी सहायता से हम शरीर-रूपी गाड़ी को निर्विघ्न आगे धकेलते हैं, इसी प्रकार ज्ञान एवं विवेक रूपी नेत्रों से धर्म की गाड़ी भी आगे की ओर बढ़ती है । साथ ही ध्यान में रखने की बात तो यह है कि शरीर पर रही हुई आँखें अगर अपना काम न करें तो उससे मनुष्य की उतनी हानि नहीं होती, जितनी हानि ज्ञान एवं विवेक रूपी नेत्रों के बन्द हो जाने पर होती है ।

पाश्चात्य कवि 'मिल्टन' संसार-प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार हो चुके हैं । वे प्रज्ञाचक्षु थे क्योंकि शरीर में स्थित आँखों से उन्हें दिग्दर्श नहीं देता था । इस पर भी वे बड़े भारी विद्वान एवं चमत्कारिक बुद्धि के धनी थे । उनके हृदय में अपार उत्साह एवं पूर्ण विश्वास था कि मैं आँखें न होने पर भी साहित्य के भंडार में कुछ न कुछ अवश्य डाल सकूंगा । वैसा ही हुआ भी । अपनी प्रज्ञा के नेत्रों से एवं अन्तर्मानस की चमत्कारिक प्रतिभा से उन्होंने संसार को चकित कर दिया ।

वह थी ज्ञान की एवं विवेक की शक्ति । शरीर में आँखें न होने पर भी ज्ञान-नेत्रों ने उनके द्वारा महान् काव्यों को संसार के सामने रख दिया और जीवन भर वे साहित्य सृजन करते रहे !

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक मनुष्य के ज्ञान और विवेक रूपी नेत्र खुले होने चाहिए । उन पर मिथ्यात्व का परदा अगर पड़ गया तो

बुद्धि संवर मार्ग की ओर न बढ़कर आस्रव के मार्ग पर बढ़ जाएगी। मिथ्यात्व ऐसा ही करता भी है। वह बड़े-बड़े विद्वानों एवं जानियों को अपने चक्कर में डालकर उलझा लेता है और वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हुए तथा पांडित्य का बोझ अपने मस्तक पर लादे हुए आस्रव के मार्ग पर बढ़ चलते हैं। क्योंकि उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है और वे अपनी शक्ति या बुद्धि को अहंकार में डुबोकर औरों की निंदा एवं कुतर्क में लगा देते हैं।

शास्त्र कहते भी हैं—

सयं सयं पसंसता, गरहंता परं वयं ।
जो उ त्तत्य विउसन्ति, संसारं ते विउस्सिया ।

—सूत्रकलांग १-१-२-२३

अर्थात्—जो अपने मत की प्रशंसा तथा दूसरों के मत की निंदा करने में ही अपना पांडित्य दिखाते हैं, वे एकान्तवादी संसार-चक्र में धूमते ही रहते हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्व जिस आत्मा में रहता है उसी को कर्मों से जकड़ देता है। इसके नाग-पाश में फँसकर बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी पशुओं से गया बीता आचरण करने लगता है। यह मानव को इस भ्रम में डाल देता है कि वह अपने जीवन का हित कर रहा है, किन्तु वास्तव में होता है अहित, और इस प्रकार ज्ञानामृत के बहाने यह उसे अज्ञानरूपी विष पिलाकर नरक में भेज देता है।

इसलिए कवि का कहना है कि—‘भाई ! सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म का अवलम्बन लो ताकि आत्मा पतन की ओर न बढ़कर उत्थान की ओर अग्रसर हो सके। आगे कहा है—

जो वीतराग सर्वज्ञ लोक हितकारी,
हैं जीवन-मुक्त अशेष आत्मगुणधारी ।
उनकी है कथनी सत्य, तथ्य प्रियकारी,
कर ऐसी श्रद्धा बनो मार्ग-अनुसारी ।
है धन्य भाग यह श्रद्धा जिसने पाई
कर आस्रव को.... ।

जिस ज्ञानी ने आस्रव स्वरूप पहचाना,
संसार वृक्ष का बीज जिन्होंने जाना ।
फिर रहा उन्हें क्या तत्त्व भला अनजाना,
पा लिया उन्होंने जीवन-रस मनमाना ।

अन्तरतर में आस्रव विचार कर भाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी !

कहा गया है—“बंधु ! मिथ्यात्व या अश्रद्धा का त्याग करके राग-द्वेष रहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सम्पूर्ण आत्मगुणों से युक्त एवं लोक-कल्याण की भावना रखने वाले प्रभु की यथार्थ, सत्य एवं हितकारी वाणी पर विश्वास रखते हुए धर्म-मार्ग का अनुसरण करो ।”

“वह मव्य प्राणी धन्य है, जिसने ऐसी अटल श्रद्धा प्राप्त कर ली है एवं अपने सम्यक्ज्ञान के द्वारा संसार-भ्रमण के बीज आस्रव के दुःखद स्वरूप को पहचान लिया है । और जिसने आस्रव को पहचान लिया है उसके लिए अन्य तस्व अज्ञात नहीं रहे । परिणाम यह हुआ है कि उसने मानव-जीवन का इच्छा-नुसार पूर्ण लाभ हासिल कर लिया है । अतः तुम भी अन्तर की गहराई से आस्रव को समझो तथा उसके सम्पूर्ण मार्गों को अवरुद्ध करके संवर के पथ पर प्रमाद रहित होकर बढ़ो । प्रमाद भी आस्रव का बड़ा जबर्दस्त कारण है और उसका अभिन्न सहचर है ।”

इसीलिए मुख्य रूप से कहा गया है—

ओ मुक्तिमार्ग के पथिक न गाफिल होना,
मंजिल तक पहुँचे बिना न पथ में सोना ।
चेतन गुण चोरेगी प्रमाद की सेना,
सोने का भारी मूल्य पड़ेगा देना ।
दस्यु प्रमाद ने गहरी ताक लगाई ।
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी ॥

कितनी मार्मिक एवं यथार्थ चेतावनी है ? कवि ने बड़े सशक्त एवं हितकर शब्दों में कहा है—“अरे, मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले पथिक ! तू बिना समय मात्र का भी प्रमाद किये अविराम गति से इस मुक्ति-पथ पर बढ़ते रहना और एक क्षण के लिए भी प्रमाद न करते हुए, तब तक अग्रसर होना, जब तक कि मन्जिल न मिल जाय ।”

आगे कहा है—“अगर तू पलभर के लिए भी गाफिल हो गया तो प्रमाद रूपी चोर अपने अन्य साथियों सहित तेरे समस्त आत्म-गुण चुरा लेगा और उस पलभर की निद्रा का तुझे अनन्त काल तक भव-भ्रमण के रूप में भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा । क्योंकि, जिस प्रकार जड़-द्रव्य के लिए चोर-डाकू ताक लगाये रहते हैं कि यात्री जरा-सा गाफिल हो या सो जाय तो धन छूट लें, ठीक इसी

प्रकार प्रमाद रूपी चोर भी सतत ताक लगाये रहता है कि साधक तनिक भी कहीं चूक जाय तो तुरन्त उसका आत्म-धन मैं छीन लूँ।”

इसलिए ही भगवान् आदेश देते हैं—

अंतरं च खलु इमं संपेहाए,
धीरो मुमुत्तमवि णो पमायए।

—आचारांग सूत्र १-२-१

अर्थात्—अनन्त जीवन-प्रवाह में मानव-जीवन को वीच का एक सुअवसर जानकर धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।

वस्तुतः जीव अनन्त-काल से चारों गतियों में नाना प्रकार के शरीर और जीवन प्राप्त करता आ रहा है अतः अनन्त-काल की तुलना में मनुष्य जीवन का अत्यल्प समय क्या मूल्य रखता है? कुछ भी नहीं, मात्र एक अवसर ही तो! फिर इस अवसर में भी अगर प्रमाद उसे घेर ले तो फिर मुक्ति-प्राप्ति की आकांक्षा क्या पुनः भव-सागर में विलीन नहीं हो जाएगी? अवश्य हो जाएगी; क्योंकि मानव-जीवन फिर से प्राप्त करना दुर्लभ होगा और इसके अभाव में कोई भी अन्य योनि काम नहीं आएगी।

किसी उर्दू भाषा के कवि ने भी कहा है—

गनीमत समझ जिन्दगी की बहार,
मिलता न जामा है यह वार-वार।

वस्तुतः यह मानव देह रूपी चोला बार-बार नहीं मिलता। मिल गया है, यही गनीमत है, अतः इसे पाकर मुमुक्षु को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि मानव-भव में ही विशिष्ट विवेक की प्राप्ति होती है, इसी में बुद्धि का प्रकर्ष होता है, इसी के निमित्त से सन्त जन उच्च गुणस्थानों की प्राप्ति करते हैं और इसी भव से मुक्ति हासिल होती है। फिर ऐसे महान लाभकारी जीवन को प्राप्त करके भी सर्वोत्तम साधना नहीं की या सर्वोच्च लक्ष्य की ओर नहीं बढ़े तो वह मूल पूँजी भी चली जाएगी जिसके बल पर यह सर्वोत्तम पर्याय मिली है।

मूल पूँजी को बढ़ाना है या खोना ?

बन्धुओ, आप लोगों में से अनेक बड़े कुशल व्यापारी हैं अतः अच्छी तरह जानते हैं कि मूल पूँजी को किस तरह बढ़ाया जाता है या किस प्रकार इससे अनेक गुना अधिक लाभ कमाया जाता है। ऐसी स्थिति में आप भली-भाँति समझ सकते हैं कि बड़े परिश्रम से प्राप्त की हुई पुण्य रूपी गाँठ की पूँजी से

मनुष्य जन्म तो पा लिया । किन्तु अगर इससे आत्म-साधना करके मुक्ति रूपी लाभ को हासिल न किया तो यह मूल पूँजी भी निरर्थक जायेगी या नहीं ? और गहराई से सोचने की बात तो यह है कि अगर इस पूँजी के द्वारा शुभ-कर्म रूपी फल प्राप्त नहीं किया तो पाप-कर्म रूपी फल मिलेगा क्योंकि आप दोनों में से एक तो करेगा ही, निश्चेष तो रह नहीं सकते । तो, शुभ कर्मों में वजाय अगर अशुभ कर्मों का संचय किया जायगा तो आप ही विचार कीजिए कि इसका क्या परिणाम होगा ? यही कि, पुण्य रूपी पूँजी डूब जाएगी और पाप-कर्म रूपी कर्ज सिर पर सवार हो जाएगा जिसे चुकाने में न जाने कितने भव व्यतीत करने पड़ेंगे ।

इसलिए भाइयो ! जब आप पूँजी और उससे प्राप्त होने वाले हानि-लाभ को समझते हैं, तब फिर अपनी पुण्य रूपी पूँजी को बढ़ाकर मुक्ति रूपी अनन्य लाभ हासिल करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते हैं ? आप लोगों को और किस प्रकार समझाया जाय ? भव्य पुरुष तो तनिक से इशारे या छोटे से निमित्त से ही समझ जाते हैं और बोध प्राप्त करके अपनी गाँठ की पूँजी को खोने के बजाय उसका सर्वोच्च लाभ प्राप्त कर लेते हैं ।

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने पद्य में ऐसे ही महापुरुष समुद्रपाल का उदाहरण दिया है ।

कर्मोदय का पता नहीं चलता

समुद्रपाल भगवान महावीर के 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' में पंडित, पालित नामक मुश्रावक के पुत्र थे । शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् उनका विवाह हुआ और वे गृहस्थ जीवन बिताने लगे ।

एक दिन वे अपने महल में बैठे हुए गवाक्ष से बाह्य दृश्य देख रहे थे कि उन्होंने एक चोर को सिपाहियों के साथ जाते हुए देखा । सिपाही चोर के हाथों में हथकड़ियाँ डाले हुए तो थे ही, साथ ही सरे बाजार उसे पीटते हुए ले जा रहे थे ।

यह दृश्य देखना था कि समुद्रपाल के हृदय में अनेक विचार आँधी के समान उमड़ने लगे । वे सोचने लगे—“क्या इस चोर ने सोचा होगा कि मेरा आज का दिन ऐसा होगा ? नहीं, अशुभ कर्मों के उदय का किसे पता चलता है कि वे कब उदय में आएँगे ? मैं भी कहाँ जानता हूँ कि आज मेरे शुभ कर्मों का उदय है पर कब कौन से कर्म उदय में आने वाले हैं ? इसलिए अच्छा यही है कि कम से कम अब नवीन कर्मों के बन्धन से तो बचूँ । इस चोर ने धन की लालसा के कारण ही इस जन्म में अपने हाथों में हथकड़ियाँ डलवाई हैं और आगे भी

न जाने कब तक पापों का भुगतान करेगा। इसी प्रकार मैं भी अभी तो पाँचों इन्द्रियों के वश में सांसारिक भोग, भोग रहा हूँ पर आश्रित इनके कारण जो आस्रव हो रहा है अर्थात् कर्म मेरी आत्मा पर चिपटते चले जा रहे हैं, वे किसी दिन अपना कर्ज वसूल करने उदय में तो आयेंगे ही अतः हृद साधना करके संवर की आराधना करूँ तथा बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करूँ तभी इस शरीर का लाभ मिल सकेगा।”

शास्त्र में कहा गया है—

तुट्टति पावकम्भाणि, नवं कम्ममकुव्वओ ।

—सूत्रकृतांग १-१५-६

अर्थात्—जो नए कर्मों का बन्धन नहीं करता है उसके पूर्वबद्ध पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

‘एक पंथ दो काज,’ इसी को कहते हैं। यानी जो साधक आस्रव के स्वरूप को समझकर पापों के आगमन को रोक देता है उसके पूर्व कर्म भी स्वयं क्षय हो चलते हैं। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है अतः प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को आस्रव भावना भाते हुए संवर को अपनाना चाहिए।



संवर आत्म स्वरूप है

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने 'आस्रव भावना' पर विचार किया था और आज 'संवर भावना' पर विवेचन करेंगे। 'संवर भावना' संवर के सत्तावन भेदों में से अड़तीसवाँ भेद और बारह भावनाओं में से आठवीं भावना है।

संवर भावना का स्वरूप है—इन्द्रियों पर और मन पर संयम रखते हुए कर्मों के आगमन को रोके रहना। पाँचों इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। इन्हीं की ओर इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है किन्तु इन विषयों की ओर जाने से इन्द्रियों को रोकना तथा उनमें आसक्त न होने देना ही संवर का स्वरूप है।

उदाहरणस्वरूप—आपके घरों में नल होता है। उसे जरा-सा एक ओर घुमाते ही पानी बहने लगता है और थोड़ा सा दूसरी ओर करते ही पानी निकलना बन्द हो जाता है। यही पाँचों इन्द्रियों के विषय में कहा जा सकता है कि उन पर थोड़ा सा नियन्त्रण हटाते ही पाप-कर्मों का आगमन या आस्रव होता है और थोड़ा सा काबू रखते ही वे रुक जाते हैं।

मन को तनिक मोड़ दो !

जो महापुरुष अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं, उनकी आत्म-शक्ति साधना को सफल बनाती है, पर जो ऐसा नहीं कर पाते वे अपनी शक्ति का अपव्यय या दुरुपयोग करके कुगतिगामी बनते हैं। यथा जो संथमी पुरुष अपनी भाषा पर काबू रखते हैं, उनके वचनों में संसार के अज्ञानी प्राणियों को भी सम्मार्ग पर लाने की ताकत होती है, किन्तु जो सदा बकवाद करते रहते हैं, वे अपनी शक्ति का अपव्यय तो करते ही हैं, साथ ही उनका प्रलाप कोई पसन्द भी नहीं करता। धन को आप तिजोरी में रखकर ताला लगा देते हैं तो वह

सुरक्षित रहता है, पर दिन भर खर्च करते रहने से कम होता चला जाता है। जीवात्मा की शक्ति भी इन्द्रियों को खुला रखने से निरर्थक चली जाती है और उसके जाने के मार्ग इन्द्रियाँ ही हैं।

पंजाब में भाखड़ा नांगल बाँध बनने से पहले सम्पूर्ण जल निरर्थक चला जाता था, किन्तु उसे बाँध के रूप में रोक देने से जल इकट्ठा हुआ और करोड़ों रूपयों का लाभ फसलों के रूप में प्राप्त होने लगा। ठीक यही हाल आत्म-शक्ति का है। जब तक इन्द्रियों पर काबू नहीं रखा जाता, तब तक वह शक्ति पाप-कर्मों के उपार्जन में निरर्थक चली जाती है और उस पर भी कर्म-फल दुःख के रूप में भोगने पड़ते हैं।

किन्तु अगर मन और इन्द्रियों पर संवर रूपी बाँध बनाया जाय तो आत्म-शक्ति रूपी जल शुभ-कर्मों के उपार्जन और मुक्ति-प्राप्ति के रूप में महानतम फल प्रदान करता है। ध्यान में रखने की बात है कि हमें आत्म-शक्ति को कुण्ठित या निष्क्रिय नहीं बनाना है, अपितु उसका सही उपयोग करना है। लोग कहते हैं—‘मन को मारना चाहिए तभी मुक्ति हासिल होगी।’ पर मैं ऐसा नहीं कहता। मन को मार दिया जायेगा तो वह न तो अशुभ की ओर प्रवृत्त होगा और न ही शुभ की ओर। आखिर मरा हुआ मन कुछ करेगा भी कैसे? इसलिए मन रूपी घोड़े को मारना नहीं है वरन् उसे मोड़कर संवर और निर्जरा के मार्ग पर चलाना है और यह तभी हो सकता है जबकि सांसारिक प्रपंचों से मन को उपराम किया जाय।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने भी फरमाया है—

आडम्बर तज, भज संवर को सार यार !

ममता निवार तज विषय विकार है।

राग, द्वेष, खार परिहार चार कषायों को,

बारे भेदे तप धार ऐही तंतसार है ॥

भावना विचार ठार पर प्राणी-आत्मा को,

छोड़ के सागार अणगार पद तार है।

ऐसे हरिकेशी भाई भावना भरमटार,

कहत तिलोक भावे सो ही लहे पार है ॥

कहा गया है—अरे मित्र ! इन सांसारिक आडम्बरों को छोड़ और संवर की आराधना कर। कोई प्रश्न करे कि यह किस प्रकार किया जाय ? तो इसी

पद्य में संक्षिप्त उत्तर है कि मोह-ममता, विषय-विकार, राग-द्वेष एवं चारों कषायों को त्याग कर तप के बारहों प्रकारों को अपनाओ ।

राग-द्वेष को समझने के लिए उदाहरण दिया जा सकता है—मान लीजिए, किसी अन्य व्यक्ति ने आपकी कोई प्रिय पुस्तक असावधानी से फाड़ डाली । यह देखकर क्रोध के मारे आपने उसे गालियाँ दीं । क्यों दीं आपने गालियाँ ? इस-लिए कि पुस्तक के प्रति आपका राग या ममत्व था अतः उसे फाड़ देने वाले पर आपकी कषाय उमड़ पड़ी ।

किन्तु अगर आप पुस्तक के प्रति ममता नहीं रखते तो उसके फट जाने पर आपको दुःख नहीं होता और दुःख न होने पर कषायभाव जाग्रत नहीं होता । आप यही विचार कर लेते कि संयोग था अतः पुस्तक फट गई, इसमें उस व्यक्ति का क्या दोष ? वह तो एक निमित्त मात्र है ।

वस्तुतः जो व्यक्ति मन में ऐसा भाव रखते हैं, वे पुस्तक फटने जैसी छोटी बात तो क्या बड़ी से बड़ी घटनाओं के घट जाने पर भी विचलित नहीं होते । यहाँ तक कि किसी प्रिय से प्रिय व्यक्ति के निधन पर भी शोकाकुल नहीं होते वरन् होनहार मानकर समभाव में विचरण करते हैं । इसी को राग का न रहना कहते हैं ।

पद्य में विषय-विकारों के त्याग पर भी जोर दिया है । शास्त्रों में बताया गया है कि पंचेन्द्रियों के विषय काम-विकार को बढ़ाने वाले हैं—

“उषकामर्यति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा ।”

अर्थात्—शब्द, रूप, रस, गंधादि विषय आत्मा को धर्म से उत्क्रमण करा देते हैं, दूर हटा देते हैं, अतः इन्हें काम कहा है ।

वास्तव में ही विकार मानव को अधर्मी और अनाचारी बना देते हैं । इसी-लिए बन्धुओ, आप जिस स्थिति में हैं उसमें भी अधिक से अधिक संयमित बनने का प्रयत्न करें ताकि कर्मों का आगमन कम से कम हो । हमारा धर्म तो बड़ा विशाल प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहणीय है । उदाहरणस्वरूप—साधुओं के लिए अगर महाव्रतों का विधान है तो गृहस्थों के लिए इसमें अणुव्रत बतये गये हैं । सांसारिक मनुष्य अगर इन आंशिक व्रतों का भी पालन करे तो वह देवता से बढ़कर है ।

गंगा भी सदाचारी की प्रतीक्षा करती है

पौराणिक साहित्य में एक लघु कथा है कि गंगा नदी एक नार स्त्री का साक्षात् रूप धारण करके किनारे पर बैठी हुई ऐसी दिखाई दे रही थी, जैसे

किसी की प्रतीक्षा कर रही है। वह बड़ी उत्कंठा से अपनी निगाहें मार्ग में बिछाये हुए थी।

उसी समय एक यात्री वहाँ आया। उसने अतुल स्वरूप वाली एवं तेजस्वी नारी को देखकर समझ लिया कि आज गंगा देवी स्वयं ही यहाँ विराजी हुई हैं। किन्तु गंगा की प्रतीक्षापूर्ण आँखों को देखकर वह यह नहीं समझा कि वह क्या चाहती है और किसकी प्रतीक्षा में है अतः उसने बड़ी श्रद्धा से उसे प्रणाम करते हुए विनयपूर्वक पूछ लिया—

“गंगा मैया ! लाखों व्यक्ति स्वयं ही आपके दर्शन करने के लिए लालायित रहते हैं तथा अपने पापों को धोने के लिए आपके जल में डुबकियाँ लगाया करते हैं। किन्तु आज आप स्वयं किस भाग्यवान की प्रतीक्षा में हैं ?”

गंगा ने उत्तर दिया—“भाई ! आने के लिए तो लाखों व्यक्ति हैं जो प्रति-दिन मेरे जल का स्पर्श करते हैं; किन्तु जो पर-धन, पर-स्त्री एवं पर-द्वेष से रहित सदाचारी व्यक्ति होते हैं, उनकी संगति से मैं स्वयं भी कृतार्थ हो जाती हूँ। पर खेद है कि ऐसे व्यक्ति क्वचित् ही यहाँ आते हैं। इसलिए मैं आज स्वयं बड़ी उत्कंठा से यहाँ बैठी हुई हूँ कि कोई ऐसा आचारनिष्ठ व्यक्ति आये जिसके आगमन से मैं धन्य हो सकूँ।”

श्लोक के द्वारा यही बताया गया है—

परदार, परद्रव्य, परद्रोह पराङ्गमुखः ।

गंगा ब्रूते कदागत्य, मामयं पावयिष्यति ॥

अर्थात्—गंगा कहती है—पर-स्त्री, पर-धन और पर-द्रोह से निवृत्त रहने वाला व्यक्ति मुझे कब पवित्र करेगा ?

बन्धुओ, कितना सुन्दर रूपक है ? इसके द्वारा यही बताया गया है कि केवल पर-स्त्री, पर-धन और पर-द्वेष से रहित मनुष्य भी उस गंगा से अधिक पवित्र होता है, जिसमें नहाकर लोग अपने पापों को बहाते हैं। गंगा ने यह नहीं कहा कि धन का और स्त्री का सर्वथा त्याग करने वाला ही महान होता है, केवल पर-धन और पर-स्त्री का त्यागी भी उसे पवित्र करने के लिए काफी है।

इस बात से आप समझ गये होंगे कि श्रावक, अगर अपने बारह व्रत भी धारण कर लें और उनका सम्यक् रूप से पालन करें तो धर्मपरायण एवं सदा-चारी कहलाते हैं। यह कोई बड़ा त्याग नहीं है और न तनिक भी कष्टकर है। आप धन रख सकते हैं, पत्नी रख सकते हैं और संसार के सभी भोगों को भोग सकते हैं, केवल धोखेवाजी, बेईमानी या एक शब्द में जिसे अनाचार कह सकते हैं, उससे बचते रहें तब भी मुक्ति के मार्ग पर शनैः-शनैः बढ़ सकते हैं।

यद्यपि मंजिल तक पहुँचने के लिए तो आस्रव का पूर्णतया अवरोध और संवर का ग्रहण आवश्यक है क्योंकि इस आत्मा पर न जाने कितने कर्मों का बन्धन होगा, जिसे सहज ही तोड़ा नहीं जा सकता, किन्तु कुछ नहीं कर सकने से तो थोड़ा करना भी उत्तम है।

पं० शोभाचन्द्र जी 'मारिल्ल' ने संवर का महत्त्व बताते हुए कहा है—

आस्रव के अवरोध को संवर कहत सुजान,
संवर आत्म स्वरूप है, मुक्ति महल सोपान।
सदा काल से आ रहे कर्म अनन्तानन्त,
कर संवर आराधना, उन्हें रोकते सन्त।
मन को तन को वचन को करके निर्व्यापार,
गुप्ति साध संवर करें, आत्मनिष्ठ अनगार।

कहा गया है कि आस्रव को रोकना संवर कहलाता है और यही आत्मरूप मुक्ति का सोपान है। इस संसार में जीव अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है और इस लम्बे काल में अनन्तानन्त कर्म उससे जुड़ गये हैं। इतने कर्मों का नाश सहज ही सम्भव नहीं है अतः साधु संवर की आराधना करके नवीन कर्मों के आगमन को रोकते हैं तथा मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन तीनों को पूर्णतया संयमित एवं शुद्ध बनाकर बारहों प्रकार के तप द्वारा पूर्व कर्मों की निर्जरा करते हैं।

आगे आत्मनिष्ठ अनगार किस प्रकार का आचरण रखते हैं, यह बताया गया है—

सम्यक् यतना से करें, गमनागमन विहार,
हित, मित, प्रिय बोलें वचन, लें अदोष आहार।
निक्षेपण आदान में, यतनावान अतीव,
मल-मूत्रादिक त्यागते देख भूमि निर्जीव।
समिति रत्न शोभित महा मुनिवर सदा दयाल,
संवर के शुभ शस्त्र से, काटें कर्म कराल।

पाँच महाव्रतों के धारी अनगार तीनों गुप्तियों को साधते हुए पाँच समितियों का भी सम्यक् रूप से यतनापूर्वक पालन करते हैं।

(१) ईर्ष्यासमिति—इसके अनुसार साधु-साध्वी मार्ग में चलते समय पैरों के नीचे कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी न आजाय, इसका ध्यान रखते हैं। विहार

करते समय नजरें नीची रखकर वे मार्ग को भली-भांति देखते हैं और जिस मकान में ठहरते हैं, उसमें चलते-फिरते समय 'ओधे' के द्वारा जमीन को सावधानी से साफ कर लेते हैं अर्थात् चींटी आदि जीव हों तो उन्हें हटा देते हैं।

मेघमुनि जब अपने पूर्व जन्म में जब हाथी के रूप में थे तो वन में एक बार भयंकर आग लग गई। वन में रहने वाले बड़े और छोटे सभी जीव-जन्तु भागकर एक स्थान पर, जहाँ आग का डर नहीं था, आकर इकट्ठे हो गये।

हाथी भी उन्हीं में से एक था। वह काफी देर तक खड़ा रहा पर एक बार किसी कारणवश ज्योंही उसने अपना पैर ऊपर किया, उस रिक्त स्थान पर एक खरगोश आकर बैठ गया। कुछ समय बाद ही जब उसने अपना पैर पुनः नीचा किया तो उसे महसूस हुआ कि कोई जीव नीचे है। देखा तो वहाँ खरगोश दिखाई दिया। ज्योंही हाथी ने खरगोश को देखा तो पुनः पैर ऊँचा कर लिया। यह सोचकर कि—'अगर मैं पैर नीचे रखूँगा तो खरगोश दबकर तुरन्त मर जाएगा।'

जीव-जन्तुओं की उस स्थान पर इतनी भीड़ थी कि तिल रखने की भी जगह वहाँ खाली नहीं थी, अतः हाथी अपने पैर को दूसरे स्थान पर भी नहीं रख सका। परिणाम यह हुआ कि जब तक वन में लगी हुई आग शान्त नहीं हुई और वन के प्राणी इधर-उधर नहीं चले गये तब तक हाथी अपने तीन पैरों के बल पर ही खड़ा रहा और एक पैर पूर्ववत् ऊँचा उठाए रखा।

तीन दिन निकल गये और विशाल शरीर वाला हाथी बहुत कष्ट पाता रहा। पर जब आग बुझी और उसने पैर नीचा करना चाहा तो वह अकड़ जाने के कारण सीधा नहीं हुआ और हाथी वहीं लुढ़क गया। इतना ही नहीं कुछ समय पश्चात् उसने दम तोड़ दिया।

तो बन्धुओ, तिर्यंच गति में जन्म लेने वाला पशु भी जब हृदय में इतनी दया रखता है और किसी जीव की हिंसा न हो जाय इसलिए स्वयं महान् कष्ट पाकर अपनी जान भी दे सकता है, तो फिर सन्त-मुनिराज किस प्रकार असावधानी रखकर हिंसा के भागी बन सकते हैं? वे तो छहों कार्यों के प्राणियों की रक्षा करते हैं और उनकी हिंसा से बचते हुए गमनागमन करते हैं। यही ईर्यासमिति का पालन कहलाता है।

(२) भाषासमिति—यह दूसरी समिति है और मुनिराज इसका पालन करने के लिए जिह्वा पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं। कटु-वचनों के प्रयोग से सुनने वाले का मन दुःखी होता है तथा बोलने वाले के कर्म बँधते हैं। इसलिए साधु-साध्वी हितकारी, संक्षिप्त और प्रिय वचनों का ही उच्चारण करते हैं। वे बोलने

से पहले अपने विवेक की सहायता लेते हैं और तब शब्दों का उच्चारण करते हैं ।

व्यवहारभाष्य पीठिका में कहा गया है—

पुंश्च बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे ।

अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा ॥

अर्थात्—पहले बुद्धि से परखकर फिर बोलना चाहिए । अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है ।

हमारे शास्त्रों में भाषा के सम्यक् प्रयोग पर बहुत जोर दिया गया है । कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदाप्रिय, हितकारी और सत्यवचनों का उच्चारण करना चाहिए । पर सत्य कभी-कभी कटु भी हो जाता है तथा लोक-व्यवहार के कारण उसमें गड़बड़ हो जाती है अतः भाषा को चार वर्गों में बाँटा गया है—

(१) सत्य भाषा (२) असत्य भाषा (३) मिश्र भाषा और (४) व्यवहार भाषा ।

इन चार प्रकार की भाषाओं में से असत्य और मिश्र यानी कुछ सत्य और कुछ असत्य, ये दोनों हेय हैं अतः साधु पुरुष इन दोनों को काम में नहीं लेते । वे या तो सत्य का प्रयोग करते हैं या व्यवहार भाषा का । व्यवहार भाषा में सत्य या असत्य का ध्यान नहीं रखा जाता, फिर भी वह असत्य नहीं कहलाती । यथा—किमी ने मार्ग बताते समय कहा—यह रास्ता बम्बई जाता है । यद्यपि मार्ग कहीं नहीं जाता, वह वहीं रहता है केवल यात्री जाते हैं पर लोक-व्यवहार में यही कहा जाता है । ऐसी भाषा व्यवहार भाषा कहलाती है ।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है कि कभी-कभी सत्य का प्रयोग करना भी किसी प्राणी के लिए पीडा का कारण बन जाता है । अतः उम समय वैसा सत्य न बोलकर मौन रहना ही अधिक अच्छा रहता है । इस दृष्टि से सत्य के भी दो प्रकार बताये गये हैं—(१) वक्तव्य, (२) अवक्तव्य ।

महापुरुष सत्यवादी होने पर भी वक्तव्य सत्य ही बोलते हैं तथा सत्य होने पर भी पापमय, कर्कश, पीडाजनक, सन्देहयुक्त एवं असम्य भाषा काम में नहीं लेते । क्योंकि ऐसी भाषा से भी अन्य प्राणियों को दुःख होता है और वह कर्म-बन्धन का कारण बन जाता है । जहाँ कर्म-बन्धन होता रहेगा वहाँ संवर नहीं हो सकेगा ।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्पुरुष को सत्य बोलना चाहिये, किन्तु वह प्रिय, संक्षिप्त एवं हितकारी भी हो, यह आवश्यक है । जो व्यक्ति परिमित

भाषा न बोलकर वाचालता अधिक रखेगा वह भाषा पर संयम नहीं रख पायेगा ।

कहा जाता है कि एक बार सुकरात के पास एक व्यक्ति आया और बहुत देर तक इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् बोला—“मैं आपसे भाषण देने की कला सीखना चाहता हूँ ।”

सुकरात जो कि चुपचाप उसकी बातें सुन रहे थे, बोले—“तुम्हें भाषण देने की कला सीखने से पहले एक और कला सीखनी पड़ेगी !”

व्यक्ति ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—“वह कौनसी कला है ?”

सुकरात ने उत्तर दिया—“मौन रहने की ।”

व्यक्ति तुरन्त सुकरात की बात का अर्थ समझ गया और अपनी वाचालता पर बड़ा लज्जित हुआ ।

इस प्रकार भाषा समिति का पालन करने के लिए बहुत-सी बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है । एक बात और भी है, वह यह है कि मुँह से प्रिय बोलते हुए भी मन में किसी के प्रति दुर्भावना, ईर्ष्या या कपट-भाव न रखा जाय । अगर मन में ऐसा कलुष भाव रहा और जबान से मधुर शब्दों का उच्चारण किया तो उन शब्दों का कोई लाभ नहीं होगा तथा एक समय ऐसा अवश्य आएगा जबकि उसे पश्चात्ताप होगा और स्वयं उसका मन ही धिक्कारेगा ।

एक उर्दू भाषा के कवि ने कहा है --

शखसम बचशमे आलिमियाँ खूब मनजरस्त ।

वज खुब से बातनम सरे खिजलत फगन्दाह पेश ॥

अर्थात्—मेरे बाहरी आचरण एवं भाषा से लोग मुझे अच्छा समझते हैं परन्तु अपनी आन्तरिक नीचता से मेरा मस्तक शर्म से नीचे झुका हुआ है ।

तो बन्धुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि मुनिराज कर्म-बन्धनों की बारीकियों को भली-भाँति समझ लेने के कारण अपनी भाषा पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं तथा अपनी बुद्धि और विवेक की तुला पर तोलकर ही शब्दों का संक्षिप्त उच्चारण करते हैं । भाषा समिति के द्वारा ही वचन-गुप्ति भी उनकी सघ जाती है । यह संवर की आराधना में बहुत सहायक है, क्योंकि कटु एवं क्रूर शब्दों के द्वारा मन पर हुआ घाव जीवन भर नहीं मिटता यानी सदा याद रहता है तथा वैर-विरोध के कारण कर्मों का आगमन जारी रहता है ।

उर्दू में ही इस विषय पर भी कहा गया है—

छुरी का, तीर का, तलवार का तो धाव भरा ।
लगा जो जख्म जवाँ का रहा हमेशा हरा ॥

पद्य में यथार्थ कहा गया है। वस्तुतः छुरी, तीर या तलवार का शरीर पर धाव हो जाय तो वह थोड़े समय में भर जाता है, किन्तु जबान का जख्म हमेशा हरा रहता है, यानी वह कभी नहीं मिटता। परिणाम यही होता है कि आस्रव होता रहता है तथा संवर की धारी ही नहीं आती क्योंकि कटु एवं क्रूर शब्दों का प्रयोग कहने वाले और सुनने वाले के बीच में द्वेष एवं बदले की भावना जगा देता है, जो कभी-कभी तो जीवन भर नहीं मिटती चाहे अनेकों संवत्सरी या क्षमापन के दिन निकल जायँ। संवत्सरी के दिन लोग अपने मित्रों या सम्पूर्ण गाँव वालों से क्षमा याचना कर लेंगे किन्तु जिससे वैर-विरोध होगा उसकी ओर धाँख उठाकर भी नहीं देखेंगे। इस प्रकार जिस दिन के पीछे संसार के समस्त प्राणियों के प्रति करुणा रखने का तथा सच्चे हृदय से जगत के समस्त जीवों से क्षमा-याचना करके और क्षमा प्रदान करके हृदय को पूर्णतया कषायरहित कर लेने का रहस्य छिपा हुआ है वह पूर्णतया निरर्थक चला जायेगा।

क्षमा याचना कैसे हो ?

अरे भाई ! सच्ची क्षमा-याचना तो उसी से की जाती है, जिसके प्रति अपराध किया गया हो या जिसका दिल दुखाया गया हो। पर उसी से क्षमा न माँग कर मित्र-स्नेहियों से स्वमा-स्वमा कहने पर वह तोता-रटन्त के अलावा और क्या होगा ? लाभ तो उससे रंचमात्र भी होने वाला नहीं है। वह तभी होगा, जबकि अपने विरोधी या दुश्मन से क्षमा-याचना की जाय और वह भी इस शर्त पर कि 'क्षमा' शब्द केवल जबान पर ही न हो वरन् हृदय से निकले उद्गार हों। अनेक बार हम देखते हैं कि यहाँ धर्म-स्थानक में भी लोग समझा-बुझाकर दो कट्टर विरोधी व्यक्तियों को आपस में क्षमा याचना करने के लिए बाध्य करते हैं और लोक-लज्जा के कारण वे किसी तरह हाथ जोड़कर 'क्षमा' शब्दों का उच्चारण भी कर लेते हैं। परन्तु वे शब्द केवल जबान से निकलते हैं, अन्तर्मानस से नहीं उभरते। आप अच्छी तरह जान लीजिए कि मात्र जबान से कहे गये वे शब्द रंचमात्र भी हृदय को पवित्र नहीं बनाते और उनसे तनिक भी लाभ नहीं होता, क्योंकि महत्त्व शब्दों की बजाय भावना का अधिक और अधिक ही क्या पूर्णतया होता है। माता-पिता अपने बच्चों को भूल कर देने पर गालियाँ देते हैं और यहाँ तक भी कह देते हैं—'तू मर जाए तो पाप

कटे ।' किन्तु उन शब्दों के पीछे वैसी भावना नाममात्र की भी नहीं होती अतः उन गालियों से या बालक के लिए जवानों की गई मरण-कामना से कुछ भी नहीं बिगड़ता क्योंकि वे शब्द केवल जवान पर होते हैं, हृदय में तो बच्चे के लिए स्नेह का सागर लहराता है और शुभ-कामना उममें उवार की भाँति उमड़ती रहती है ।

इसके विपरीत अनेक व्यक्ति जो माया या कपट से ग्रस्त रहते हैं, हृदय में किसी के प्रति घोर ईर्ष्या या द्वेष की भावना रखते हुए उससे मीठी-मीठी बातें करते हैं । वे मीठी बातें आत्मा को लाभ नहीं पहुँचातीं उलटे तिर्यच गति का बंध करती हैं । कहा भी है—

‘माया तिर्यग्योनस्य ।’

अर्थात्—माया तिर्यच योनि को देने वाली है ।

इस प्रकार मायावी या हृदय में कलुष रखते हुए ऊपर से मीठा बोलने वाले समझते हैं कि हमने बड़ी चतुराई से दूसरों को मूर्ख बना दिया, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि मूल वह स्वयं बनता है ।

‘उपदेश प्रासाद’ में एक स्थान पर है—

‘भुवनं वञ्चयमाना, वञ्चयन्ति स्वमेव हि ।’

अर्थात्—जगत को ठगते हुए कपटी पुरुष वास्तव में अपने आपको ही ठगते हैं ।

इसलिए बन्धुओ, अगर आप किसी को मधुर वचन कहते हैं या किसी से क्षमा-याचना करते हैं तो ध्यान रखें कि वे शब्द मात्र जवान पर ही न हों, वरन् आपका मानस भी वही कहे, इसका प्रयत्न करें । ऐसा करने वाले ही महापुरुष एवं सच्चे संत कहला सकते हैं । इतिहास ऐसे महामानवों के उदाहरणों से भरा हुआ है । हमें उनसे ही शिक्षा लेनी चाहिए ।

गौतम बुद्ध को एक बार किसी व्यक्ति ने जी भरकर गालियाँ दीं, पर वे पूर्ववत् मुस्कराते रहे । जब उस व्यक्ति का गालियों का कोष रिक्त हो गया और वह चुप हुआ तो बुद्ध बोले—“भाई ! मैंने तुम्हारी एक भी गाली नहीं ली, अपनी वस्तु तुम ही अपने पास ही रखो ।”

ईसामसीह को उनके कट्टर विरोधियों ने झूली पर चढ़ा दिया, पर उस समय भी उन्होंने भगवान से प्रार्थना की—“हे भगवान ! इन नादान व्यक्तियों को क्षमा करना ।”

गजसुकुमाल ने मस्तक पर अंगारे रखने वाले सोमिल ब्राह्मण से एक भी दुर्वचन नहीं कहा उलटे मौन एवं ध्यानस्थ रहकर उसे क्षमा प्रदान की ।

इस प्रकार यक्ष के प्रभाव से प्रतिदिन नर हत्याएँ करने वाले अर्जुनमाली जब मुनि बन गये तो मृतकों के सम्बन्धियों ने सुअवसर जानकर उनकी मुनि अवस्था में छः महीने तक पत्थरों से मारा, डंडों के प्रहार किये और गालियों का तो कहना ही क्या है कि कितनी दी गई ; पर धन्य थे वे मुनि जिन्होंने छः महीनों में जिन असंख्य पाप-कर्मों का बन्धन किया था, मुनि बन जाने पर छः महीनों के अल्प-काल में ही पूर्ण क्षमाभाव धारण करके निर्मल परिणामों द्वारा उन सबका क्षय कर लिया और मुक्ति हासिल की ।

तो बंधुओ, भाषा समिति के अन्तर्गत प्रसंगवश मैंने आपको यही बताया है कि भाषा की मधुरता एवं वाक्-चतुराई के साथ-साथ हृदय में भी पूर्ण निर्मलता, पवित्रता तथा क्षमा की भावना होनी चाहिए तभी भाषा समिति का यथाविधि सच्चाईपूर्वक पालन हो सकता है । अगर ऐसा न हुआ तो व्यक्ति चाहे महा-विद्वान, पंडित, ज्ञानी या मुनि ही क्यों न हो कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकता । उसका ज्ञान अज्ञान एवं मूढ़ता की कोटि में ही रहता है ।

संत तुलसीदास जी ने अपनी सहज एवं सरल भाषा में कहा भी है—

काम, क्रोध, मद, लोभ की, जब लौं मन में खान ।

तब लौं पंडित मूरखा, तुलसी एक समान ॥

इसलिए महापुरुष और महामुनि आस्रव के स्वरूप और उससे होने वाली भयंकर हानि को समझकर संवर की आराधना करते हैं तथा भाषा समिति का मन की भी पूर्ण विशुद्धता के साथ पालन करते हैं ।

(३) **एषणा समिति**—एषणा का अर्थ है गवेषणा । पंचमहाव्रतधारी मुनि जब भिक्षा लेने के लिए निकलते हैं तो पूर्ण गवेषणा या खोज करके निर्दोष आहार ही लाते हैं । निर्दोष आहार न मिलने पर भी वे सदोष आहार कभी नहीं लेते, चाहे भूखा रहना पड़े और प्राण जाने की नौबत भी क्यों न आ जाय । आहार ही क्या वे सचित्त जल भी ग्रहण नहीं करते भले ही प्यास के कारण शरीर की कोई भी स्थिति क्यों न हो ।

कई बार हम सुनते हैं कि ग्रीष्म के दिनों में उग्र विहार और ऊपर से निर्दोष जल न मिलने से अमुक मुनि का देहावसान हो गया । ऐसे अनेक प्रसंग पूर्वकाल में घट चुके हैं और वर्तमान में भी आते रहते हैं । क्योंकि आहार के अभाव में तो शरीर फिर भी कुछ दिन टिका रहता है, किन्तु जल के अभाव में उसका अधिक टिकना सम्भव नहीं होता ।

पर सच्चे संतों को शरीर की परबाह नहीं होती । वे निर्दोष आहार भी

उसे केवल इसलिए देते हैं कि उसकी सहायता से तप एवं साधना की जाती है। वे साधना में तथा संयम-निर्वाह में सहायक होने के कारण रूखा-सूखा एवं अल्प आहार अगर निर्दोष मिलता है तो उदर को प्रदान करते हैं। रस-लोलुपता एवं सरस व्यञ्जन का आनन्द लेने की इच्छा से खूब पेट भर कर खाना है यह वे कभी स्वप्न में भी नहीं सोचते। इसीलिए नीरस और अल्प खुराक ग्रहण करते हैं। ऐसा करने से क्या लाभ है? यह बृहत्कल्पभाष्य में बताया गया है—

अप्पाहारस्स न इंदियाइं, विसएसु संपत्तंति ।

नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि ॥

अर्थात्—जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषय-भोग की ओर नहीं दीङ्गतीं। तप का प्रसंग आने पर भी वह क्लान्त नहीं होता और न ही सरस भोजन में आसक्त होता है।

इस गाथा के द्वारा आप समझ गये होंगे कि महामुनि क्यों निर्दोष आहार की शवेषणा करते हैं, क्यों रूखा-सूखा, नीरस और अल्प आहार ग्रहण करते हैं तथा निर्दोष आहार न मिलने पर चाहे प्राण चले जायँ पर दोषयुक्त पदार्थ नहीं लाते। अब हम चौथी समिति को लेते हैं।

(४) आदान-निक्षेप समिति—इस समिति का पालन करने के लिए साधु-साध्वी अपने पात्रादि बड़ी यतना से लेते हैं एवं उसी प्रकार यतना से ही रखते हैं। इससे दो लाभ होते हैं। प्रथम तो पात्र टूटते नहीं, असावधानी से रखने पर अथवा जोर से रखने पर सूक्ष्म जीवों की हिंसा नहीं होती दूसरे खट-पट करते हुए रखने पर असभ्यता भी जाहिर होती है अतः उससे बचा जा सकता है।

(५) परिष्ठापना समिति—यह पाँचवीं समिति है। इसके अनुसार सन्त मल-मूत्रादि का त्याग जीवरहित भूमि देखकर करते हैं ताकि उनकी हिंसा न हो पाये। मल-मूत्रादि के अलावा भी कोई वस्तु परठनी होती है तो वे ऐसे स्थान पर उसे डालते हैं, जहाँ जीव न हों।

धर्मरुचि मुनि के विषय में आपने पढ़ा या सुना ही होगा। नागश्री नामक एक स्त्री ने अपने घर पर तुम्बे का शाक बनाया, किन्तु पहले उसकी जाँच न करने से पता नहीं चला कि वह तुम्बा कड़वा है। जब शाक बन गया तो उसे मासूम हुआ कि यह तो जहर के समान कड़वा है।

नागश्री सोचने लगी—“अब क्या क्रिया जाय? घरवालों को पता पड़ेगा तो नाराज होंगे तथा मेरी मूर्खता पर मुझे तिरस्कृत करेंगे।”

वह इस विचार में डूबी हुई थी कि सन्त धर्मरुचि उसके घर आहार के लिए आ गये। उसने ज्योंही सन्त को देखा, मन में प्रसन्न हुई तथा अन्य वस्तुओं के साथ कड़वे तुम्बे के शाक का पात्र पूरा ही उनके पात्र में उड़ेल दिया। यानी पूरा शाक उन्हें बहरा दिया।

धर्मरुचि अणगार भिक्षा लेकर अपने स्थान पर लौटे तथा अपने गुरु व अन्य सन्तों के साथ आहार करने के लिए बैठे। जब तुम्बे का शाक चखा गया तो ज्ञात हुआ कि यह अत्यन्त कड़वा है। यह जानकर धर्मरुचि के गुरुजी ने उन्हें शाक का पात्र देते हुए कहा—“वत्स ! निर्वद्य या निर्जीव स्थान देखकर इसे बाहर फेंक आओ।”

धर्मरुचि गुरु की आज्ञा से पात्र लेकर स्थानक से बाहर आये और एक स्थान पर खड़े हो गये। उन्होंने शाक उड़ेलने के लिए पात्र झुकाया ही था कि अचानक उनके मन में कुछ विचार आया और उन्होंने शाक के एक दो टुकड़े जमीन पर डाले। कुछ ही क्षणों के बाद वे देखते क्या हैं कि शाक में डाले हुए मीठे के कारण उन जमीन पर डाले हुए टुकड़ों के आस-पास अनेक चींटियाँ आ गई हैं और कड़वेपन से मर रही हैं।

यह देखकर धर्मरुचि ने उन प्राणियों की मृत्यु का कारण स्वयं को मानकर घोर पश्चात्ताप किया साथ ही सोचा—“मैंने एक-दो बूँद या सूक्ष्म टुकड़े जमीन पर डाले, केवल उतने से ही इतनी चींटियाँ मर गई हैं तो अगर यह सम्पूर्ण शाक जमीन पर डाल दूँगा तो इस विषवत् वस्तु से तो न जाने कितनी चींटियाँ या अन्य सूक्ष्म जीव मर जाएँगे।”

इस समस्या का हल उन्हें जब और कुछ नहीं सूझा तो वे स्वयं ही समस्त शाक खा गये। यह विचारकर कि—“अगर मैं यह शाक उदरस्थ कर लूँगा तो असंख्य प्राणियों की रक्षा तो हो जाएगी भले ही मुझ एक का कुछ भी हो जाय।”

हुआ भी ऐसा ही, अनिष्ट उनका हुआ। अर्थात् कड़वे तुम्बे के कारण कुछ समय छटपटाने के पश्चात् उनका देहान्त हो गया। पर उनके हृदय में अन्त तक अपार प्रसन्नता इस बात की रही कि मैं असंख्य जीवों के प्राण-नाश से बच गया। इस शरीर को तो एक दिन जाना ही था, आज ही सही।

तो बन्धुओं, सच्चाई से महाव्रतों का तथा समितियों का पालन करने वाले मुनि केवल मल-मूत्र आदि ही नहीं, कोई भी ऐसी वस्तु जिससे अन्य जीवों की हिंसा हो सकती हो, सजीव स्थान पर नहीं डालते।

इतनी सावधानी और यतता रखने के कारण ही वे आस्रव से बचते हुए

संवर की उपासना करते हैं तथा संवर रूपी तीक्ष्ण शस्त्र से कर्मों को काटते हैं ।

आगे कहा गया है—

क्षमा आदि दस धर्म से, मण्डित चेतन-राम ।
निर्विकार निर्लेप हो, बने पूर्ण निष्काम ॥
सुधा सदृश फल से सहित, धर्म वृक्ष अवदात ।
तेरे प्रांगण में खड़ा मूढ़ ! क्यों न फल खात ॥
है जननी वैराग्य की, समता रस की स्रोत ।
भव्य भावनाएँ सदा, भवसागर की पोत ॥

कवि भारिल्ल जी ने व्यक्ति को उद्बोधन देते हुए कहा है—“अरे अज्ञानी पुरुष ! तू मुक्ति की कामना तो करता है, किन्तु अपनी आत्मा को क्षमा आदि दस धर्मों से युक्त बनाकर निर्विकार, संसार से अलिप्त और निष्काम क्यों नहीं बनाता ? तेरी आत्मा के आंगन में ही धर्म रूपी कल्पवृक्ष अमृत के सदृश्य मुक्ति रूपी फल लिए खड़ा है, पर तू अपनी करनी से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करता ?”

क्या तू नहीं जानता कि समता आत्मिक आनन्द और वैराग्य की जननी है ? अगर तू समभाव अपना ले तो स्वयं ही तेरा मन संसार से उपराम हो जाएगा और हृदय में भव्य एवं उत्तम भावनाएँ अपना स्थान बना लेंगी जोकि इस भव-सागर की नौका के समान हैं । जो महामानव इन्हें अपना आधार बना लेता है, वह फिर कभी संसार-सागर में नहीं डूब पाता ।

आगे कहा है—

अरे जीव ! दुःख तरक के सहे अनन्ती बार ।
आज सहा जाता नहीं, तनिक परिषह भार ॥
त्याग अशुभ व्यापार को, रहना शुभ में लीन ।
है सम्यक् चारित्र्य यह, कहते धर्म प्रवीन ॥
अष्टम संवर भावना, आत्म-शुद्धि का मूल ।
चित्तन कर पाले सुजन, भव-सागर का कूल ॥

बन्धुओं, आज व्यक्ति जवान से तो स्वर्ग और मोक्ष की बातें करते हैं, तथा इन्हें पाना चाहते हैं; किन्तु धर्म-क्रिया या तप-साधना करने का जब अवसर

आता है तब तुरन्त पीछे हट जाते हैं ! उन्हें सामायिक करने के लिए कहो तो कहेंगे—बैठे-बैठे कमर दुखने लगती है, पीषघ को कहा जाय तो जमीन चुमती है बिना रुई भरे गद्दे के, और उपवास आयंबिल होता नहीं क्योंकि न भूखा रहा जाता है और न ही घी, दूध, दही और मीठे के अभाव में रूखा-सूखा खाया जाता है । ऐसी स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति करना संभव है क्या ?

कवि ने कहा है—अरे जीव ! तूने तो नरक के दुःख भी अनन्तों बार सह लिये हैं फिर उसके मुकाबले में धर्म-ध्यान या तप से होने वाले ये तुच्छ परिषह क्या मूल्य रखते हैं जो तुझसे नहीं सहे जाते ? तनिक विचार करके देख कि अब तक जो भव्य आत्माएँ सम्पूर्ण परिषहों को सहन करके संयम की दृढ़ साधना कर चुकी हैं, क्या उनके शरीर तेरे जैसे नहीं थे ?

धर्म के लिए तो गुरु गोविन्दसिंह के दो छोटे-छोटे बच्चे हँसते हुए स्वयं ही दीवार में चुने जाने को तैयार हो गये थे । छोटा सा बालक ध्रुव जो आज ध्रुवतारे के रूप में माना जाता है अपनी सौतेली माता के तनिक से तिरस्कार पर ही घोर तपस्या में लीन हो गया था ।

भगवान की गोद

आपने ध्रुव की कहानी अवश्य ही पढ़ी होगी । एक बार जब वह अपने पिता की गोद में बैठने जा रहा था, उसकी सौतेली माँ ने सौतेले भाई को पिता की गोद में बैठाया और उसका अनादर करते हुए कहा—“तुम यहाँ नहीं बैठ सकते, तुम केवल आधा सेर अनाज के अधिकारी हो ।”

बालक ध्रुव को बात लग गई और उसने सोचा “अब तो मैं भगवान की गोद में ही बैठूँगा ।”

पर भगवान की गोद में बैठना क्या सरल है? उसके लिए निराली ही भक्ति और साधना चाहिये । भगवान की भक्ति करने वाला भगवान के प्रेम में ऐसा गर्क हो जाता है कि उसे संसार की अन्य कोई वस्तु दिखाई ही नहीं देती । जिस प्रकार पतिगा दीपक से प्रेम करने पर अन्य किसी की ओर नहीं देखता केवल उस पर मंडराता हुआ अपने प्राण त्याग देता है, इसी प्रकार ईश्वर में लौ लगाने वाले का हाल होता है ।

उर्दू कवि जौक ने कहा भी है—

कहा पतंग ने यह दारे शमा पर चढ़कर ।

अजब मजा है, जो मर ले किसी के सर चढ़कर ॥

तो मैं ध्रुव के विषय में कह रहा था कि उस छोटे से बालक ने जब यह

प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब भगवान की गोद में ही बैठूँगा जहाँ से मुझे कोई नहीं हटा सकेगा तो अपने निश्चय और दृढ़ इच्छा को पूरा करने के लिए वह तपस्या करने चल दिया ।

उसके पिता को जब यह मासूम हुआ कि उनका छोटा-सा पुत्र तपस्या करने के लिए जा रहा है तो उन्होंने स्वयं जाकर उसे समझाने का प्रयत्न किया और बड़े प्यार से बोले—

“बेटा ! तुम बालक हो, अभी क्या जानो कि तपस्या कितनी कठिन होती है ? तुम वापिस लौट चलो मैं आधा राज्य तुम्हें देता हूँ ।”

पर ध्रुव ने उत्तर दिया—“पिताजी ! अभी तो मैंने भगवान को पाने का प्रयत्न ही नहीं किया कि आप मुझे आधा सेर अनाज के बदले आधा राज्य देने को तैयार हो गये । पर अगर मैं भगवान को पाने का प्रयत्न करूँगा तो मुझे क्या नहीं मिलेगा ? सभी कुछ मिल जाएगा । अतः अब वापिस नहीं लौट सकता ।”

अपने कथनानुसार ध्रुव ने निर्जन वन में जाकर घोर और अद्भुत तप प्रारम्भ कर दिया तथा कड़ाके की सरदी, भयानक गरमी और घनघोर वर्षा की भी परवाह न करते हुए जब तक भगवान को प्राप्त नहीं कर लिया, अपनी तपस्या भंग नहीं की ।

बंधुओ, यह कथा वैष्णव साहित्य में प्रसिद्ध है पर अपने जैन साहित्य में भी बालक गजसुकुमाल, जिनका शरीर गज यानी हाथी के तालू के समान कोमल था और इसीलिए गजसुकुमाल नाम रखा गया था । दूसरे, मृगापुत्र एवं अयचंताकुमार आदि छोटे-छोटे बालकों ने मुनिधर्म ग्रहण कर लिया था और सम्पूर्ण परिषहों पर पूर्ण विजय प्राप्त करते हुए आत्म-कल्याण किया था ।

तो बालक ध्रुव, गजसुकुमाल, मृगापुत्र एवं ऐवन्ताकुमार आदि बाल-मुनियों ने भी जब घोर परिषह सहन कर लिये थे तो क्या आप धर्म-क्रियाएँ, तप या साधना नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं, आवश्यकता दृढ़ संकल्प की है । जब मानव आस्रव के सही स्वरूप को समझकर उससे भयभीत हो जाता है तब स्वयं ही संवर की उपासना में लग जाता है तथा इस मार्ग में आने वाले प्रत्येक परिषह को नरक एवं तिर्यंच योनि के कष्टों से अत्यन्त तुच्छ एवं कम समझकर उन्हें हँसते-हँसते सहन कर लेता है । ये परिषह उसे परिषह के समान ही महसूस नहीं होते ।

कवि ने भी यही कहा है कि संवर की आराधना करते समय किसी भी प्रकार के कष्ट या परिषह से धबराकर अपने कदम मत रोको या उन्हें आस्रव

के मार्ग पर मत चलने दो, यही विचार करो कि—‘मेरे जीव ने जब अनन्तानन्त बार नरकों का कष्ट भोग लिया है तब उनके मुकाबले में ये साधारण से कष्ट क्या महत्त्व रखते हैं?’

किनारे पर आकर निष्क्रिय मत बनो

बीतराग के वचनों पर आस्था रखने वाले धर्मात्मा पुरुष भी कहते हैं—
“भाई ! आठवीं ‘संवर भावना’ एक प्रकार से भव-समुद्र का तजदीक आया हुआ किनारा है; अतः अब पुनः आस्रव के द्वारा फिसल कर समुद्र में गोते लगाने के लिए मत चले जाओ, वरन् इस भावना को भाते हुए थोड़ी श्रम-साधना करके बाहर निकल आओ।”

यह बात अक्षरशः यथार्थ है। अनन्तकाल तक चौरासी लाख योनियों में पुनः-पुनः जन्म-मरण करना संसार-सागर या भव-समुद्र में गोते लगाना ही है। वह तो जीव कर चुका। पर अब स्वर्ण-संयोग से मनुष्य जन्म, उच्च कुल, आर्य क्षेत्र एवं सन्त-समागम की सुविधा रूप भव सागर का किनारा प्राप्त हो गया है तथा थोड़े से प्रयत्न से ही जब इससे बाहर निकल कर मुक्ति का शाश्वत आनन्द प्राप्त किया जा सकता है तो असावधानी, मिथ्यात्व, प्रमाद या अश्रद्धा के कारण किनारे की ओर न आकर पुनः मग्नधार की ओर चले जाना कहाँ की बुद्धिमानी है ? दूसरी बात, अनन्तकाल से घोर परिश्रम करके जो पुण्य जुटाये हैं तथा मानव-जन्म रूपी किनारा पा लिया है तो फिर थोड़े-से परिश्रम के लिए प्रमाद क्यों करना ? जबकि थोड़ा सा आगे बढ़ने पर शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है, और थोड़ा सा पीछे हटते ही घोर दुःखों के बीच जाना होता है।

बन्धुओ, आप जानते हैं कि तराजू के दो पलड़े होते हैं। किन्तु एक पलड़े में तनिक-सा वजन डाल देने पर वह झुक जाता है और दूसरे पलड़े में वही वजन डाल देने पर वह झुकता है। मानव-जन्म भी तराजू की ऐसी ही डण्डी है, जिसके एक पलड़े में संसार से मुक्ति है और दूसरे में अनन्तानन्त दुःख। अब आप ही विचार कीजिये कि ऐसी स्थिति में हमें किस पलड़े को झुकाना चाहिये ? संवर की भावना को ग्रहण करते हुए उसके अनुसार साधना करली तो मुक्ति रूपी पलड़ा झुक जाएगा यानी जीव संसार-मुक्त हो सकेगा और असावधानी या प्रमाद से आस्रव कर लिया तो भवसागर के दुःखों वाला पलड़ा झुकेगा तथा जीव पुनः भवसागर में अनन्तकाल तक गोते लगाने के लिए चल देगा।

इसलिए कवि के कथनानुसार मनुष्य को अपने जीवन का महत्त्व समझते

हुए अशुभ-व्यापार से बचकर शुभ-व्यापार में लगना चाहिए। अर्थात् आत्म के मार्ग को छोड़कर संवर का मार्ग अपनाना चाहिए। जो भव्यप्राणी संवर को उसके शुद्ध स्वरूप सहित ग्रहण कर लेते हैं वे संसार की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी से निरासक्त रहते हैं। वे विचार करते हैं—

करें जुदाई का किस-किस की रंज हम ए जौक ।
कि होने वाले हैं सब हमसे अनकरीव जुदा ॥

कवि जौक का कहना है—“हम किस-किस की जुदाई या वियोग का रंज करें ?” समी तो एक दिन हमसे दूर होने वाले हैं।”

वस्तुतः ऐसी अनित्य भावना जब मानस में उत्पन्न हो जाती है, तब संवर के मार्ग पर चलना तनिक भी कठिन नहीं होता। इसलिए प्रत्येक मुक्ति के अभिलाषी को ‘संवर-भावना’ भाते हुए त्याग, तप एवं संयमपूर्वक अपने कर्मों की निर्जरा करके इस दुर्लभ जीवन का सर्वोच्च लाभ ‘मोक्ष’ हासिल करने में जुट जाना चाहिए ताकि भव-सागर का निकट आया हुआ किनारा कहीं पुनः दूर न चला जाय। ऐसा करने पर ही शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

○

कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संवरतत्त्व या संवर भावना के विषय में संक्षिप्त विवेचन किया था। आस्रव के अवरोध को संवर कहते हैं। अनन्तकाल से जो कर्म आ-आकर आत्मा को आच्छादित करते जा रहे हैं, उनके आगमन को सन्त-महापुरुष संवर की आराधना करके रोकते हैं। जो मुमुक्षु अपनी इन्द्रियों पर और मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हुए राग-द्वेष से निवृत्त होते हैं, वे ही सच्चे अर्थों में संवर की उपासना कर पाते हैं यानी कर्मों के आगमन को रोक सकते हैं।

संवर-भावना के बाद आज हमें 'निर्जरा-भावना' को लेना है। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि कर्मों के आगमन या आस्रव को संवर के द्वारा रोक लिया जाय तो फिर और क्या करना बाकी रह जाता है? कर्मों का बँधना ही तो दुःख की बात है और उन्हें ही जब बँधने से रोक लिया तो काफी है। पर ऐसा विचार करना और संवर से ही सन्तुष्ट हो जाना आत्म-मुक्ति के लिए काफी नहीं है।

यह सही है कि संवर से नवीन कर्मों का आगमन रुक सकता है, किन्तु भाइयो ! जो पूर्वबद्ध कर्म होते हैं उन्हें भी तो क्षय करना आवश्यक है। अगर उन्हें नष्ट नहीं किया जायेगा तो वे उदय में निश्चय ही आएँगे और न जाने कितने काल तक घोर दुःखों के रूप में अपना फल प्रदान करेंगे। अनिच्छा होने पर भी उनके आक्रमण से जीव बच नहीं सकेगा। इसलिए आवश्यक है कि बद्ध कर्मों का क्षय किया जाय और उन्हें क्षय करना ही निर्जरा कहलाता है।

पं० शोभाचन्द्र जी 'मारिल्ल' ने निर्जरा के विषय में लिखा है—

चेतन से कुच्छ-कुच्छ कर्म दूर होते हैं,
निर्जरा तत्त्व जिनदेव उसे कहते हैं।

है सुख का सागर यही मोक्ष का कारण,
आराधन इसका सकल कर्म संहारण ।
पहले जो बाँधे कर्म स्व-फल देते हैं,
फल देकर फिर वे तुरन्त दूर होते हैं ।

कवि ने कहा है—‘जिन भगवान के कथनानुसार जब आत्मा से क्रमशः कर्म हटते जाते हैं तब उसे निर्जरा कहते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है कि ‘निर्जरा’ शब्द केवल जैनदर्शन में ही आया है। अन्य किसी भी धर्म या दर्शन में यह नहीं पाया जाता। ‘हाँ, संस्कृत में देवता का एक नाम अवश्य निर्जर बताया गया है।

तो कविता में कर्मों के विषय में कहा गया है कि पूर्व में बँधे हुए कर्मों में से जब जिन कर्मों के उदय का समय आता है, तब वे उदित होते हैं और अपना फल प्रदान करके फिर तुरन्त दूर हो जाते हैं। पुनः वे आत्मा को नहीं घेरते ।

आगम में कहा भी है—

पक्के फलमिम पडिए, जहण फल बज्जए पुणो बिदे ।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥

—समयसार-१६८

अर्थात्—जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृत्त यानी वृक्ष से नहीं लगता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से विलग होने के पश्चात् पुनः आत्मा को नहीं लग सकते ।

आशय यही है कि वीतराग अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर देते हैं और फिर वे कभी भी कर्म-बन्धनों से नहीं जकड़ने । कर्मों का क्षय करना निर्जरा है तथा निर्जरा ही मोक्ष एवं शाश्वत सुख का कारण है । आत्मा तभी परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति करती है या अपने शुद्ध स्वरूप में आती है, जबकि उसके शुभ एवं अशुभ, सभी कर्म उससे दूर हो जाते हैं । उस अवस्था को ही हम मोक्ष कहते हैं ।

निर्जरा के प्रकार

निर्जरा दो प्रकार की बताई गई है । पहली सकाम निर्जरा और दूसरी निष्काम निर्जरा । इस विषय में कविता में आगे कहा है—

है द्विविध निर्जरा जिनवर ने बतलाई ।
पहली सकाम निष्काम दूसरी भाई !

वृद्धता है उपशम भाव चित्त में जैसे,
तप-वह्नि प्रज्वलित होती जैसे-जैसे ।
ज्यों धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान चढ़ता है,
त्यों-त्यों विशुद्ध निर्जरा मान बढ़ता है ।

भगवान ने सकाम और निष्काम, दो प्रकार की निर्जरा बताई है । जो आत्म-साधक अपने कर्मों को नष्ट करना चाहता है, वह तप का आराधन करता है क्योंकि—

“तपसा क्षीयते कर्मः ।”

यानी—तप से कर्म क्षीण होते हैं ।

कविता में भी यही कहा गया है कि ज्यों-ज्यों तप की अग्नि तेज होती जाती है, त्यों-त्यों उपशम भाव बढ़ता है और कर्म क्षीण हो चलते हैं । तपस्वी बारहों प्रकार के तपों में जुट जाता है तथा उसकी आत्मा में धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की धारा जितनी बढ़ती है, उतनी ही तीव्रता से कर्मों की निर्जरा होने लगती है ।

पर मुझे आपको अभी यह बताना है कैसे तप से कर्मों की निर्जरा होती है ? तप भी सकाम और निष्काम होता है तथा कामनारहित तप निर्जरा का हेतु बनता है ।

(१) अकाम निर्जरा—जो तपस्वी किसी फल की कामना से तप करता है, उसको भले ही स्वर्ग-सुख हासिल हो सकता है, किन्तु कर्मों की निर्जरा वह नहीं कर पाता । अनेक व्यक्ति तपस्या करते हैं, किन्तु साथ ही किसी न किसी फल की इच्छा रखते हैं कि मेरी तपस्या का अमुक फल मिलना चाहिए । ऐसे निदान का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति यश, कीर्ति प्राप्त कर लेता है, सेठ, राजा, देवता या इन्द्र भी बन सकता है किन्तु कर्मों का क्षय नहीं कर पाता अतः अपनी आत्मा को संसार-मुक्त नहीं कर सकता । उसका तप बाल-तप या अज्ञान-तप कहलाता है ।

इसलिए आचार्य शय्यंभव ने तपाराधन करने वाले को उद्बोधन दिया है—

“नो इहलोगद्वयाए तवमहिद्विज्जा, नो परलोगद्वयाए तवमहिद्विज्जा, नो कित्तिवण्ण सद्दसिलोगद्वयाए तवमहिद्विज्जा, नअस्थ निज्जरद्वयाए तव मिहिद्विज्जा ।”

अर्थात्—इस लोक की कामना को लेकर यथा—धन, प्रसिद्धि या सम्मान आदि के लिए, परलोक की कामना से देव, इन्द्र, अहमिन्द्र या चक्रवर्ती बनने के

लिए तप नहीं करना चाहिए। तप केवल निर्जरा के लिए यानी कर्मों को नष्ट करने का संकल्प रखकर करना चाहिए।

निर्जरा के लिए किये हुए तप के द्वारा आत्मा कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष-फल की प्राप्ति भी कर सकती है, तो इस लोक और परलोक में कुछ प्राप्त हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है वह सब तो बिना इच्छा के भी मिल जाता है। जिस प्रकार किसान को खेती करने पर उसका सर्वोत्तम फल धान्य तो प्राप्त होता ही है, साथ ही भूसा आदि उसके साथ यों ही मिल जाता है। इनके लिए इच्छा करने की आवश्यकता नहीं होती।

तप का अभीष्ट फल भी कर्मों से सर्वथा मुक्ति या मोक्ष है, बाकी इस लोक में कीर्ति, प्रशंसा, श्लाघा और धन या परलोक में जैसा कि मैंने बताया, देव, इन्द्र या चक्रवर्ती होना भूसे के समान है, जो स्वयं ही मिलना रहता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि किसी फल-प्राप्ति की इच्छा से घोर तप करके शरीर को सुखा देना निरर्थक है, उससे कर्मों का क्षय न होकर उलटे बंध होता है। इसी प्रकार परिषर्हों या उपमर्गों के कष्टों को हाय-हाय करते हुए भोगना भी निरर्थक है; क्योंकि उससे नवीन कर्मों का बंध होता जाता है। संक्षेप में अज्ञानपूर्वक कष्टों को सहन करने से कोई लाभ नहीं है।

इस विषय में एक सुन्दर श्लोक है—

अज्ञानकष्टम् नरके च ताडनम्
तिष्ठुंक्षु तृक्षुष्वध बंध वेदनम् ।
एते अकामा भवतीति निर्जरा,
इच्छां विना यत् किल शीलपालनम् ?

अर्थात्—नरक में जीव ताड़न, फाड़न, छेदन एवं भेदन आदि के कारण घोर कष्ट सहन करता है और तिर्यच गति में भूख, प्यास, वध, बन्धन एवं पीटे जाने के कष्ट भी भोगता है। परन्तु उन कष्टों को वह समभाव से सहन नहीं करता एवं ज्ञानपूर्वक मेरे कर्मों की निर्जरा होगी यह समझकर नहीं भोगता अतः कष्ट सहने पर भी कर्मों का क्षय नहीं होता।

उदाहरणस्वरूप—एक स्त्री, जिसका पति विदेश चला जाता है या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह लोक व्यवहार और सामाजिक भय से शील का पालन करती है, किन्तु उसके मन में पति के विद्यमान न होने का दुःख रहता है तथा अगले जन्म में वह उससे मिलने की कामना रखती है। ऐसी स्थिति में भले ही मजबूरी और लोकलज्जा से शील का पालन करने पर उसे उच्चगति

प्राप्त हो सकती है, पर उसका शील पालना धर्म नहीं कहलाता और निर्जरा का कारण नहीं बनता ।

इसी विषय पर पुनः कहा गया है—

अज्ञानकष्टाजित तापसादयो,
यद्कर्मनिघ्नन्ति हि वर्षकोटिभिः ।
ज्ञानी क्षणेनैव निहन्ति तत्स्रुतं,
ज्ञानं ततो निर्जरणार्थभिर्जयः ॥

अर्थात्—हम देखते हैं कि अनेक तपस्वी भूखे रहते हैं, पंचाग्नि तप तपते हैं, पेड़ से औंधे लटके रहते हैं, और इसी प्रकार कई तरह से शरीर को सुखा देते हैं, किन्तु अज्ञान के कारण ऐसी तपस्या से करोड़ों वर्षों में वे जितने कर्मों का क्षय कर पाते हैं, उतने कर्मों का ज्ञानी समभाव, विवेक और संसार के स्वरूप से विरक्त होकर कुछ क्षणों के तप से ही नाश कर लेते हैं । इस प्रकार वही तप कर्मों की निर्जरा करता है जो फलेच्छा से रहित, ज्ञानसहित और निष्कपट होकर किया जाता है ।

मनुष्य आडम्बर, ढोंग या कपट करके मनुष्यों की आँखों में धूल जोक सकता है, किन्तु कर्मों की आँखों में नहीं । कर्मों के नेत्र तो इतने पने होते हैं कि जिस प्रकार दर्पण चेहरे को अपने में ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित कर देता है, रंचमात्र भी भूल नहीं करता, इसी प्रकार वे भी मानव की बाह्यक्रिया तथा अन्तर के विचारों को ज्यों का त्यों ग्रहण करके या ज्ञान के ठीक बैसा ही फल प्रदान करते हैं ।

कपटपूर्वक किये गये तप का एक उदाहरण जानासूत्र में है कि हमारे उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ प्रभु को भी स्त्री वेद का बन्ध भोगना पड़ा था । क्योंकि उन्होंने अपने पूर्व जन्म में महाबल के जीवन में अपने साधियों से छल या कपट रत्नकर तपाराधन किया था । स्पष्ट है कि साधियों को वे भ्रम में डाल सके थे, किन्तु कर्मों को नहीं । कर्मों ने अपना कार्य किया और उनकी कपट-तपस्या का फल स्त्री वेद के रूप में दे दिया ।

इसलिए बन्धुओ ! कर्मों की निर्जरा के लिए तप करना आवश्यक है पर वह किस प्रकार किया जाना चाहिए यह समझना मुमुक्षु के लिए अनिवार्य है । अन्यथा तप भी किया और उसे करते समय नाना प्रकार के कष्ट उठाकर शरीर को सुखा भी दिया पर जैसा मिलना चाहिए वैसा लाभ नहीं मिल पाया तो उस तप से क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नहीं ।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने भी तपस्या के महत्त्व को बताते हुए, कैसी तपस्या करनी चाहिए इसे अपने एक सुन्दर पद्य में समझाया है। पद्य इस प्रकार है—

तपस्या के किये बिना हटे न करम पुंज,
इहलोक आरसे सो तप नहीं करवो ।
परलोक इन्द्रादिक पदवी न चाहे भव,
जस कीरति के लिए सोही परिहरवो ॥
करम कलेश लेश तप नाश कर करवे को,
निर्जरा प्रमाण अरु पाप सेती डरवो ।
भावना अर्जुनमाली भाई पाये शिवपद,
कहत तिलोक भावे जाके जग तरवो ॥

महाराज श्री का कथन है कि तप किये बिना अनन्तकाल से इकट्ठे हुए कर्मों के भारी समूह को नष्ट नहीं किया जा सकता अतः तप करना आवश्यक है; किन्तु अपने तप के पीछे हमें इस लोक में सुख एवं यशादि मिले तथा परलोक में उच्च गति प्राप्त हो, ऐसी भावना मत रखो। तप के साथ केवल यही विचार करो कि मुझे अपने पूर्वबद्ध समस्त कर्मों का क्षय करना है तथा सदा के लिए संसार के क्लेशों से छुटकारा पाना है।

कर्मों की निर्जरा किस प्रकार की जाती है, इसका उत्तम प्रमाण हमारे सामने अर्जुनमाली का है। अर्जुनमाली साधुत्व ग्रहण करने के पश्चात् तपाराधन में लग गये। उस समय उनके शत्रुओं ने पत्थरों से तथा डण्डों से प्रहार कर-करके उन्हें महान् कष्ट दिया।

किन्तु उस कष्ट को उन्होंने दुःख या त्राहि-त्राहि करके सहन नहीं किया, अपितु दुःख देने वालों को क्षमा करते हुए पूर्ण समत्व भाव से 'मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है' यह विचार करते हुए शान्त-भाव से सहा। परिणाम यह हुआ कि वे कर्म-मुक्त हुए और संसार से छुटकारा पा गये।

कहने का अमिप्राय यही है कि साधु-साध्वी या अन्य स्त्री-पुरुष इस संसार में नाना प्रकार के संकटों से घिरते हैं और उनके कारण अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, किन्तु कर्मों की निर्जरा केवल वही कर पाते हैं जो ज्ञानी एवं सन्नभाव से परिपूर्ण होते हैं। संक्षेप में कर्मों की निर्जरा होता भावनाओं पर निर्भर है। कष्ट एक सरीखे हो सकते हैं, पर उन्हें व्यक्ति किस भावना से

सहता है यही महत्त्वपूर्ण है और उसी पर निर्जरा का होना न होना निर्भर करता है ।

खाना न मिल पाने से भिखारी छः दिन तक भूखा रहता है पर भूख के कष्ट को वह कितने आर्त-ध्यान एवं शोक से सहता है ? अन्न के दाने प्राप्त करने के लिए वह कितना व्याकुल रहता है ? तो ऐसे भूखे रहने से क्या उसके कर्मों की निर्जरा होगी ? नहीं, निर्जरा उस व्यक्ति के कर्मों की होगी जो भोजन प्राप्त होने पर भी उसका एक-दो या अधिक दिन के लिए पूर्ण शान्ति तथा सन्तोष से त्याग करेगा और वह समय धर्म-क्रिया, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन और आत्म-रमण में लगायेगा ।

कर्मों की निर्जरा किस प्रकार व्यक्ति कर पाने हैं या कर चुके हैं, इस विषय में कहा गया है—

सह लेते हैं जो दुष्ट वचन हँस करके,
उत्तेजित होते क्रोध में न फँस करके ।
उपसर्गों को उपकारक जिनने माना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ।
उपसर्ग और परिषह है ऋण का देना,
वदला लेकर क्यों नया कर्ज फिर लेना ?
मानापमान जिनने समान पहचाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥

कवि ने सरल भाषा में समझा दिया है कि जो क्षमाशील व्यक्ति औरों के कटु-वचनों को मुस्कुराते हुए शान्त भाव से और तनिक भी उत्तेजित हुए बिना सहन कर लेते हैं तथा उपसर्गों को अपने कर्मों की निर्जरा का संयोग समझ कर उन्हें उपकारी मानते हैं, वे ही मोक्ष रूपी ठिकाना प्राप्त करते हैं ।

ऐसे भव्य प्राणी सदा यही भावना रखते हैं कि उपसर्ग और परिषह तो ऋण है जिसे चुकाना पड़ेगा । यानी पूर्व में जो कर्म-बन्धन किये हैं उन्हें तो भोगना ही है । फिर क्यों नहीं समाधि-भाव और शान्तिपूर्वक प्रसन्नता से वह चुकाया जाय ? ऐसा करने पर कर्ज चुक जायेगा यानी कर्म झड़ जायेंगे; किन्तु उस कर्ज को चुकाते समय यानी उपसर्गों और परिषहों को सहन करते समय अगर पुनः आर्त-ध्यान किया और हाय-हाय करते रहे तो नये कर्मों का बन्धन होगा अर्थात् फिर से कर्मों का कर्ज सिर पर सवार हो जाएगा । कवि का भी यही कहना है कि पुराने कर्ज को चुकाते हुए उसके बदले में फिर से नया कर्ज

क्यों लेना चाहिए ? यह विचार जो करते हैं, वे मोक्ष रूपी सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर लेते हैं ।

(२) सकाम निर्जरा—यद्यपि अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों झड़ना तो अज्ञानी को भी होता रहता है । किन्तु उसे शुद्धि का कारण या निर्जरा नहीं कहा जा सकता । सकाम निर्जरा तब कहलाती है, जबकि सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य द्वारा तप करके व्यक्ति अपने कर्मों का नाश करता है और ऐसे समय में उसके सामने जो उपसर्ग और परिषह आते हैं उन्हें वह पूर्ण समभाव से महन कर लेता है ।

हमारे आगम कहते हैं—

जह पंसु गुंडिया, विहुणिय धंसथई सियं रथं ।

एव दविओवहाणवं, कम्मं खवई तवस्सि माहणे ॥

अर्थात्—सच्चा तपस्वी अपने उज्ज्वल तप से कृतकर्मों को बहुत शीघ्र समाप्त कर देता है, जैसे पक्षी अपने परों को फड़फड़ाकर उन पर लगी हुई धूल झाड़ देता है ।

ऐसी तपस्या किस काम की ?

खेद की बात है कि आज हमारे समाज में तप करने की विशेष परम्परा तो है पर उसके साथ दान, दया, सामायिक, स्वाध्याय, ज्ञान-ध्यान एवं चिन्तन-मनन आदि की प्रवृत्ति का लोप हो गया है । तपस्या खूब की जाती है महीने-महीने तक की और उससे भी अधिक, किन्तु उस समय कर्मों की निर्जरा के प्रति जो एकान्त उत्साह होना चाहिए तथा आरम्भ-परिग्रह कम से कम किया जाना चाहिए वह नहीं होता । तप के नाम पर जीमनवार होते हैं, जिनमें हजारों रुपये खर्च किये जाते हैं, हजारों रुपये नारियल, वतसे, लड्डू या अन्य चीजों को बाँटने में पूरे किये जाते हैं और पीहर व सम्बन्धियों के घरों से वस्त्राभूषण आते हैं वह अलग । इसी प्रकार खूब गीत गाये जाते हैं, घूमधाम से जुलूस निकलता है और कहा जाता है बड़ी भारी तपस्या की गई ।

कई बार तो आर्थिक स्थिति ठीक न होने पर लोग बहू-बेटियों को अठाई आदि तप करने से मना कर देते हैं और बहनें भी तपस्या करने का विचार छोड़ देती हैं कि जब घूम-धाम नहीं होगी, वस्त्राभूषण नहीं आएँगे और जीमण आदि के अभाव में लोगों को उनकी तपस्या का पता भी नहीं चल पायेगा तो फिर करने से क्या लाभ है ? यह हाल है आज के तप का । ऐसी स्थिति में

मला कर्म-निर्जरा कैसे होगी ? तप का डिढोरा पिट जाने से और तपस्वी कहला जाने से कभी तप का सच्चा लाभ हासिल हो सकता है ? यानी कर्म झड़ सकते हैं ? कभी नहीं। मैंने अभी कहा भी था कि मनुष्यों की आँखों में धूल शोकी जा सकती है पर कर्मों की आँखों में नहीं। वे मनुष्य की भावनाओं को ज्यों का त्यों पढ़ लेते हैं और उन्हीं के अनुसार आकर आत्मा को घेर लेते हैं। इसलिए तप का महत्त्व तथा निर्जरा के रहस्य को समझकर ही तपानुष्ठान करना चाहिए।

कविता में आगे कहा गया है—

जननी भ्रमत्व की यह नश्वर काया है,
 अत्यन्त अशुचि दुखधाम महाभाया है।
 रत्नत्रय को ही द्वार मुक्ति का जाना,
 कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।
 अपने अवगुण की जो निन्दा करते हैं,
 पर पर-निन्दा से सदा काल डरते हैं।
 गुणवानों के सद्गुण का गाते गाना,
 कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।

जो महापुरुष शरीर को मोह-ममता की जननी और अशुद्ध, नश्वर तथा दुःख का घर समझ लेते हैं, साथ ही सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूपी रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वे ही अन्त में कर्मों से मुक्त होते हैं।

इसके अलावा साधु-पुरुष कभी औरों के अवगुणों को देखकर उनकी निन्दा नहीं करते। वे अपने ही दोषों को देखते हैं तथा उनकी निन्दा करते हुए पश्चात्ताप करते-रहते हैं। महात्मा कबीर ने आत्मानुभव से कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।
 जो दिल देख्या आपना, मुझ सा बुरा न कोय ॥

तो बन्धुओ, महापुरुष पर-निन्दा न करके स्व-निन्दा करते हैं और इस प्रकार एक-एक अवगुण अपनी आत्मा में से खोजकर नष्ट कर देते हैं। तभी उनकी आत्मा निर्मल बनती है तथा परमात्म-पद की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः इस संसार में सर्वगुणसम्पन्न तो कोई भी व्यक्ति नहीं होता, तब फिर हम औरों के अवगुणों को ढूँढ़कर और उनकी निन्दा करके अपने जीवन का अमूल्य समय क्यों वृथा करें, साथ ही कर्म-बन्धन में बँधें ? छद्मस्थ होने

के कारण दोष तो हममें भी हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो कर्मों से सर्वथा मुक्ति हासिल हो जाती। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति में गुण और अवगुण होते हैं अतः एक का दूसरे के अवगुण देखना और उनकी आलोचना करना निरर्थक है।

महामूर्ख हूँ ?

कहते हैं कि एक बार स्वामी दयानन्द सरस्वती किसी कॉलेज में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किये गये। स्वामीजी समय पर वहाँ पहुँचे और अपने स्थान पर बैठे।

आप जानते ही हैं कि कॉलेज में पढ़ने वाले छात्र जितना पढ़ते हैं, उसकी अपेक्षा शैतानियाँ अधिक करते हैं। एक ऐसे ही उदंड छात्र ने स्वामीजी से कहा—

“महाराज आपसे एक प्रश्न पूछूँ ?”

“अवश्य पूछो !” दयानन्द सरस्वती ने उत्तर दिया।

छात्र ने पूछा—“आप विद्वान हैं या मूर्ख ?”

प्रश्न सुनकर स्वामी जी तनिक भी क्रोधित न हुए और न ही आवेश में आए। उन्होंने पूर्ववत् सौम्य चेहरे से उत्तर दिया—“भाई ! मैं विद्वान भी हूँ और मूर्ख भी।”

अब चकराने की बारी छात्र की थी। वह स्वामी जी का उपहास करना भूलकर आश्चर्य से बोला—“वह कैसे ?”

“इस प्रकार कि संस्कृत भाषा में लोग मुझे विद्वान कहते हैं पर मैं बड़ई-गीरी, खेती एवं डॉक्टरी आदि अनेक विषयों में महामूर्ख हूँ, कुछ भी नहीं जानता।”

स्वामी जी के ऐसे शांतिपूर्ण एवं सच्चर्राई के साथ दिये गये उत्तर से वह विद्यार्थी अपने मूर्खतापूर्ण प्रश्न के लिए बड़ा लज्जित हुआ और उसने उनसे नम्रतापूर्वक क्षमा-याचना की।

इस उदाहरण से यही शिक्षा लेनी चाहिए कि हम कभी औरों के अवगुणों को खोजने का प्रयत्न न करें। अन्यथा हमें ही शर्मिन्दा होना पड़ेगा तथा किसी की निन्दा या उपहास करने से हमारी आत्मा मलिन एवं दोषयुक्त बनेगी। परिणाम यह होगा कि कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने की महान् अभिलाषा भव-सागर के अतल में विलीन हो जायेगी।

कविता में आगे कहा है—

मन और इन्द्रियाँ वश में हैं हो जाती,
जिनकी चेतन में चित्तवृत्ति रम जाती ।
घारा जिन सत्पुरुषों ने सुविरति बना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ।
है मानव-जीवन सफल उसी नरवर का,
जिसने सोखा जल सकल कर्म-सागर का ।
अति पुण्यधाम महिमानिधान जग जाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ।

जो महापुरुष अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझ लेते हैं तथा इस पर दृढ़ विश्वास करते हैं कि हमारे अन्दर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्त-चारित्र्य रूप असीम शक्ति का सागर लहरा रहा है, उनका मन सदा अपनी आत्मा में रमण करता रहता है और इसके कारण पाँचों इन्द्रियाँ भी संयमित रहती हैं ।

इन्द्रियों का संयम संवर का हेतु बनता है तथा निर्जरा की ओर मन को प्रेरित करता रहता है । ऐसे संयमित मन और इन्द्रियों वाले भव्य पुरुष कर्म-रूपी असीम सागर के जल को सुखाकर अपने जीवन को सार्थक बना लेते हैं तथा मोक्ष प्राप्ति के रूप में सर्वोच्च फल प्राप्त करते हैं ।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि जो व्यक्ति आत्मा पर, कर्मों पर, पाप-पुण्य पर एवं परलोक पर विश्वास करते हैं वे इस जगत को असार और हेय न मानकर महामहिम और पुण्य का धाम मानते हैं । आप कहेंगे—“ऐसा क्यों ? यह संसार तो दुःखों से भरा हुआ है तथा आत्मा को भिन्न-भिन्न गतियों में भटकाने वाला है । फिर यह पुण्य-धाम कैसे कहला सकता है ?”

बन्धुओ, इस प्रश्न के उत्तर में हमें सावधानी से विचार करना है । बात यह है कि संसार मनुष्य को अपनी विचारधारा के अनुसार ही अच्छा या बुरा दिखाई देता है । दूसरे शब्दों में, जिसकी गुण-दृष्टि होती है, वह संसार में अच्छाई देखता है और जिसकी दोष-दृष्टि होती है वह मात्र बुराई का अवलोकन करता है ।

पृथ्वी पापधाम है या पुण्यधाम ?

यह सत्य है कि हमारे समक्ष इस पृथ्वी पर अच्छी और बुरी सभी वस्तुएँ विखरी पड़ी हैं, पर यह भी सत्य है कि हम चाहें तो बुराइयों को ग्रहण करके

अच्छाइयाँ छोड़ सकते हैं और चाहें तो अच्छाइयों को ग्रहण करके बुराइयों का त्याग कर सकते हैं। आवश्यकता है हमारी ग्राह्य-शक्ति को अच्छाइयों की तरफ रखने की और उनसे लाभ उठाने की। इतना ही नहीं, हम चाहें तो बुरी वस्तुओं में से भी अच्छाई निकाल सकते हैं।

उदाहरणस्वरूप हमारे पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन्हीं से हम अच्छे काम कर सकते हैं और बुरे भी। एक इन्द्रिय कान है। पर इनसे अगर अश्लील गाने सुने जा सकते हैं तो क्या भक्तिपूर्ण भजन और आत्मानन्द को जगाने वाले वैराग्य-रस के गीत नहीं सुने जा सकते? चक्षु भी इन्द्रिय है। इनसे भी नाटक-सिनेमा या उत्तेजक चित्रादि देखने के बजाय क्या देव-दर्शन, संत-दर्शन या महापुरुषों और वीतरागों के चित्र देखकर अपने चित्त को भी उन्हीं के समान निर्दोष बनाने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता? रसनाइन्द्रिय से भी मांस, शराब एवं अभक्ष्य सेवन करने और क्रूर, कटु तथा अश्लील शब्दों का उच्चारण करने की बजाय लोलुपतारहित भाव से निर्दोष पदार्थों को ग्रहण करते हुए साधना में शक्ति नहीं बढ़ाई जा सकती क्या? साथ ही असभ्यतापूर्ण एवं व्यर्थ प्रलाप न करके वाणी से भगवद्भजन एवं ईश-प्रार्थना करके क्या मन को निर्मल नहीं बनाया जा सकता? इस प्रकार हमारे पैर जो सैर-सपाटे की ओर तथा सिनेमा-घरों और वेश्याओं के मुहल्ले की ओर उठते हैं, क्या उन्हें मन्दिर, धर्म-स्थानक या तीर्थों में नहीं ले जाया जा सकता?

अवश्य ले जाया जा सकता है। सभी इन्द्रियों को निश्चय ही अगर व्यक्ति चाहे तो अशुभ प्रवृत्तियों की ओर से हटाकर शुभ में प्रवृत्त किया जा सकता है महापुरुषों ने ऐसा ही किया भी है, इसीलिए यह पृथ्वी जो दुर्जनों के लिए पाप-धाम बनती है, उनके लिए पुण्य-धाम बन जाती है। अन्तर केवल दृष्टि का है। इस विषय में एक सुन्दर उदाहरण भी है जो शायद एक बार मैंने आपके समक्ष रखा था पर प्रसंगवश पुनः संक्षेप में रखता हूँ।

दुःख धाम और सुख धाम

किसी गाँव के बाहर उस गाँव का एक वयोवृद्ध व्यक्ति एक पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। पेड़ मार्ग के किनारे पर था जिसके द्वारा पिछले गाँव से गुजरते हुए आगे भी जाया जाता था। अतः कुछ समय पश्चात् एक यात्री उस मार्ग से चलता हुआ वृद्ध के समीप आया और उसी पेड़ के नीचे विश्राम करने बैठ गया।

यात्री के पास छोटा सा विस्तर, थैला और इसी प्रकार का काफी सामान था। यह देखकर वृद्ध ने पूछ लिया—

“क्यों भाई, यह डेरा उठाकर कहाँ लिए जा रहे हो ?”

यात्री कुछ झुंझलाता हुआ बोला—“किसी गाँव में जाकर निवास करना है। क्या यहीं तुम्हारे गाँव में मैं भी रह सकता हूँ ?”

वृद्ध ने उसके प्रश्न का उत्तर न देते हुए स्वयं ही पुनः प्रश्न किया—
“पहले यह तो बताओ कि तुम्हारे गाँव के व्यक्ति कैसे हैं ?”

यात्री गुस्से से बोला—“सबके सब नीच और गँवार हैं। एक दिन भी वहाँ रहने की इच्छा नहीं होती।”

वृद्ध व्यक्ति ने गम्भीरता से कुछ क्षण विचार किया और उत्तर दिया—
“भाई, मेरे इस गाँव के व्यक्ति तो तुम्हारे गाँव के व्यक्तियों से भी बुरे, पूरे राक्षस हैं। एक दिन भी तुम्हें टिकने नहीं देंगे।”

यह सुनकर यात्री क्रोध से भुन-भुनाता हुआ आगे चल दिया। पर संयोग-वश थोड़ी ही देर में एक और व्यक्ति अपना सामान लिये हुए आया और उसी पेड़ के नीचे कुछ देर के लिए ठहर गया।

वृद्ध व्यक्ति ने उससे भी उसके गाँव का नाम और यात्रा का कारण पूछ लिया।

व्यक्ति ने बड़े विनय से अपने गाँव का नाम बताया और पूछा—“दादा ! क्या मैं आपके गाँव में रह सकता हूँ ?”

वृद्ध व्यक्ति ने जब गाँव का वही नाम सुना जहाँ से पहला व्यक्ति आया था, तब उसने कुतूहलपूर्वक उस दूसरे यात्री से भी पूछ लिया—“क्यों भाई ! तुम्हारे गाँव के लोग कैसे हैं ?”

प्रश्न सुनकर आने वाले दूसरे यात्री की आँखों में आँसू आ गये और वह गद्गद होकर बोला—“दादा ! मेरे गाँव के सभी लोग देवता स्वरूप हैं। उन्हें छोड़कर आने में मुझे अपार दुःख हुआ है, पर क्या करूँ रोजी-रोटी के लिए गाँव छोड़ना पड़ा है। जब कुछ समय में यह समस्या हल हो जाएगी तो मैं पुनः अपने गाँव में उन सज्जन व्यक्तियों के साथ ही रहूँगा।”

वृद्ध व्यक्ति ने यात्री की बात सुनकर पुनः गम्भीरता से कुछ सोचा और तब बोला—“भाई ! तुम मेरे इसी गाँव में चलकर जब तक इच्छा हो रही, यहाँ के सब व्यक्ति तुम्हारा स्वागत करेंगे और तुम्हारी रोजी-रोटी की भी कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य हो जाएगी।”

बन्धुओ ! आप समझ गये होंगे कि यह उदाहरण हमें क्या बता रहा है ? इस लघुकथा में कहा गया है कि दो यात्री एक ही गाँव से, एक ही उद्देश्य को

लेकर निकले थे। किन्तु अपने गाँव के व्यक्तियों के लिए दोनों के मन में कितनी मित्र धारणा थी? एक ने गाँव के लोगों को नीच और गँवार बताया था, तथा दूसरे ने उन्हीं लोगों को देवता के समान उत्तम और सज्जन कहा था।

इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि स्वयं के दोषपूर्ण एवं दुर्जन होने के कारण पहले यात्री को गाँव के लोग दुर्जन और दुष्ट दिखाई देते थे तथा दूसरे यात्री को वे ही गाँव के निवासी सज्जन और उत्तम पुरुष लगते थे। लोग तो वही थे पर दोनों व्यक्तियों की दृष्टि में अन्तर था? पहले यात्री की दोष-दृष्टि थी और दूसरे की गुण-दृष्टि।

इसके अलावा जो दुर्जन था, उसने अपने दुर्गुणों से गाँव के लोगों को अपना दुश्मन बना लिया था और सज्जन व्यक्ति ने अपने गुणों से सभी को मोहित करके उन्हें हितैषी बनाया था। पर यह हुआ कैसे? दोनों व्यक्तियों के शरीर और इन्द्रियों में तो कोई अन्तर था नहीं, सभी कुछ समान था। बात केवल यही थी कि पहले वाले यात्री ने अपनी इन्द्रियों का और मन का दुरुपयोग किया था यानी उनसे लड़ने-झगड़ने तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि का काम लिया था; किन्तु दूसरे व्यक्ति ने अपनी उन्हीं इन्द्रियों को और मन को प्रेम, सहानुभूति, सेवा, सहायता आदि शुभ-कार्यों में प्रवृत्त किया था।

इसीलिए पहले व्यक्ति के लिए गाँव दुःख का धाम बना और दूसरे के लिए सुख का धाम। गाँव और गाँव के लोगों में कोई अन्तर नहीं था, अन्तर था उन दोनों व्यक्तियों के विचारों में और प्रवृत्तियों में।

ठीक यही हाल इस मानव लोक का भी है। जो महापुरुष अपने मन को एवं इन्द्रियों को बश में करके उन्हें शुभ प्रवृत्तियों की ओर रखते हैं, वे इसी भूतल पर अपने सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करते हुए मोक्ष-धाम को प्राप्त कर लेते हैं और इसके विपरीत जो दुर्जन व्यक्ति इन्द्रियों को तथा मन को स्वतन्त्र छोड़कर भोगों में लिप्त रहते हैं और आत्मा के दुःख-सुख की फिक्र नहीं करते, वे इसी पृथ्वी को नरक बना लेते हैं तथा परलोक में भी नरक या निर्यन्त्र गति प्राप्त करके सदा कष्ट पाते हैं। यह मानव-लोक इसीलिए महिमामय है कि जीव केवल मानव-शरीर धारण करके ही आत्म-साधना कर सकता है तथा कर्मों की निर्जरा करते हुए अपनी उत्कृष्ट करणी के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति में भी समर्थ बन सकता है। अन्य किसी भी गति में प्राणी ऐसा नहीं कर पाता। यहाँ तक कि जिस स्वर्ग की सभी कामना करते हैं उसमें जाकर और देव बन कर भी वह कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न नहीं कर सकता। वहाँ पर जीव केवल पूर्वोपाजित पुण्यों के बल पर अपार सुख-भोग ही करता है और उन पुण्यों के समाप्त होते ही पुनः संसार-चक्र में घूमने लगता है।

कवि ने आगे लिखा है—

निर्जरा तत्त्व आराध मुक्ति के कामी,
 बन गये देव पूजित त्रिलोक के स्वामी ।
 सीखा है जिनने जीवन सफल बिताना,
 कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ।
 हे तात ! बात अवदात सुनो यह मेरी,
 कर कर्म-चमू चकचूर हो रही देरी ।
 निर्जरा भावना शुद्ध हृदय से भाते,
 वे पुरुष रत्न हैं लोकोत्तर सुख पाते ।

इन पद्यों में भी यही बताया गया है कि जिन महामानवों ने मानव जन्म की महत्ता समझ ली थी वे निर्जरा-तत्त्व की आराधना करके देव-पूज्य और त्रिलोक के स्वामी बन गये एवं मोक्ष रूपी ठिकाने पर पहुँच चुके । न उन्हें पुनः पुनः जन्म लेने की आवश्यकता रही और न मरने की ।

आगे बड़े मार्मिक शब्दों में मानव को प्रेरणा दी है कि— “हे भाई ! अब तो तुम मेरी बात मानकर कर्मों के इस पुंज को नष्ट करने का प्रयत्न करो । देखो तुम्हारा जीव अनन्त-काल से चारों गतियों में धार-धार जन्म लेकर असह्य दुख उठाता आ रहा है और इसके छुटकारे में कितनी देरी होती जा रही है ? अगर इस जीवन में भी तुम नहीं चेत पाये तो फिर क्या होगा ? फिर से न जाने कितने समय तक दुख उठाना पड़ेगा । इसलिए शुद्ध हृदय से संवर-मार्ग पर चलो और कर्मों का क्षय करके लोकोत्तर सुख की प्राप्ति करो ताकि वह सुख शाश्वत रहे ।”

तो बंधुओ ! हमें और आपको कर्मों की निर्जरा में जुट जाना है, साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि वह अकाम निर्जरा न रह जाय । मैं यह नहीं कहता कि आप तप नहीं करते । करते हैं, यह दिखाई देता है; किन्तु उसके पीछे भावना क्या होती है, यह आप स्वयं ही समझ सकते हैं । इसलिए यह भली-भाँति समझ लीजिए कि आपकी तपस्या के पीछे किसी प्रकार की लोकेषणा या परलोकेषणा तो नहीं है ? अगर आपके द्वारा इहलौकिक प्राप्ति या पारलौकिक प्राप्ति की इच्छा से तपस्या की जायेगी तो इच्छानुसार फल की प्राप्ति होना भी संभव है पर वह फल सीमित है अतः अपनी तपस्या के फल को बाँधने का प्रयत्न नहीं करना है । तपस्या करना है निष्काम भावना से । तभी उसका कभी सीमातीत फल मोक्ष भी हासिल हो सकने की संभावना रहेगी ।

यहाँ एक बात आपको बताना आवश्यक है कि तप से कर्मों की निर्जरा होती है, किन्तु तप का अर्थ आप केवल उपवास करना ही न समझें। तप बारह प्रकार का होता है। जिनमें से छः प्रकार का बाह्य तप कहलाता है और छः प्रकार का तप अंतरंग।

(१) बाह्य तप

शास्त्रों में बाह्य तप के विषय में बताया है—

“अणसण, मुणोयरिया, भिक्खायरियाय रस परिच्चाओ ।
कायकिलेसो, संलीणया य, बज्जो तवो होई ।”

(२) अन्तरंग तप

“पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्जाओ ।
झाणं च विउस्सगो, एसो अब्भन्तरो तवो ।”

अर्थात्—बाह्य तप है—अनशन, उनोदरी, भिक्षाचरी, रस परित्याग, कायकलेश एवं प्रतिसंलीनता ।

तथा अन्तरंग तप इस प्रकार है—प्रायश्चित्त, विनय, वैश्यावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एवं व्युत्सर्ग ।

तो बंधुओ, ये बारहों प्रकार के बाह्य एवं आभ्यंतर तप कर्मों की निर्जरा करते हैं। समय अधिक न होने से इन सभी के विषय में विस्तृत रूप से नहीं बताया जा सकता, किन्तु आप यह भली-भाँति समझ लें कि जिस प्रकार ज्ञान-पूर्वक अनशन करके कर्मों की निर्जरा की जा सकती है, उसी प्रकार विनयभाव एवं सेवा आदि करके भी कर्मों का क्षय किया जा सकता है। कोई भी तप एक-दूसरे से कम महत्त्व का नहीं है। महत्त्व की कमी-बेशी भावना पर निर्भर होती है। यथा—कोई मुमुक्षु अनशन या उपवास शारीरिक स्थिति के कारण नहीं कर सकता तो भी वह अपने कर्मों की निर्जरा स्वाध्याय, ध्यान, पापों का प्रायश्चित्त, विनय या सेवा करके भी निश्चय ही कर सकता है।

अंत में केवल इतना ही कहना है कि हमें ज्ञानपूर्वक तप करके कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए। किसी भी प्रकार के फल की इच्छा से किया गया तप हमारे असली उद्देश्य की प्राप्ति नहीं करा सकता और न ही मजबूरी से भोगा हुआ कष्ट भी निर्जरा का कारण बनता है।

जो भव्य प्राणी निर्जरा के सही स्वरूप को समझकर निष्काम भावना से अंतरंग एवं बाह्य तप की आराधना करेंगे, वे ही इस लोक और परलोक में सुखी बन सकेंगे।

सोचो लोक स्वरूप को

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहिनो !

संवरतत्त्व के सत्तावन भेदों में से हम उन्चालीस भेदों का विवेचन कर चुके हैं। आज चालीसवाँ भेद 'लोक-भावना' को लेना है। लोक भावना बारह भावनाओं में से ग्यारहवीं भावना भी है।

इस भावना को भाने के लिए अधिक चिन्तन-मनन की आवश्यकता नहीं है अपितु समझने की आवश्यकता है कि लोक का क्या स्वरूप है या उसके कितने प्रकार हैं ? यह समझने से ज्ञात हो जाता है कि जीव अनंतकाल से किस-किस लोक में भ्रमण करता चला आ रहा है। लोक त्रिकाल, ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है। जीव इसी में, जैसा कि आगे बताया जायगा, ऊपर, नीचे और मध्य में जन्म-मरण करता हुआ परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए लोक के विषय में समझना आवश्यक है। इसके विषय में जानने से और चिन्तन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है, मन बाह्य विषयों से हटकर स्थिर हो जाता है तथा मानसिक स्थिरता के कारण आध्यात्मिक शांति और सुख की प्राप्ति होती है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि जहाँ छहों द्रव्य रहते हैं वह लोकाकाश कहलाता है और जहाँ जीव की गति नहीं होती, वह सम्पूर्ण स्थान महासून्य या अलोकाकाश कहलाता है। उसके विषय में कुछ भी जानने-समझने या चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है। अतः हमें लोक के सम्बन्ध में विचार करना है।

एक विद्वान कवि ने लोक के विषय में लिखा है—

लोक अनादि अनन्त है, नर्तक पुरुषाकार,
ऊँचा चौदह राजु है, चेतन-कारागार।

जनम-जनम भरते यहीं, मर-मर पैदा होत,
फिर पैदा हों फिर मरें, जन्म मृत्यु का स्रोत ।
हैं इस लोकाकाश के, संख्यातीत प्रदेश,
जन्म-मरण कर जीव ने, छुआ न कौन प्रदेश ।
एक जगह पर जीव है, जन्मा बार अनन्त,
मरा अनन्तों बार है, कहते ज्ञानी संत ।

पद्यों में लोक के विषय में बताया गया है कि यह अनादि है और अनन्त है । यानी कब इसका प्रारम्भ हुआ यह नहीं कहा जा सकता और अन्त कब होगा यह भी कोई नहीं जानता । स्पष्ट है कि अन्त कभी नहीं होगा ।

इस लोक के संख्यातीत प्रदेश हैं और उन समस्त प्रदेशों को प्रत्येक जीव ने छुआ है तथा एक ही बार नहीं अपितु अनेक-अनेक बार छुआ है । अर्थात्—लोक के प्रत्येक प्रदेशों में जीव अनन्तों बार जन्मा है और मरा है । यह लोक चौदह राजू ऊँचा है तथा आकार की दृष्टि से कमर पर हाथ रखकर नाचते हुए पुरुष के समान है । उस पुरुष के कमर से नीचे का भाग अधोलोक, कमर से ऊपर कंठ तक का भाग मध्य लोक एवं कंठ से ऊपर का भाग उर्ध्वलोक कहा जा सकता है ।

इस प्रकार लोक के तीन भाग हैं—(१) उर्ध्वलोक, (२) मध्यलोक एवं (३) अधोलोक । ये कहाँ हैं और इनमें कौन-कौन रहते हैं, इस विषय में पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने भी अपने सुन्दर पद्य में कहा है—

वेगे वेगे करे कहाँ संठाण आलोक लोक,
नीचे हैं नरक सात वेदना अपार है ।
भौनपति तथा तिर्यकलोक में व्यंतर नर,
ज्योतिषी तिर्यच द्वीप सागर विचार है ।
ऊर्ध्वलोक कल्प अहमिद्र अनुत्तर सुर,
सिद्ध शिला उर्ध्वदिश सिद्ध निराकार है ।
करत सज्जाय ऐसी नमिराज रिषि भाई,
भावना तिलोक भावे सो ही लहे पार है ।

कविश्री प्राणी को प्रतिबोध देते हुए कहते हैं—“अरे जीव ! तू दिन-रात सांसारिक कार्यों के लिए ही शीघ्रतापूर्वक दौड़-धूप करता रहता है, पर जरा लोक के स्वरूप पर भी तो विचार कर जिससे समझ सके कि तुझे अनन्तकाल

से अब तक कहाँ-कहाँ गमनागमन करना पड़ा है और कितने-कितने कष्ट भोगने पड़े हैं ?

(१) अधोलोक

लोक के स्वरूप को जानने के लिए सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि अधोलोक में सात नरक हैं। शास्त्रकार सदा प्रारम्भ में अधोलोक का वर्णन करते हैं। हमारा शरीर भी ऐसा है कि जब पैर गति करेंगे तब शरीर आगे बढ़ेगा। थोकेड़ों में चौबीस दंडक आते हैं, उनमें पहला दंडक नारकीय है।

तो सातों नरकों में अपार वेदना भोगनी पड़ती है। अपने पापों के कारण जब जीव उनमें जाता है तो वहाँ विद्यमान पन्द्रह प्रकार के परमार्थमिक देव एवं दस भवनपति असुर कुमार, नाग कुमार तथा सुपर्णकुमार आदि अत्यन्त क्रूर एवं निर्दय असुर जीव को घोर या असह्य कष्ट पहुँचाते हैं। वे नारकीय शरीर को पारे के समान कण-कण के रूप में पुनः-पुनः बिखेर देते हैं, असीम भूख और प्यास लगने पर भी अनाज का एक भी कण या पानी की एक बूँद भी नहीं देते, आपस में बुरी तरह लड़ते हैं तथा शरीर को क्षत-विक्षत कराकर आनन्दित होते हैं। इसके अलावा नरक की भूमि का तो स्पर्श भी हजारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने की वेदना के समान कष्टकर होता है। वहाँ के पेड़ भी ऐसे पत्तों वाले होते हैं, जो एक भी शरीर पर गिर जाये तो तलवार के समान शरीर को चीर डालता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि अधोलोक में जीव नरकों की घोर यातनाएँ सहता है। इसीलिए महापुरुष प्राणियों को बार-बार उद्बोधन एवं उपदेश देते हैं कि पाप-कर्मों से यानी आस्रव से बचो तथा संवर और निर्जरा की आराधना करो। अन्यथा नरक गति में जाना पड़ेगा और दीर्घकाल तक वहाँ से छुटकारा नहीं मिलेगा। नरक गति में आयुष्य भी कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक होने पर तेतीस सागरोपम तक का होता है। क्या यह कम समय है ? हम तो वर्तमान काल में अनुभव करते हैं कि ऐश-आराम और सुखों में तो समय का पता नहीं चलता, किन्तु दुःख के समय में एक-एक क्षण निकलना भी कठिन हो जाता है। तब फिर नरक में हजारों वर्ष प्रतिपल असह्य दुःख में बिताना जीव के लिए कितना कठिन होता होगा ? स्पष्ट है कि अत्यन्त कठिन और कष्टकर होता है, पर मानव इस बात को समझे तथा वीतराग की वाणी पर विश्वास करके नरक में ले जाने वाले पाप-कर्मों से बचे, तभी सन्त-महापुरुषों का उपदेश सार्थक हो सकता है। भव्य पुरुष तो सन्त-समागम एवं शास्त्रीय वचनों पर आस्था रखने के कारण अधोलोक के स्वरूप को समझकर ही भयभीत हो जाते

हैं तथा अपने जीवन को अशुभ से शुभ की ओर अविलम्ब मोड़ लेते हैं। किन्तु अभव्य या नास्तिक व्यक्ति सन्तों के उपदेशों से शिक्षा तो लेते नहीं, उलटे प्रद्वन्द्व करके उनका समय बर्बाद करते हैं। हमारे पास अनेक बार ऐसे व्यक्ति, जिनमें से अधिकांश नवयुवक होते हैं, आते हैं तथा व्यर्थ के कुतर्क करके हमारा और अपना समय नष्ट करते हैं। दुःख की बात तो यह है कि वे कुतर्क करने में भी अपनी बुद्धिमानी समझते हैं।

नरक तो सात ही हैं, तब फिर किस बात की ?

एक महात्मा जी किसी नगर में पहुँचे और वहाँ के धर्म-परायण व्यक्तियों के अनुरोध से उन्होंने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। प्रवचन में उन्होंने कहा—“माइयो ! आपने जब अनन्तानन्त पुण्यों के फलस्वरूप यह दुर्लभ मानव-जीवन पा लिया है तो इससे लाभ उठाओ। इसका लाभ आपको तभी मिलेगा जबकि आप सातों कुव्यसनों का त्याग करेंगे। मांसाहार, मदिरापान, जुआ, वेश्यागमन, शिकार एवं चोरी, ये सभी कुव्यसन महान् पाप-कर्मों का बन्धन करने वाले हैं और आत्मा को नरकों में ले जाने वाले हैं। इन व्यसनों में से जो व्यक्ति एक को भी अपना लेता है, उसके पीछे अन्य व्यसनों की सेना भी चुपचाप आ जाती है तथा मनुष्य को धर दबोचती है।

महाकवि कालिदास ने यही बात राजा भोज को एक बार बड़े मनोरंजक ढंग से समझाई थी। हुआ यह कि कालिदास ने एक बार भिखारी का वेश धारण किया और ऊपर से ऐसी कंधड़ी ओढ़ी, जिसमें हजारों बड़े-बड़े छिद्र थे।

ऐसे ही वेश में वे राजा भोज के दरवार में पहुँच गये। भोज ने कवि को नहीं पहचाना और अत्यन्त साधारण भिक्षुक समझकर हँसते हुए कहा—“वाह भिक्षुक राज ! कंधा तो तुमने बड़ी अच्छी ओढ़ रखी है ? कितने छेद हैं इसमें ?

भिक्षुक रूपी कालिदास ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—“महाराज यह कंधा नहीं, मछलियाँ पकड़ने का जाल है।”

“अरे ! तुम क्या मछलियाँ खाते हो ?” राजा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

“हाँ, क्योंकि शराब पीता हूँ। शराब पीने पर माँस खाने की इच्छा तो होती ही है।”

“शराब भी पीते हो ?” भोज को बड़ा आश्चर्य हुआ। पर भिक्षुक ने तुरन्त उत्तर दिया—

“शराब तो पीनी ही पड़ती है, क्योंकि मैं वेश्या के यहाँ जाता हूँ। भला आप ही बताइये ? वेश्या के यहाँ शराब न पीने पर कैसे चल सकता है ?”

बेचारे भोज के लिए भिक्षुक की बातें बड़ी विस्मयजनक साबित हो रही थीं। उन्होंने बड़े आश्चर्य से फिर भी पूछा—“तुम वेश्याओं के यहाँ जाते हो ? पर उन्हें देने के लिए पैसा कहाँ से आता है तुम्हारे पास ? बिना पैसे के वेश्या तो अपनी बेहरी भी लाँघने नहीं दे सकती।”

बिखारी ने पूर्ववत् गम्भीरता से उत्तर दिया—“आपकी बात सच है। वेश्या बिना पैसे के अपने यहाँ नहीं आने देती, पर मैं जुआ खेलकर या चोरी करके पैसा भी तो ले आता हूँ।”

राजा भोज की आँखें तो मानो कपाल पर ही चढ़ गईं। उन्होंने घोर आश्चर्य से कहा—“तब तो लगता है कि तुम में सारे ही दुर्गुण एक के बाद एक कारके इकट्ठे हो गये हैं।”

“हाँ महाराज ! सत्य यही है कि एक दोष के आते ही दूसरे सम्पूर्ण दोष भी स्वयं उसके पास आ जाते हैं। क्या आपने वह कहावत नहीं सुनी—“छिद्रे-ष्वनर्था बहुला भवन्ति।” यानी—एक छेद से बहुत से छेद तैयार हो जाते हैं, इसलिए हमें अपने आचरण में एक भी दोष रूपी सुराख नहीं रहने देना चाहिए।

भिक्षुक के इस प्रकार कहते ही भोज ने अपने प्रिय कवि कालिदास को पहचान लिया और हँस पड़े।

तो बन्धुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि महात्मा जी ने अपने उपदेश में लोगों से यही कहा कि जो व्यक्ति जीवन में एक भी व्यसन अपना लेता है वह नेस्तनाबूद हो जाता है, तब फिर जो अज्ञानी व्यक्ति सातों ही व्यसन ग्रहण कर लेते हैं, उनको नरक के सिवाय और कहाँ स्थान मिलेगा ?

महात्मा जी की यह बात सुनते ही श्रोताओं में से एक व्यक्ति उठ खड़ा हुआ, जिसमें बताए हुए सभी व्यसन थे। वह पूछ बैठा—“महाराज, नरक कितने हैं ?”

सन्त ने सहजभाव से उत्तर दिया—“सात।”

यह सुनकर वह व्यसनी पुरुष बोला—“तब ठीक है कि नरक सात ही हैं। अन्यथा मेरी तो चौदह नरक तक जाने की तैयारी की हुई है।”

मुनिराज ने कहा—“भाई ! एक ही नरक का दुःख असहनीय है, तुम तो सातों नरकों की परवाह नहीं करते। पर जब जीव वहाँ जाता है तब पता चलता है।”

वह व्यक्ति कुतर्की था अतः संत के उपदेश पर ध्यान न देते हुए फिर पूछ बैठा—“अच्छा महाराज ! मान लीजिये कि नरक सात हैं और सभी एक-से

एक बढ़कर हैं यानी वहाँ घोर दुःख हैं। पर उनमें जाने वाले जायेंगे और दुःख भोगेंगे। किन्तु आप क्यों फिर करते हैं और क्यों उपदेश देते हैं ?”

संभवतः ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर में संत तुकाराम जी ने कहा है—

उपकारासाठी बोलो है उपाय, येण विण काय आम्हा चाड ?
बुडता है जन, न देखवे डोला, ये तो कलवला म्हणोनि ।
तुका म्हणे माझो देखतील डोले, भोग देते बैकंठे येईल कलो ।

संत कहते हैं—“माई ! हमें तुमसे कोई स्वार्थ नहीं है, न ही तुमसे कुछ लेना-देना है। हम तो केवल यही चाहते हैं कि परलोक में तुम्हें कष्ट न भोगना पड़े, इसीलिए तुम्हारी आत्मा की भलाई के लिए उपदेश देते हैं ताकि तुम शुभ कार्य में प्रवृत्ति करो और आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ो।”

आगे कहा है—“जो व्यक्ति धर्म-साधना नहीं करेगा वह संसार-सागर में गोते लगायेगा और यह हमसे देखा नहीं जाएगा। हमारी आत्मा जीवों के कष्ट से अत्यन्त कलपेगी मात्र इसीलिए हम तुम्हें समझाते हैं।”

“यह निश्चय है कि अशुभ में प्रवृत्त न होने वाला जीव शुभगति में जायेगा अपने ज्ञान के द्वारा नरक एवं तिर्यच गति में जो जीव होंगे उन्हें कष्ट पाते हुए देख सकेगा, इसीलिए हम तुम्हें समझाने का प्रयत्न करते हैं कि पाप-कार्यों को तथा कुव्यसनों को छोड़ दो ताकि हमें यह देखना न पड़े कि तुम निम्न गति में असहनीय दुःख भोग रहे हो।”

वस्तुतः संत-महापुरुष इसी प्रकार अपनी आत्मा की भलाई करने के साथ-साथ अन्य प्राणियों की भलाई करने का भी प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार आठ प्रकार की दया में से ‘स्व-दया’ एवं ‘पर-दया’ का पालन करते हैं। वे स्वयं तो पाँच समिति तथा तीन गुप्ति, जिन्हें अष्ट प्रवचन रूपी माता कहा गया है, उसे अपनाकर अपने पाँच महाव्रतों का रक्षण करते ही हैं, साथ ही श्रावकों को भी बारह अणुव्रतों के पालन की प्रेरणा अपने सदुपदेशों से देते हैं जिससे अपने कल्याण के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों का भी कल्याण हो सके। भले ही अणुव्रतों का पालन करने वाले संवर, निर्जरा और मोक्ष के मार्ग पर शनैः-शनैः बढ़ेंगे, किन्तु सही मार्ग पर चलेंगे तो देर से ही सही पर मंजिल अवश्य मिलेगी। इसी उद्देश्य को लेकर वे पाप के गलत मार्ग पर चलने वाले अज्ञानी व्यक्तियों को संवर रूपी सही मार्ग बताते हैं तथा उस पर बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं।

तो बन्धुओ प्रसंगवश कुछ आवश्यक बातें आपको बताई गई हैं जोकि अधो-

लोक या तरकों से सम्बन्धित है। अधोलोक लोक का निचला हिस्सा है और जीव के लिए घोर कष्टों का प्रदाता भी है। उस लोक में पहुँच जाने पर जैसा कि अभी मैंने आपको बताया है जीव कम से कम भी दस हजार वर्ष तक घोर यातनाएँ सहता है और अगर पापों का विशाल पुंज साथ ले गया तो तेतीस सागरोपम तक उसी प्रकार दुःख के सागर में डूबा रहता है। इसलिए लोक के स्वरूप की जानकारी करते समय अधोलोक के विषय में चिन्तन करना अत्यन्त आवश्यक है ताकि आत्मा को लोक के उस भयानक हिस्से में जाने से बचाया जा सके। जो भव्य प्राणी वीतराग के वचनों पर विश्वास रखते हुए अधोलोक की भयंकरता को समझ लेंगे, वे ऐसी करणी स्वप्न में भी नहीं करेंगे, जिसके कारण वहाँ जाना पड़े।

(२) मध्यलोक या तिरछा लोक

यह मध्यलोक अधोलोक से ऊपर और ऊर्ध्वलोक से नीचे है तथा इसकी क्षेत्र मर्यादा अठारह सौ योजन की है। इस समतल भूमि से नौ सौ योजन नीचे से लेकर नौ सौ योजन ऊपर तक। अब यह देखना है कि इस लोक में कौन-कौन रहते हैं ?

मैंने अभी आपको बताया था कि अधोलोक में दस प्रकार के भवनपति असुर एवं पन्द्रह प्रकार के अम्ब एवं अम्बरीष आदि परमाधार्मिक देवता उनके २० इन्द्र तथा नारकीय जीव होते हैं। पर मध्यलोक में उनसे भिन्न प्राणी निवास करते हैं, जिनकी संख्या गणनातीत है।

तो इस मध्यलोक में प्रथम तो मैं आपको यह बता दूँ कि यहाँ पर निम्न जाति के सोलह प्रकार के देव होते हैं, जिन्हें वाणव्यन्तर कहा जाता है। वाणव्यन्तरों में पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर एवं गन्धर्व आदि होते हैं जिनके बत्तीस इन्द्र भी रहते हैं। इनके अलावा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा इन पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव जिनमें सूर्य तथा चन्द्र, इन्द्र कहलाते हैं। ये सभी इस मध्य या तिरछे लोक में निवास करते हैं। भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदि वाणव्यन्तर इस पृथ्वी पर जंगलों में, वृक्षों पर, झाड़ियों पर या सूने और टूटे-फूटे घरों में रहा करते हैं।

इन सबके अलावा जैसा कि हम देखते हैं, यहाँ पर असंख्य तिर्यच एवं मनुष्य अपना-आपना जीवन बिताते हैं। मध्य लोक में असंख्य द्वीप और असंख्य सागर हैं। जिन्हें हम नहीं देख पाते किन्तु सर्वज्ञों ने कर-कंकणवत् इन्हें देखा है तथा इनका वर्णन किया है।

(३) ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक मध्यलोक की इस समतल भूमि से नौ सौ योजन की ऊँचाई के बाद है। उसमें बारह देवलोक हैं। नौ लोकांतिक और तीन किल्बिषी। किल्बिषी यानी पापी। आपके हृदय में आश्चर्य और सन्देह होगा कि देव बन जाने के बाद भी पापी कैसे ? इसका कारण यही है कि उच्च करणी तो की किन्तु साथ में पाप भी किया। परिणाम यही हुआ कि देव बनने पर भी निम्न या हेय जाति के किल्बिषी देव बने। हम देखते हैं कि मनुष्यों में ऊँची जाति के व्यक्ति भी होते हैं, तथा अस्पृश्य जाति के भी। इसी प्रकार लोकांतिक देवलोकों में उच्च जाति के देव होते हैं तथा किल्बिषी निम्न जाति के। ऐसे देव स्वर्गों में हेय समझे जाते हैं तथा इनका जीवन बड़े निकृष्ट ढंग से बीतता है। ये लोग आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और वैर-विरोध के कारण कर्म-बन्धन करते रहते हैं।

किल्बिषी का परिणाम

आप प्रश्न करेंगे, किल्बिषी देव बनने के क्या कारण होते हैं ? जबकि वे उच्च करणी करके देव बन जाते हैं फिर भी पापी तथा हेय क्यों कहलाते हैं ?

इस विषय में श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्याय की एक गाथा में बताया गया है—

नाणस्स केवलीणं, धम्मयारियस्स संघसाहणं ।

माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥३६-२६६॥

इस गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि —“नाणस्स यानी ज्ञान का, केवल-ज्ञानी प्रभु का, धर्माचार्य का, संघ का एवं साहणं अर्थात् साधुओं का अवर्णवाद बोलने वाला माई यानी मायावी व्यक्ति किल्बिषिकी भावना का सम्पादन करता है।”

किल्बिष का अर्थ कालिमा या कलुष होता है। जिस व्यक्ति के हृदय में औरों की निन्दा, अपवाद या अवहेलना करने की भावना होती है उसे किल्बिषी भावना वाला कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति ‘श्रुत’ की निन्दा करके ज्ञान की अवहेलना करता है, केवलज्ञानी की सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शिता आदि में शंकाएँ करता हुआ उनमें दोष बताता है, आचार्यों में अवगुण निकालता है तथा संघ की निन्दा करता हुआ साधु-साध्वियों की भी अवहेलना करता रहता है।

परिणाम यह होता है कि स्वयं अच्छी साधना या करणी करते हुए भी कपटपूर्वक जानियों की, केवलियों की, आचार्यों की, संघ की तथा साधु-साध्वियों

की निन्दा, अवहेलना तथा अपवाद करने के कारण वह अपनी आत्मा को किल्बिष युक्त तथा अवगुणों का घर बना लेता है और मरने के पश्चात् किल्बिष जाति का देव बनता है जो कि अन्य स्वर्गीय देवों के सामने चाण्डाल के समान निच एवं हेय माना जाता है। ऐसे नीच माने जाने वाले देव देवलोकों के बाह्यवर्ती स्थानों में रहते हैं तथा वहाँ का आयुष्य समाप्त करके मूक तिर्यच प्राणी बनते हैं।

आपने भगवान महावीर के जामाता जमाली मुनि के बारे में सुना ही होगा। वे स्वयं तो करनी करते ही थे, किन्तु भगवान महावीर की, उनके ज्ञान एवं सर्वज्ञता की घोर निन्दा करते थे। ऐसे व्यक्ति ही अपनी तपस्या के कारण देवगति प्राप्त करके भी अपनी किल्बिष भावना के कारण चाण्डाल के समान किल्बिषी देवता बनते हैं। साधना करते हुए भी कपट रचना तथा ज्ञान, भगवान, धर्माचार्य, संत तथा साधु की निन्दा करना किल्बिषी होने के लक्षण हैं।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि बारह देवलोक तक देव और इन्द्र रहते हैं और उससे ऊपर अहमिन्द्र। उनसे ऊपर पाँच विमान और फिर सिद्धशिला स्थित है। इन सबको उल्लाँघ जाने वाला जीव जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। मृत्यु करते हुए मानवाकार लोक के ऊपरी हिस्से में कपाल का स्थान सिद्धशिला कहलाता है तथा उसके ऊपर निराकार भाग है। इस प्रकार अधोलोक मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक का स्वरूप वर्णन किया जाता है।

तीनों लोकों में उत्तम कौनसा है ?

बन्धुओ ! अभी हमने लोक के तीनों अंगों का स्वरूप समझा है। पर केवल उनकी रचना, क्षेत्र या उनमें कौन-कौन रहते हैं यह जान लेने मात्र से ही हमारा विशेष लाभ नहीं है। लाभ हमें तभी हासिल हो सकता है जबकि हम इन तीनों लोकों के स्वरूपादि को समझकर आत्मा को इन तीनों से ऊपर मुक्ति-धाम में पहुँचाएँ। हमें यही जानना है कि कौनसा लोक ऐसा है, जिसमें रहकर हम अपने इस उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त करते हैं ?

तीनों लोकों के स्वरूपों को जानने के लिए अभी हमने अधोलोक को लिया था, जिसमें नारकीयों, असुरों और परम-अधर्मी देवों का निवास है। मैं जानता हूँ कि आपमें से एक भी व्यक्ति नारकीय जीवन को स्वप्न में भी अपनाता पसन्द नहीं करेगा। यह ठीक भी है, भला नारकीय बनना किसे पसन्द आ सकता है ? रही बात वहाँ होने वाले भवनवासी या परमाधर्मी देवों की। भले ही वे देव कहलाते हैं, किन्तु वैसे देव बनने से भी कौनसा लाभ है ?

‘श्री उत्तराध्ययन सूत्र’ में कहा गया है—

अणुबद्धरोसपसरो,

तह य निमित्तन्मि होई पडिसेवि ।

एएहि कारणेहि,

आसुरियं भावणं कुण्ड ॥ ३६-२६७॥

अर्थात्—निरन्तर अपार क्रोध करने वाला और निमित्तादि का शुभाशुभ फल बताने वाला आसुरी-भावना को उत्पन्न करता है ।

गाथा का भावार्थ यही है कि हर समय क्रोध करना तथा शुभाशुभ फल के उपदेश में प्रवृत्त रहना आसुरी भावना का द्योतक है । जो व्यक्ति इस प्रकार की आसुरी भावना निरन्तर रखता है तथा अन्त तक भी अपने पापों की आलोचना किये बिना मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह विराधक होता है । ऐसा जीव मृत्यु के पश्चात् नरक में असुर बनता है । असुर देव कहलाते हुए भी ऊँचे स्वर्गों के वैमानिक देवों की अपेक्षा बहुत कम सुख और समृद्धि वाले होते हैं । उनका काम नारकीय जीवों को घोर दुःख पहुँचाना होता है ।

नारकीय जीवों के लिए ‘छहढाला’ पुस्तक में कहा है—

तिल-तिल करे देह के खण्ड, असुर भिड़ावे दृष्ट प्रचण्ड ।

प्रथम तो नारकीय जीव ही आपस में कुत्तों के समान लड़ते हैं और एक-दूसरे के शरीर के तिल के जितने-जितने टुकड़े कर देते हैं । पर उनके शरीर पारे के समान पुनः जुड़ जाते हैं । आगे कहा है—अत्यन्त दृष्ट एवं क्रूर भावना रखने वाले असुर जाति के देव भी पहले, दूसरे तथा तीसरे नरक तक जाकर नारकीयों को अपने अवधिज्ञान के द्वारा आपसी वैर की याद दिलाकर बुरी तरह लड़ने के लिए भिड़ा देते हैं और स्वयं उन्हें लड़ते हुए देखकर आनन्दित होते हैं ।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि नारकीय बनना तो महान दुर्भाग्य है ही, साथ ही वहाँ पर भवनवासी असुर या परम-अधर्मी देव बनना भी निकृष्ट है । दूसरे शब्दों में अधोलोक स्वप्न में भी वाञ्छा करने लायक नहीं है ।

इसी प्रकार उर्ध्वलोक का भी हाल है । भले ही साधना करके देवगति का बन्ध कर लिया, किन्तु साथ में किल्बिष भावना रहने के कारण कपटपूर्वक ज्ञान, ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ एवं साधु-साध्वी की निन्दा, आलोचना या अवहेलना की तो वहाँ भी चाण्डाल के समान देव बने और अगर पुण्य ने जोर मारा तथा ऊपरी स्वर्गों में देवयोनि प्राप्त कर ली तो लाभ केवल यही हुआ कि जब तक वहाँ का आयुष्य रहा भोगों को भोगने में पूर्व पुण्यों को तो समाप्त कर लिया

पर नया उपार्जन रंचमात्र भी नहीं किया अर्थात् मूल पूंजी बैठे-बैठे खा गये; नया एक पैसा भी नहीं कमाया। फल यह हुआ कि दिवालिया बनकर फिर नीचे उतर आये और हाथ-पैर मारने लगे।

मेरी इस बात से आप समझ गये होंगे कि जीव का स्वर्ग में पहुँच जाना या उच्च देवलोकों में देव बन जाना भी कोई महत्त्व नहीं रखता। सिवाय संचित पुण्यों को समाप्त करने के वह आत्मा की भलाई के लिए वह वहाँ पर कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए स्वर्ग की इच्छा करना भी व्यर्थ है।

अब हमारे सामने तिरछालोक या मध्यलोक आता है। आप अवश्य ही समझते हैं कि मध्यलोक—अधोलोक और उर्ध्वलोक से उत्तम है। किन्तु यह भी समझ लीजिए कि मध्यलोक में जन्म लेने वाले सभी प्राणी इसकी उत्तमता का लाभ नहीं उठा सकते। इस मध्यलोक में असंख्य तिर्यच प्राणी हैं। वे नारकीयों के समान ही कष्टकर जीवन व्यतीत करते हैं। हिंसक पशु अन्य जीवों को मारकर खाते हैं और निरीह प्राणी मौत के घाट उतरते हैं। घोड़े, बैल, गधे आदि शक्ति से अधिक भार बाहन करके और ऊपर से भार खा-खाकर अधमरे बने रहते हैं। इन सबके अलावा यहाँ वाणव्यंतर देव, यक्ष, राक्षस, भूत एवं पिशाच आदि भी हैं जो अपनी निम्न करणी या अन्य किन्हीं पापों के कारण या तो अन्य प्राणियों को सताते फिरते हैं या उद्देश्य-हीन भटकते हैं। अपनी आत्मा की भलाई यानी उसे कर्म-मुक्त करने के लिए वे कुछ नहीं कर सकते।

अब बचे मनुष्य; मनुष्यों में भी सभी आत्म-कल्याण का प्रयत्न नहीं कर पाते। असंख्य मनुष्य तो जन्म से ही गूँगे, बहरे, अपंग या रोगी होते हैं, असंख्य ऐसे होते हैं जो अनार्य कुल, क्षेत्र या जाति में उत्पन्न होने के कारण जीवन भर धर्म किस चिड़िया का नाम है यह नहीं जान पाते। अनेक ऐसे भी होते हैं जो कि अच्छे कुल या क्षेत्र में जन्म लेने पर भी सत्संगति के अभाव से धर्म के मर्म को नहीं समझते।

इस प्रकार बहुत थोड़े व्यक्ति ही ऐसे मिलते हैं जो मनुष्य-जीवन को लाभान्वित करने का मार्ग सन्तों के समागम से या शास्त्रीय वचनों से जान लेते हैं, उस पर विश्वास करते हैं और विश्वास करने के पश्चात् आचरण में भी उतारते हैं।

‘छहढाला’ में बताया गया है—

यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवाणी;
इह विधि गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी।

कहा गया है कि—यह मानव-जीवन, उत्तम कुल और जिन वचनों के श्रवण का सुयोग बीत जाने पर पुनः-पुनः नहीं मिलते, जिस प्रकार समुद्र में गिरा हुआ रत्न पुनः हाथ में नहीं आता ।

इस बात को वे ही व्यक्ति समझ पाते हैं जो सन्तों के द्वारा वीतराग-प्ररूपित वचनों को सुनते हैं । सन्त-महात्मा किसी से धन-पैसा नहीं लेते और न ही किसी तरह की स्वार्थ-भावना उनके हृदय में रहती है । वे प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणा भाव होने के कारण सदुपदेश देते हैं और उन्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं । इसीलिए भव्य प्राणी उनके समागम से प्रसन्न होता है तथा अपनी आत्मा के लिए हितकारी प्रेरणा ग्रहण करता है । कहा भी है—

धुनोति द्वयथुं स्वान्तात्तनोत्यानदथुं परम् ।

धिनोति च मनोवृत्तिमहो साधु-समागमः ॥

—श्रादिपुराण, ६-१६०

अर्थात्—साधु-पुरुषों का समागम मन के सन्ताप को दूर करता है, आनन्द की वृद्धि करता है और चित्तवृत्ति को सन्तोष देता है ।

किन्तु बन्धुओ, इस संसार में सभी मनुष्यों की विचारधारा समान नहीं होती । किन्हीं को त्याग-तपस्या में आत्मिक सुख हासिल होता है और किन्हीं को सांसारिक सुखोपभोगों में । इसी प्रकार कोई सन्त-महात्माओं की संगति में रहना पसन्द करता है और कोई कुव्यसनधारी दुर्जन व्यक्तियों का साथ करता है ।

सन्त तुकाराम जी ऐसे मूर्ख और दुराचारी व्यक्तियों को ताड़ना देते हुए कहते हैं—

साधु दर्शना न जासी गवारा,
वेश्येचिया घरा, पुष्पे नेसी ।
वेश्यादासी मुरली, जगाची ओंगली,
ती तुज सोवली-वाटे कैसी ?
तुका म्हणे कांही लाज घरी लुच्च्या,
टाचराच्या कुच्या भारा वेगी ॥

यानी—“अरे गँवार ! तू सन्त-महात्माओं के यहाँ अथवा मन्दिर में देव-दर्शनों के लिए तो जाता नहीं है, पर वेश्या के यहाँ फूल लेकर चल देता है जो कि दुनिया के लिए अमंगल स्वरूप और मनुष्य के जीवन को ही सर्वथा निरर्थक कर देने वाली होती है ।”

आगे कुछ और भी कड़े शब्दों में कहते हैं—“रे लुच्चे दुराचारी ! कुछ तो लज्जा रख, अन्यथा लोग तुझे ठोकड़ों से मारकर एक ओर कर देंगे।”

कहने का अभिप्राय यही है कि अज्ञानी और मूर्ख व्यक्ति जो कि लोक के स्वरूप को नहीं जानते और तीनों लोकों में प्राप्त होने वाले धोर दुःखों के या अल्पकालीन मिथ्या सुखों की वास्तविकता नहीं समझते, वे अकरणीय कार्य करते हैं और करणीय के समीप भी नहीं फटकते। अपने अज्ञान या मिथ्याज्ञान के कारण ऐसे व्यक्ति सद्गुणों का संग्रह करने की बजाय दुर्गुणों में आनन्द मानते हैं और उनके अनुसार पाप-कार्यों में प्रवृत्त रहकर अपना परलोक बिगाड़ लेते हैं।

इस प्रकार के दुर्जनों को साधु-पुरुष येन-केन-प्रकारेण सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। कभी वे दुर्गुणी व्यक्तियों को स्नेहपूर्वक समझाते हैं, न समझने पर ताड़ना देते हैं और कभी-कभी चतुराई से उलटी बातों के द्वारा भी उन्हें सीधा रास्ता बताते हैं। एक छोटा-सा उदाहरण है—

महात्माजी की बुद्धिमानी से व्यसन छूटे !

किसी गाँव में एक धनी और सब तरह से सम्पन्न व्यक्ति रहता था। उसके एक ही लड़का था अतः अधिक लाड़-प्यार पाने के कारण वह कुव्यसनों में पड़ गया। परिणाम यह हुआ कि मद्य, मांस तथा वेश्या-गमन आदि भयानक व्यसनों का उसके शरीर पर कुप्रभाव हुआ और वह बीमार हो गया।

पिता के पास धन की कमी तो थी नहीं, अतः उसने अनेक वैद्यों और हकीमों का इलाज कराया तथा कीमती दवाओं का सेवन कराया। किन्तु उन सबका कोई फल नहीं मिला अर्थात् लड़के की बीमारी ठीक नहीं हो सकी।

बेचारा बाप इकलौते बेटे की चिन्ता के कारण धुला जा रहा था कि उस गाँव में एक दिन संत-प्रकृति के एक वैद्यजी आये। धनी व्यक्ति ने उन्हें भी बुलाया और अपने पुत्र की बीमारी के विषय में बताया। वैद्यजी संत थे और निःस्वार्थ भाव से दवा आदि दिया करते थे। स्वयं उनका जीवन बड़ा संयमित, त्यागमय एवं साधनापूर्ण था। लड़के को देखकर वे जान गये कि इसकी हालत कुव्यसनों के कारण बिगड़ी है और जब तक उन्हें नहीं छुड़ाया जायेगा, कोई दवा कारगर नहीं हो सकेगी। अतः मन ही मन विचार करके उन्होंने रोगी को पहले कुछ साधारण औषधि प्रदान की।

लड़के की बुरी आदतें छूटी नहीं थी अतः उसने पूछा—

“महाराज ! मुझे पथ्य परहेज क्या रखना पड़ेगा ? वह सब मेरे लिए बड़ा कठिन है।”

वैद्यजी ने शांति से उत्तर दिया—“डरो मत, मेरी दवा लेते समय तुम्हें कोई व्यसन छोड़ना नहीं पड़ेगा।”

लड़का यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और दवा लेने लगा। परहेज तो कोई था नहीं अतः मदिरा-मांसादि नशीली चीजों को भी वह काम में लेता रहा। वैद्यजी ने भी कुछ नहीं कहा और धैर्यपूर्वक दवा देते रहे।

एक दिन अचानक ही बीमार लड़के ने महात्माजी, जो कि बड़े अनुभवी चिकित्सक भी थे, उनसे पूछा—“अब तक जितने वैद्य-हकीम आये, सब मुझे शराब आदि व्यसन छोड़ने के लिए कहते रहे अतः मुझे चोरी-चोरी उन्हें लेना पड़ा। किन्तु आप तो बहुत अच्छे वैद्य हैं कि मुझे कुछ भी छोड़ने के लिए नहीं कहते। पर मैं सोचता हूँ कि आपने मुझे व्यसन छोड़ने के लिए क्यों नहीं कहा?”

अब सुन्दर सुयोग पाकर महात्मा जी ने कहा—“बेटा ! व्यसन तो बहुत लाभकारी होते हैं इसीलिए मैंने तुमसे उन्हें छोड़ने के लिए नहीं कहा।”

लड़का चकित हुआ और बोला—“व्यसन लाभकारी होते हैं वह कैसे ? मुझे तो यह बात आज तक किसी ने नहीं बताई। सभी इन्हें बुरा-बुरा कहते हैं। आप ही बताइये कि इनमें कौन-कौन से लाभ या गुण हैं ?”

वैद्यजी बोले—“भाई ! शास्त्रों में व्यसनों के चार गुण बताये गये हैं। जो मनुष्य व्यसनी एवं नशेबाज होता है उसके यहाँ एक तो चोर नहीं आते, दूसरे शरीर मोटा-ताजा हो जाता है, तीसरे उसे पैदल नहीं चलना पड़ता और चौथा सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसे वृद्धावस्था का दुःख ही नहीं उठाना पड़ता।”

बीमार लड़का महात्माजी की ये बातें सुनकर और भी अधिक चकित हुआ और आश्चर्य से पूछने लगा—“महात्मा जी ! ये चारों लाभ किस प्रकार होते हैं, जरा समझाकर बताइये।”

वैद्यजी बोले—“देखो ! जो व्यक्ति नशा करता है उसे खांसी का ऐसा महान् रोग हो जाता है कि रातभर खांसते रहने से चोर यह समझकर घर में नहीं घुसते कि कोई व्यक्ति जाग रहा है। दूसरे व्यसनी का शरीर सूजन से फूल जाता है अतः वह खूब मोटा-ताजा दिखाई देता है। तीसरा लाभ इस प्रकार है कि नशेबाज की शारीरिक शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह चल ही नहीं पाता अतः उसे पैदल नहीं चलना पड़ता और चौथा या सबसे बड़ा लाभ यही

है कि उसकी मृत्यु युवावस्था में ही हो जाती है अतः वृद्धावस्था का दुःख नहीं भुगतना पड़ता ।”

बैद्यजी की यह बात सुनते ही लड़के को तो मानो काठ मार गया । कुछ समय स्तब्ध रहकर वह बोला—“महात्माजी ! मैं आपकी चतुराई एवं बुद्धिमानी का कायल हो गया हूँ कि आपने कितने सुन्दर ढंग से मुझे व्यसनों की भयंकरता तथा उनसे होने वाले दुष्परिणामों के विषय में समझाया है । आज से मैं सभी व्यसनों का सर्वथा त्याग करता हूँ ।”

महात्माजी लड़के की बात सुनकर बड़े सन्तुष्ट हुए और आशीर्वाद देते हुए उसे दवा दी । जिसका सेवन करके वह कुछ दिनों में ही पूर्ण स्वस्थ हो गया ।

बन्धुओ ! सन्त-पुरुष इस प्रकार भी लोगों को सत्पथ पर लाते हैं । जैसा कि अभी मैंने कहा था साधु-पुरुष कुमार्गगामी व्यक्तियों को स्नेह से उपदेश देते हुए समझाते हैं, कभी भर्त्सना करके भी सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं और आवश्यकता होने पर बुद्धिमानी से भी लोगों के दिल बदलने की कोशिश करते हैं । यह सब वे पूर्ण निस्वार्थता एवं करुणा की भावना से करते हैं । कोई भी लोभ, लालच या स्वार्थ उनके हृदय में नहीं होता ।

इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है—

“कुञ्जा साहर्हि संथवं ।”

अर्थात्—हमेशा साधुजनों के साथ ही संस्तव अर्थात् सम्पर्क रखना चाहिए । वस्तुतः साधु-पुरुष ही मानव को लोक के सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं, इनमें प्राप्त होने वाले दुःखों के विषय में बताते हैं तथा उसे इस संसार से यानी तीनों लोकों से ऊपर मुक्तिधाम में पहुँचाने का तप, त्याग, साधना एवं धर्ममय मार्ग सुझाते हैं ।

पं० दौलतराम जी ने भी लोक भावना का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए यह बताते हुए कहा है—

किनहू न करौ न धरै को; षड्द्रव्यमयी न हरे को ।

सो लोक मांहि बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ॥

भव्य पुरुष को विचार करना चाहिए कि—“इस लोक को जैसा कि अन्य मतों में कहा जाता है, ब्रह्मा आदि किसी ने नहीं बनाया है, शेषनाग आदि ने अपने ऊपर टिका भी नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसी के द्वारा नष्ट भी नहीं किया जा सकता है ।”

“यह छह द्रव्यमय लोक स्वयं से ही अनादि अनन्त है तथा सभी द्रव्य स्व-स्वरूप में स्थित रहकर निरन्तर अपनी पर्यायों से उत्पाद एवं व्यय रूप परिणमन करते रहते हैं। किसी द्रव्य का दूसरे में अधिकार नहीं है; ऐसा यह लोक मुझसे भिन्न है, मैं भी इससे भिन्न हूँ। मेरा स्वरूप तो शाश्वत चैतन्य लोक है। समता या वीतरागता के अभाव में जीव कर्म-बन्धन करता हुआ तीनों लोकों में भ्रमण करता रहता है तथा नाना प्रकार के दुःख भोगता है। इसलिए मुझे इस दुःखमय लोक से मुक्त होना है तथा शुभ करणी करके शिवलोक में शाश्वत आनन्द प्राप्त करना है।”

जो भव्य प्राणी इस प्रकार ‘लोक-भावना’ भाते हैं, वे निश्चय ही अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके पाँचवीं गति या मोक्ष-लोक को हासिल करते हैं। कहा भी है—

विषयों से कर विमुख मन, करो सदा शुभ ध्यान ।
सोचो लोक स्वरूप को, पाओ पद निर्वाण ॥

○

हे धर्म ! तू ही जग का सहारा

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारा विषय संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों को लेकर चल रहा है और उनमें से चालीस भेदों पर विवेचन किया जा चुका है। आज इकतालीसवें भेद को लेना है जो कि 'धर्म-भावना' है। यह भावना बारह भावनाओं में से ग्यारहवीं है तथा आत्मा का उद्धार करने वाली है।

आप जानते हैं कि धर्माचरण से जीवात्मा कर्म-मुक्त होता है, किन्तु धर्माचरण से पहले धर्म-भावना अन्तर्मानस में आनी चाहिए, तभी वह धीरे-धीरे आचरण को धर्ममय बना सकेगी। उदाहरणस्वरूप वृक्ष में पहले फूल आते हैं और तब फल होते हैं। पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया जाय तो एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है कि वृक्ष में जितने फूल लगते हैं, उतने फल नहीं लगते क्योंकि हवा के झोंकों से या किसी भी प्रकार के साधारण आघात से ही अनेक फूल झड़ जाते हैं। इसके पश्चात् जितने फूल, फल में परिणत होते हैं वे भी सभी नहीं पक पाते, क्योंकि अनेक प्रकार के पक्षी या गिलहरी आदि जानवर कच्चे फलों को खाते हैं या कुतर-कुतर कर पेड़ से गिरा देते हैं।

यही हाल धर्माचरण का भी होता है। धर्माचरण फल है और धर्म-भावना फूल, जिसके पहले आने पर ही आचरण रूपी फल प्राप्त होता है। भले ही अनेक बार धर्म-भावना रूपी फूल आने पर भी आचरण रूपी फल हासिल नहीं हो पाता; क्योंकि भावना मिथ्यात्व, प्रमाद, कुसंग या सन्देह के कारण बदल जाती है या मिट जाती है, पर फल हासिल तो तभी होगा, जबकि भावना रूपी फूल पहले होगा ही।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को धर्माचरण से पहले धर्म-भावना का चिन्तन करना चाहिए और उसके मानस में उत्पन्न हो जाने पर कषाय एवं मिथ्यात्व

आदि जन्तुओं से उसे बचाकर सुरक्षित रखना चाहिए। यह भी ख्याल रखना चाहिए कि अज्ञान के झोंके उसे आत्मा से पुनः अलग न कर दें तथा अविश्वास एवं शंका रूपी कीड़े पकने से पहले ही फल को खोखला न बना दें।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने धर्म-भावना के विषय में लिखा है—

अहो चिदानन्द परछन्द बन्ध भयावह
 देख तू सिद्धांत संदंबंद दुखदायी है।
 देव गुरु धर्म तीन, निश्चय व्यवहार चिह्न,
 समकित सत्य बिन नाम ये भराई है ॥
 यह सन्त सार यार तजे सो कुवार होई,
 एक बार फंसे से तो निश्चय बुराई है।
 आदिश्वर नन्द सुखकंद भाई भावना को,
 कहत तिलोक भावे सोही मुक्ति जाई है ॥

कविश्री पद्य में बड़ी भात्मिकता से अपनी आत्मा को ही समझाते हैं और यही महानता का लक्षण हैं। हम देखते ही हैं कि इस संसार में लोग अपने अव-गुण नहीं देखते, औरों के देखते हैं। स्वयं को उपदेश नहीं देते, दूसरों को देने के लिए तैयार रहते हैं।

संस्कृत में कहा भी है—

“परोपदेशे पांडित्यम् सर्वेषाम् सुकरं नृणाम्।”

यानी—दूसरों को उपदेश देने से पांडित्य का प्रदर्शन करना मनुष्यों के लिए बड़ा सरल है।

वस्तुतः औरों को शिक्षा देने का जहाँ सवाल है, वहाँ मनुष्य नहीं चूकता। फौरन अनेक बातें सीख के रूप में कह देता है। जैसे—“दान दो, शील पालो, तप करो, इत्यादि इत्यादि।” किन्तु अगर उन्हीं बातों को स्वयं करने का प्रसंग आ जाता है तो धन पर आसक्ति होने के कारण वह खर्च नहीं किया जाता, मन पर वश न होने से शील नहीं पाला जाता और शरीर को कष्ट होता है इसलिए तपाचरण नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि औरों को उपदेश देना सरल है पर उस उपदेश को स्वयं अपने आचरण में उतारना कठिन है।

किन्तु संसार के सभी मानव एक सरीखे नहीं होते। कुछ ऐसे महामानव होते हैं जो औरों को उपदेश देने से पहले उसे अपने जीवन में उतारते हैं।

दूसरे शब्दों में जब वे अपने जीवन को दोष-रहित बना लेते हैं, तब औरों को दोषों या दुर्गुणों का त्याग करने के लिए कहते हैं।

पूज्यश्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ही ऐसे महान्पुरुष थे। वे अपनी आत्मा से ही कहते हैं—“हे आत्मन् ! तू अपनी ओर देव तथा अपने स्वरूप की पहचान कर। दूसरा क्या करता है, उस ओर तुझे देखने की आवश्यकता ही क्या है ? तेरी आत्मा ही तुझे संसार-सागर में डुबोने वाली है और वही इससे पार उतारने वाली भी है।”

आगे कहा है—“दूसरों के स्वभाव-धर्म को पकड़ना छन्द है, तकलीफ देने वाला है। यहाँ जानने की आवश्यकता है कि ‘स्व-धर्म’ और ‘पर-धर्म’ क्या है ? स्व-धर्म है अपनी आत्मा में रहा हुआ ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तथा शक्ति, संतोष एवं सरलता आदि और पर-धर्म है क्रोध, मान, माया, लोभ, राग एवं द्वेष आदि।”

तो निज-धर्म को छोड़कर पर-धर्म को अपनाना अत्यन्त हानिकर एवं भयावह है। भगवद्गीता में तो यहाँ तक कहा गया है कि—

“स्वधर्मो निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।”

अर्थात्—निज-धर्म में रमण करते हुए तो मरण भी श्रेयस्कर है किन्तु पर-धर्म को अपनाना उससे कई गुना भयानक एवं कष्टकर है।

उदाहरणस्वरूप स्व-धर्म में रमण करने वाले प्राणी संसार-सागर से तैर गये, किन्तु पर-धर्म को ग्रहण करने वाले आज भी कुख्यात हैं तथा निन्दा के पात्र बनकर स्मरण किये जाते हैं। यथा—पूर्वजन्म में मुनि होने पर भी क्रोध के कारण उनका जीव चण्ड कौशिक सर्प बना, उस योगि में नाना यातनाएँ सही और आज भी किसी क्रोधी को उपमा देने के लिए चण्डकौशिक सर्प को याद किया जाता है।

मान के कारण रावण, दुर्योधन और दुःशासन की क्या दशा हुई थी इसे आप अच्छी तरह जानते ही हैं। वे लोग निन्दा और धिक्कार के ऐसे पात्र बने कि प्रातःकाल उनका नाम लेना भी कोई पसन्द नहीं करता और न ही कोई भूलकर भी अपने बच्चों का रावण, कंस या दुर्योधन नाम ही रखता है।

इसी प्रकार माया या कपट का हाल है। ‘सत्यकोष चरित्र’ में वर्णन है कि कपट के कारण गोबर खाया गया, फिर भी सत्य बाहर आ ही गया। चौथा कषाय लोभ है। लोभी व्यक्ति की दुर्दशा भी हम आये दिन देखते रहते हैं। इसी जीवन में और अगले जीवन में तो उनका भगवान ही मालिक होता है।

श्री स्थानांगमूत्र में कहा गया है—

“किमिरागरत्तवत्थ समाणं लोभं अणुपविट्ठे जीवे,
कालं करेइ नेरइएसु उव्वज्जति ।”

अर्थात्—कृमिराग यानी मजीठ के रंग के समान जीवन में कमी नहीं छूटने वाला लोभ आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है ।

इसीलिए आत्मा से कहा गया है कि—“तू निज-धर्म को भूलकर कषायादि पर-धर्म को अपनाकर निरर्थक दुःखों का माजन क्यों बनता है ? जरा विचार-कर कि तू कौन है, और तुझ में कौसी अनन्त शक्ति छिपी हुई है ? पर-छन्द में लगकर तू कायर और निर्बल बन गया है जैसे भेड़ों के बीच में रहने वाला सिंह-शावक ।

कहा जाता है कि एक गड़रिया जंगल से अपनी भेड़ों को लाते समय सिंह के एक नन्हें से बच्चे को भी घेरकर ले आया । वह बच्चा छोटा था अतः नहीं जानता था कि मैं वन को गुंजाने वाले बनराज का पुत्र हूँ और मुझ में इतनी शक्ति है कि एक गर्जना करते ही सारी भेड़ों को गड़रिये के समेत ही यहाँ से भगा सकता हूँ ।

तो अपनी शक्ति से अनभिज्ञ होने के कारण सिंह का बच्चा गड़रिये की मार खाता हुआ भेड़ों के साथ आ गया और उन्हीं के साथ रहने लगा । जिस प्रकार भेड़ें रहतीं, वह भी रहता और जिस प्रकार वे डंडों की मार खातीं, वह भी खा लेता ।

पर एक दिन जब वह भेड़ों के साथ जंगल में गया तो वहाँ एक सिंह आ गया । सिंह ने जब भेड़ों के बीच अपनी ही जाति के छोटे सिंह को देखा तो चकित होकर सोचने लगा—“यह क्या ? सिंह होकर यह भेड़ों के साथ भटक रहा है ?”

इस प्रकार का विचार मन में आने से वह किसी भेड़ को शिकार बनाना तो भूल गया और गर्जना करके सिंह के बच्चे को चेतावनी देने लगा । सिंह के बच्चे ने जब गर्जना करते हुए ठीक अपने ही समान दूसरे प्राणी को देखा तो तनिक-सा प्रयत्न करते ही वह भी गर्जना कर बैठा । परिणाम यह हुआ कि सारी भेड़ें और गड़रिया वहाँ से जान बचाकर भाग निकले और सिंह का बच्चा अपनी शक्ति को पहचान कर सिंह के साथ वन में चला गया ।

बन्धुओं, यही हाल अपनी आत्मा का भी है । यह आत्मा क्रोध, मान, माया एवं लोमादि पर-धर्म में लिप्त होने के कारण संसार-समुद्र में गोते लगाती रहती है । वह यह नहीं समझ पाती कि मुझमें स्वयं इतनी शक्ति है कि अगर

चाहूँ तो क्षण भर में ही इसके एक किनारे से दूसरे किनारे पर पहुँच जाऊँ । उस सिंह के बच्चे के समान जो कि तब तक भेड़ों के साथ खूँटे से बँधा रहा, जंगलों में भटकता रहा और गड़रिये की मार खाता रहा, जब तक कि दूसरे सिंह को देखकर उसे अपनी शक्ति का भान नहीं हुआ ।

पद्य में कवि इसीलिए अपनी आत्मा को जगाने का प्रयत्न करते हैं तथा अन्य महापुरुष और संत-महात्मा भी प्राणियों को अपनी आत्म-शक्ति का भान उपदेशों के द्वारा कराने की कोशिश करते हैं । पर जो भव्य-प्राणी होते हैं वे उस सिंह के बच्चे के समान जो एक ही गर्जना से अपनी शक्ति को पहचान गया था, तनिक से उपदेश से ही चेत जाते हैं पर बाकी अनेक मनुष्य जीवन भर उपदेश सुनकर भी अपनी आत्मा में छिपे हुए महान् गुणों को तथा उनकी शक्तियों को नहीं जान पाते । ऐसा इसीलिए होता है कि वे आत्म-धर्म को जानने के बजाय पर-धर्म के पीछे दौड़ते हैं ।

पूज्य महाराज श्री आगे कहते हैं—“अरे आत्मन् ! अगर तू अपना भला चाहता है तो सच्चे देव, सच्चे गुरु एवं सच्चे धर्म को समझ, निश्चय एवं व्यवहार को पहचान तथा भली-भाँति समझ ले कि सच्चे सम्यक्त्व के बिना तू नाम का ही मानव है, मनुष्य-जन्म को सार्थक करने की योग्यता तुझमें नहीं है ।

सच्चे देव

इस संसार में हम देखते हैं कि देवताओं की कमी नहीं है । संभवतः तेतीस करोड़ देवी-देवताओं को लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करते हैं । अब इन सबमें से सच्चे देव कौन से हैं यह पहचान करना बड़ा कठिन है ।

किसी ने कहा है—

जगत के देव सब देखे, सभी को क्रोध भारी है,
कोई कामी कोई लोभी, किसी के संग नारी है ।

वस्तुतः सच्चे देव की पहचान करने के लिए गम्भीर चिंतन की आवश्यकता है । देखा जाता है कि अनेक देवों की मूर्तियाँ अपनी पत्नी सहित होती हैं । शिव के साथ पार्वती, कृष्ण के साथ राधा, विष्णु के साथ लक्ष्मी और राम के साथ सीता रहती हैं । तो जो देव नारी के मोह से स्वयं को नहीं छुड़ा पाते, वे भला वीतराग कैसे माने जा सकते हैं ? इसी प्रकार किसी देव के साथ मुद्गर या गदा रहती है, जिससे साबित होता है कि उन्हें अपनी शक्ति का गर्व है और किसी पर क्रोध आ जाये तो वे उसका नाश कर सकते हैं । शीतला देवी या महाकाली के प्रकोप से लोग कितना डरते हैं, यह हम आये दिन देखते

ही हैं। सारांश में, देव या देवी नाराज न हो जाएँ, इसलिए लोग उनके समक्ष अमुक फूल या अमुक वस्तु चढ़ाते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें सन्तुष्ट रखने के लिए पहले तो नर-बलि भी दिया करते थे, पर अब राज्य द्वारा दण्डित होने के मय से मुर्गी या बकरों का बलिदान करते हैं। कहीं-कहीं भैसे भी मौत के घाट उतारकर देवी-देवताओं को प्रसन्न किया जाता है।

ऐसी स्थिति में भला उन्हें सच्चा देव या देवी माना जा सकता है क्या? पर लोग मानते हैं। वे भैरव, भवानी, शीतला, बजरंगवली और ऐसे ही अनेक देवी-देवताओं की पूजा करके विचार करते हैं कि ये हमारा कल्याण करेंगे। ऐसे व्यक्ति यह नहीं सोचते कि आत्म-कल्याण तो कर्मों से सर्वथा मुक्त होने में है और कर्म-मुक्ति तभी हो सकती है जबकि कर्मों से मुक्त देवों की आराधना की जाय।

हमारे आगम कहते हैं—

भवबीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनोवा नमस्तस्मि ॥

—वीतराग स्तोत्र, प्रकरण २१-४४

अर्थात्—जन्म-मरण के बीज को उत्पन्न करने वाले राग-द्वेषादि जिनके नष्ट हो गये हैं, वह नाम से चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो, उसे नमस्कार है।

कितनी सुन्दर भावना है? हमारा दर्शन किसी की निन्दा नहीं करता, किसी की अवहेलना नहीं करता और किसी की आराधना करने से इन्कार नहीं करता। यह केवल इतनी ही अपेक्षा रखता है कि व्यक्ति के आराध्य को नष्ट राग-द्वेष वाला एवं जन्म-मरण से मुक्त हो जाने वाला होना चाहिए। भले ही उस आराध्य का नाम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो, राम हो, कृष्ण हो, ईसा हो, बुद्ध या महावीर हो।

यही विचार अक्षरशः यथार्थ भी है क्योंकि वही देव अन्य प्राणियों को तारने में सहायक बन सकेगा जो स्वयं संसार सागर को तैरकर पार कर चुका होगा।

सच्चे गुरु

अब सच्चे गुरु की पहचान का सवाल सामने आता है। आज हमारे सामने अपने-आपको गुरु मानने वालों की भी भरमार है। कदम-कदम पर ऐसे गुरु प्राप्त होते हैं जो किसी भी विशेष प्रकार का बाना पहनकर अपने आपको महात्मा

कहलवाने लगते हैं। पर सोचा जाय कि उनमें गुरु बनने के लक्षण हैं या नहीं तभी पहचान हो सकती है और वे सच्चे गुरु कहला सकते हैं।

योगशास्त्र में गुरु के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

महाव्रतधरा, धीरा, भंक्षमात्रोपजीविनः ।

सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मतः ॥

अर्थात्—अहिंसा, मत्य, अचीर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, इन पाँचों महान्-व्रतों का पालन करने वाले, धैर्यवान, शुद्ध भिक्षा से जीवन-निर्वाह करने वाले, संयम में स्थिर रहने वाले तथा सच्चे धर्म का उपदेश देने वाले महात्मा गुरु माने गये हैं।

बन्धुओ, इन लक्षणों की कसौटी पर कसकर ही हम जान सकते हैं कि गुरु कहलाने की क्षमता किसमें है। आज हम देखते हैं कि अनेक शहरों में बड़े-बड़े मन्दिर हैं और उनमें महन्त होते हैं। लोग उन्हें गुरु मानकर पूजते हैं। किन्तु उनका जीवन कैसा होता है? मन्दिरों में आने वाला अपार द्रव्य एवं भोग आदि का भंडार उनके हस्तगत रहता है अतः बड़े ठाट-बाट से वे अपने पत्नी, पुत्र एवं पौत्रादि का पालन करते हैं तथा सम्पूर्ण भोग-विलास के साधनों से युक्त विशाल भवनों में बिना किसी प्रकार का कष्ट उठाये आनन्दपूर्वक निवास करते हैं। त्याग के नाम पर वहाँ शून्य होता है तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभादि कषायों में कमी नहीं रहती। क्या हम उन्हें सच्चे गुरु मान सकते हैं? नहीं, गुरु उसे ही कहा जा सकता है जो—‘आप त्तिरे औरन को तारे।’

तो जो गुरु स्वयं ही मोह-माया में लिप्त रहते हैं, वे स्वयं कैसे भव-सागर पार कर सकते हैं तथा दूसरों को पार उतारने में सहायक बन सकते हैं? ऐसा कभी नहीं हो सकता। जबकि गुरु और चले, दोनों को ही धन, माय खेती बाड़ी, व्यापार-धन्धा करना है तथा पत्नी एवं पुत्रादि की इच्छा रखनी है तो कैसे गुरु तैरेंगे और किस प्रकार अपने चेलों को तैरायेंगे? यह तो वही बात हुई कि एक खम्भे से एक व्यक्ति बँधा है और दूसरे खम्भे से दूसरा। क्या वे एक-दूसरे को बन्धन मुक्त कर सकते हैं? नहीं, दोनों ही तो बँधे हैं, फिर कौन किसको मुक्त करेगा? इसी प्रकार तृष्णा, इच्छा एवं आशा के नागपाश में जब गुरु और चले बँधे रहते हैं तो न गुरु ही चेलों को कर्म-मुक्त कर सकते हैं और न चले गुरु को।

गुरुजी विचार करते हैं—‘मेरे धनी भक्तों का गाँव है और यहाँ मैंने चार महीने कथा सुनाई है अतः पाँच सौ रुपये तो दक्षिणा में मिलेंगे ही।’ उधर चला सोचता है—‘इन दिनों दुकान में कमाई नहीं हो रही है और महाराज

को तो अब जाना ही है अतः रुष्ट होकर भी वे क्या कर लेंगे, मैं तो सौ रुपये ही दूँगा ।”

ऐसी स्थिति में क्या होगा ? किसी ने ऐसे प्रश्न के उत्तर में ही कहा है—

लोभी गुरु लालची चेला, दोनों खेलें दाव ।
दोनों डूबे बापड़ा, बैठ पत्थर की नाव ॥

वस्तुतः लोभ, लालच एवं आशा-तृष्णा पत्थर की नाव के समान ही हैं, जिनका आधार लेकर कोई भी प्राणी भव-समुद्र को पार नहीं कर सकता ।

सन्त तुकाराम जी ने भी कहा है—

“आशाबद्ध वक्ता, धाक-श्रोतियांच्या चिला ।
वाया गेले ते भजन, उभयता लोभी मन ।
ग्रहिरे मुके ठायी, माप तैसी गोणी,
तुका म्हणे रिते दोन्ही ।”

कहने हैं—वक्ता तो आशा से बँधे हुए हैं, अर्थात् बोलने वाले दान-दक्षिणा की इच्छा पाल रहे हैं । उधर श्रोता यानी सुनने वाले दक्षिणा देनी पड़ेगी, इस धाक या डर से कभी गये और कभी कथा सुनने गये ही नहीं । फल यह हुआ कि महात्माजी का भजन वाया गेले यानी निरर्थक ही चला गया ।

आगे लोभी गुरु और लालची चेले पर दो संक्षिप्त दृष्टांत बड़े मनोरंजक दिये गये हैं । कहा है—‘एक बहिरा और एक गूंगा एक साथ वर्षों बैठे रहकर भी अपने विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर पाते तथा उनका समय या साथ व्यर्थ जाता है । इसी प्रकार माप खाली है पर मुख व्यक्ति बार-बार उसे धैले में औंधा करते हुए एक, दो, तीन और आगे भी इसी प्रकार लम्बी गिनती करता चला जा रहा है ।

तो बन्धुओ, जिस प्रकार गूंगा और बहरा साथ रहकर भी कोई लाभ नहीं उठा पाते तथा खाली माप औंधाने से कभी गोणी यानी धैली नहीं भर सकती; इसी प्रकार लोभी गुरु उपदेश देकर तथा लालची भक्त उपदेश सुनकर भी जीवन को उन्नत नहीं बना पाते । दोनों ही मझधार में गोते लगाते रहते हैं ।

इसलिए जैसे कि अभी योगशास्त्र के एक श्लोक में गुरु के लक्षण बताये गये हैं, उनके विद्यमान रहने पर ही हमें किसी को गुरु मानना चाहिए तथा उनके सदुपदेशों से लाभ उठाकर संवर, निर्जरा एवं मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए ।

सच्चा धर्म

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने पद्य में सच्चे गुरु एवं सच्चे धर्म की पहचान करते हुए आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी है। उसी के अनुसार हमने संक्षिप्त में सच्चे देव एवं गुरु के लक्षण ज्ञात किये हैं और अब धर्म के विषय में जान करना है। वैसे भी हमारा आज का विषय 'धर्म-भावना' है जिसे माना प्रत्येक आत्मार्थी के लिए आवश्यक है। धर्म-भावना के अभाव में कोई भी व्यक्ति कल्याण के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकता।

विद्वत्वर्य पं० शोभाचन्द्र जी 'भारिल्ल' ने 'धर्म-भावना' पर एक कविता लिखी है उसमें धर्म का महत्त्व बताते हुए लिखा है—

संसार सारा जिसके बिना है, अत्यन्त निस्सार मसान्न जैसा।
साकार है शांति वसुन्धरा की, हे धर्म तू ही जग का सहारा ॥
जो जीव संसार समुद्र मध्य, हैं डूबते पार उन्हें लगाता।
त्राता नहीं और समर्थ कोई, आनन्द का धाम सदा तुही है ॥
माता-पिता, बन्धु, सखा अनोखा, तू है हमारा वर देवता भी।
साथी सगा है परलोक का तू, सर्वस्व मेरा इस लोक का है ॥

कवि ने धर्म की स्तुति करते हुए धर्म को ही सम्बोधित कर कहा है—
“हे धर्म ! तू ही जगत के सम्पूर्ण प्राणियों का सहारा है तथा इस पृथ्वी पर शान्ति का साकार रूप है। अगर तू इस संसार में न रहे तो यह श्मशानवत् शून्य और निस्सार हो जाय।”

क्योंकि, इस जगत के प्रत्येक प्राणी को भव-सागर में डूबने से तू ही बचा सकता है, अन्य किसी में भी यह क्षमता नहीं है। दूसरे शब्दों में, तुझे अपनाये बिना कोई जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता, तू ही आनन्द का एक धाम है जहाँ पहुँचकर जीवात्मा पूर्ण शान्ति, सन्तोष एवं सुख का अनुभव करता है।”

इस लोक में हमारे अनेक सम्बन्धी हैं और वे सदा सगे होने का दावा करते हैं, किन्तु बुद्धि में कोई आँड़े नहीं आता और तो और जन्म देने वाली माता भी मुँह फेर लेती है।

महासती अंजना को गर्भवती होने पर समुराल वालों ने घर से निकाल दिया तथा सगे सास-ससुर ने इतना भी सन्न नहीं रखा कि पुत्र पवनंजय को युद्ध से लौटने दें तथा उससे मालूम करें कि वह अपनी पत्नी से भिला था या नहीं।

अंजना श्वसुर गृह से निकाली जाकर अपनी सखी सहित पीहर गई । पीहर में उसके माता-पिता तथा सगे सौ भाई थे । किन्तु आप जानते हैं कि वहाँ उसका क्या हाल हुआ ? यही कि, सौ भाइयों में से एक ने भी उसे आश्रय नहीं दिया तथा जन्म देने वाले पिता और माता ने भी उसे महल की ड्योढ़ियाँ नहीं लाँघने दीं, जल का एक घट भी पीने को नहीं दिया । इतना ही नहीं, अपने शहर में मुनादी करवा दी कि कोई भी नगर-निवासी अगर अंजना को आश्रय देगा तो उसका सर्वस्व छीन लिया जायेगा तथा कड़ी सजा और मिलेगी । अतः स्वयं राजा के भय से सम्पूर्ण नगर में कोई भी व्यक्ति अंजना को आश्रय नहीं दे सका और उस भूखी-म्यासी राजकुमारी को एक वक्त का खाना तो दूर जल-पान भी नहीं मिला । फलस्वरूप वह सीधी जंगल में गई और वहीं पर कुछ काल पश्चात् हनुमान का जन्म हुआ ।

कहने का अभिप्राय यही है कि सौ भाइयों की एक बहन जिस पर माता-पिता कमी जान देते थे, उसके संकट के समय काम नहीं आये । जिसको सास-ससुर ने त्याग दिया था, उस दुःख में डूबी कन्या को जन्म-दायिनी माता ने भी हृदय से नहीं लगाया और खड़े-खड़े निकलवा दिया ।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि संसार के सब नाते झूठे हैं । कोई भी सम्बन्धी सच्चा साथी या सहायक नहीं है । सब रिश्तेदार या तो इस जीवन में ही साथ छोड़ देते हैं और नहीं तो इस देह के नष्ट होते ही स्वयं छूट जाते हैं । सदा साथ केवल धर्म देता है, इसीलिए कवि ने कहा है—“हे धर्म ! तू ही मेरी माता, पिता, मित्र और देवता है । इस लोक में भी तू मेरा सगा साथी और सर्वस्व है तथा परलोक में भी साथ देने वाला सहायक और हितैषी है ।”

आगे कहा गया है—

तीर्थेश चक्री अवलम्ब लेके, संसार से हैं तरते सदा ही ।
 आराधना को मुनिराज तेरी, आगार को त्याग अरण्य जाते ॥
 तेरे लिए प्राण तजे जिन्होंने, टूटा उन्हीं का यमराज-पाश ।
 रक्षा सदा जो करता तिहारी, तू भी बचाता उनको दुखों से ॥
 आराधते निर्मल चित्त में जो, पाते वही जीवन-लाभ पूरा ।
 जो मूढ़ धी हैं करते विनाश होता उन्हीं का जग में विनाश ॥

कवि का कथन है—“हे धर्म ! तेरा अवलम्बन लेकर ही तीर्थकर, चक्रवर्ती और बड़े-बड़े वैभवशाली इस संसार-सागर से पार उतरते हैं और अपना ऐश्वर्य एवं आगार त्यागकर महामुनि केवल तेरी आराधना करने के लिए ही घोर वन में जाकर तपस्या एवं साधना करते हैं ।”

“तेरी खातिर जो प्राण त्याग देता है, उसका काल रूपी पाश भी सदा के लिए टूट जाता है। तू ही उन सबको सब प्रकार के दुखों से मुक्त करता है, जो तेरी रक्षा करते हैं। किन्तु जो मूर्ख तेरी आराधना नहीं करते और अपनी आत्मा से बाहर कर देते हैं वे महान् दुखों के भागी बनते हैं तथा अनन्त काल तक संसार में भटकते रहते हैं। स्पष्ट है कि वे ही भव्य पुरुष जो पवित्र और निर्मल भावनाओं के साथ तेरी आराधना करते हैं, मानव-जीवन का सच्चा लाभ हासिल कर लेते हैं।”

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

जरामरण वेगोणं, बुज्जभाणण पाणिणं ।

धम्मो दीवो पडट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

अर्थात्—जरा और मरण के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, गति है और उत्तम शरण का स्थान है।

धर्मद्वीप का अवलम्बन

कहते हैं कि एक बार अनेक यात्री किसी विशाल जहाज में बैठकर यात्रा कर रहे थे। वहाँ कुछ कार्य न होने से कुछ व्यक्ति तत्त्व-चर्चा में लगे हुए थे तथा समाधि भाव की महत्ता पर एक से बढ़कर एक दलीलें पेश कर रहे थे।

ठीक उसी समय समुद्र में अचानक ही भीषण तूफान आ गया और वह जहाज पत्ते के समान डगमगाने लगा। लोग यह देखकर बहुत घबराये और बढ़-बढ़कर समाधिभाव की महत्ता को साबित करने वाले लोग व्याकुल होकर इधर से उधर दौड़-भाग करने लगे।

किन्तु एक व्यक्ति जो प्रारम्भ से ही चुपचाप बैठा था तथा वाद-विवाद में तनिक भी भाग नहीं ले रहा था वह तूफान से जहाज के डोलते ही आँखें बन्द कर समाधि में लीन हो गया। न उसके चेहरे पर भय का भाव था और न ही व्याकुलता का। आत्मिक शान्ति की दिव्य आभा उसके मुख मण्डल को और भी तेजस्वी बनाये हुई थी।

कुछ देर बाद तूफान थमा और जहाज पुनः पूर्ववत् चलने लगा। यह देखकर लोग शान्त हुए तथा अपनी घबराहट पर काबू पाते हुए सुस्थिर होकर बैठे। उन्होंने देखा कि तूफान के रुक जाने पर ही समाधिस्थ व्यक्ति ने भी अपनी आँखें खोली हैं और ध्यान समाप्त किया है।

सभी व्यक्ति हैरत से उसे देखने लगे और बोले—

“भाई ! तूफान के कारण हमारी तो जान सूख गई थी पर तুম हो कि और

भी आत्म-समाधि में लीन हो गये थे। क्या तुम्हें जहाज के डगमगाने से प्राण जाने का भय नहीं हुआ था ?”

वह व्यक्ति तनिक मुस्कराकर बोला—“बन्धुओ, जब तक मैंने धर्म का मर्म और समाधि-भाव का अर्थ नहीं समझा था, तब तक मैं भी तूफान से बहुत डरता था। किन्तु तुम लोगों की समाधि पर की गई तत्त्व-चर्चा से मैंने उसका महत्व समझ लिया और समुद्र में तूफान के आते ही मैं समाधिपूर्वक अपने अन्दर के विशाल धर्म-द्वीप पर जा बैठा। मैंने समझ लिया था कि इस द्वीप तक तूफान से उठी हुई कोई भी लहर नहीं आ सकती।”

उस जानी पुरुष की यह बात सुनते ही प्रश्न करने वाले सभी बड़े लज्जित हुए और समझ गये कि खूब तर्क-वितर्क करने से और धर्म के मर्म को शब्दों के द्वारा समझ लेने से ही कोई लाभ नहीं होता। लाभ तभी होता है, जबकि थोड़े कहे गये या सुने हुए को जीवन में उतारा जाय।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो मुमुक्षु धर्म की शरण लेता है, धर्म उसकी रक्षा अवश्य करता है। कवि ने आगे बड़े सुन्दर शब्दों में धर्म के परिवार के विषय में बताया है—

माता दया है जननी मनोज्ञा, सम्यक्त्व तेरा सुपिता कहाता ।
भाई क्षमा मार्दव आर्जवादि, हैं साम्यभावादि सपूत तेरे ॥
जो तू दया-प्रेरित हो न आता, संसार में जो न सुधा बहाता ।
स्वर्गीय आलोक नहीं दिखाता, तो दीखता रौरव का नजारा ॥
दानादि हैं रूप अनेक तेरे, जो विश्व को स्वर्ग बना रहे हैं ।
निष्पाप निस्ताप विशुद्ध तेरा, है चित्त ही आलय एक रम्य ॥

कहा गया है—“हे धर्म ! तुम्हारा तो सम्पूर्ण कुल ही जगत के लिए मंगल-मय है। क्योंकि तुम्हारी मनोज्ञ माता दया है और सम्यक्त्व पिता है।”

वस्तुतः सम्यक्त्व के आने पर ही आत्मा में धर्म उत्पन्न होता है और सम्यक्त्वो जीव जिस प्रकार धागा पिरोई हुई सुई खीती नहीं, मिल ही जाती है, उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण करके भी अन्त में मुक्ति-धाम को प्राप्त कर लेता है। सम्यक्त्व की महत्ता बताते हुए योगशास्त्र में कहा गया है—

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः कौशलं जिनशासने ।

तीर्थं सेवा च पञ्चापि, भूषणानि प्रचक्षते ॥

अर्थात्—सम्यक्त्व के पाँच अमूल्य भूषण हैं—(१) धर्म में स्थिरता, (२) धर्म की प्रभावना—उपदेशादि के द्वारा, (३) जिन शासन की भक्ति, (४)

अज्ञानी व्यक्तियों को धर्म का रहस्य समझाने की निपुणता तथा (५) साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका, इन चारों तीर्थों की सेवा भावना ।

जो भव्य पुरुष सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेता है, वह इन गुणों से विभूषित होकर धर्म को सच्चे मायने में धारण करता है । इसीलिए उसे कवि ने धर्म का जनक बताया है । आगे कहा है—मुनियों के दस धर्म जो—क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग एवं ब्रह्मचर्य हैं, वे तेरे भाई हैं और साम्य-भाव आदि उत्तम विचार तेरे सुपुत्र हैं ।

आगे प्रशस्ति करते हुए कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में धर्म के प्रति आभार-प्रदर्शन है—“हे धर्म ! अगर तू अपनी माता दया से प्रेरित होकर इस संसार में नहीं आता और आत्मा की अनन्त ज्योति का आलोक नहीं दिखाता तो निश्चय ही इस पृथ्वी पर रौरव नरक के जैसा दृश्य दिखाई देता । क्योंकि मानव का मन एक असीम सागर है, जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, भ्रमता एवं आसक्ति आदि के भयानक तूफान उठा करते हैं । छद्मस्थ होने के कारण यह स्वभाविक भी है, किन्तु इन तूफानों से बचने के लिए मनुष्य अपनी आत्मा में स्थित धर्म रूपी उच्च द्वीप पर पहुँचकर तब तक वहाँ निरापद होकर ठहर सकता है, जब तक कि वे तूफान पुनः शान्त नहीं हो जाते ।”

“अगर ऐसा न होता, अर्थात् मानस में धर्म-द्वीप का अस्तित्व न होता तो विषय-विकारों, कामनाओं और इच्छाओं की तरंगों के धपेड़ों से घबराकर मनुष्य बाह्य जगत में भी मार-काट, खून-खराबी करता रहता एवं नाना प्रकार के पापों का उपार्जन करने में ही अपना सम्पूर्ण जीवन निरर्थक बना लेता । उसे कभी भी सन्तोष, शान्ति, सुख-चैन या समता नसीब नहीं होती और इसीलिए यह मानव लोक भी नरकवत् बन जाता ।”

“किन्तु हे धर्म ! तूने जगत के निरीह प्राणियों पर दया करके अपने नाना रूपों से इन्हें सम्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया है । दान, शील, तप, भाव, समत्व, त्याग एवं सहानुभूति आदि सभी तेरे ही तो रूप हैं, जिन्हें अपनाकर महापुरुष इस लोक को स्वर्ग बनाये हुए हैं । यही नहीं, अगर स्वर्गलोक से इस भूलोक की तुलना की जाय तो स्वर्ग से यह लोक उत्तम माना जा सकता है । वह क्यों ? इसलिए कि स्वर्ग के देव केवल प्राप्त सुखों का भोग तो करते हैं किन्तु तेरी आराधना करके संसार-मुक्त होने का प्रयत्न नहीं करते । पर इस लोक में महा-मानव चक्रवर्ती एवं महान् सम्राट होकर भी मिथ्या सुखों को ठोकर मारकर केवल तुझे साथ रखते हैं तथा तेरी कृपा से शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए स्वर्ग की भी परवाह न करते हुए मुक्ति-धाम तक जा पहुँचते हैं । ऐसा वे

इसीलिए कर पाते हैं कि सदा अपने मन रूपी मन्दिर में तेरा समस्त पाप एवं ताप रहित शुद्ध रूप प्रतिष्ठित रखते हैं और बाह्य-संसार से मुँह मोड़कर तेरी पूजा-अर्चना करते हैं ।” क्योंकि—

तू सार है वेद पुराण का औ, तू सार है शास्त्र कुरान का भी ।
तेरे लिए ग्रन्थ समूह सारा, गाती सुगाथा तव शारदा है ॥
मैले कुचैले मन में हमारे, आओ विराजो करके विशुद्ध ।
मिथ्यात्व अज्ञान कषाय भागे, आलोक से पूरित पूर्ण होवें ॥
ध्याते सदा जो नर भावनाएँ, सम्पूर्ण होतीं शुभ कामनाएँ ।
वे पुण्यशाली महिमा-निधान, होते सदा नायक धर्म के हैं ॥

कवि ने अत्यन्त गद्गद होकर भक्तिभाव से प्रार्थना की है—“धर्म ! मैं किस प्रकार तेरी स्तुति करूँ ? क्योंकि वेदों का, पुराणों का, कुरान का तथा समस्त ग्रन्थों का सार या निचोड़ तू ही तो है, तेरा ही गाथा देवी सरस्वती गायी करती है अतः तू चिन्तामणि रत्न के समान अमूल्य और दुर्लभ है ।”

“मैं तो मात्र इतनी ही विनती कर सकता हूँ कि तुम मेरे और जगत के अन्य समस्त अज्ञानी प्राणियों के कषायों से काले हुए हृदयों को शुद्ध एवं उज्ज्वल करके उनमें प्रतिष्ठित होओ ! ताकि हमारे हृदयों में से मिथ्यात्व एवं अज्ञान सदा के लिए दूर हो जाय और ज्ञान का पवित्र प्रकाश सतत बना रहे । मैंने पढ़ा है और सुना भी है कि जिन नर-रत्नों ने तेरा आह्वान किया है, उनकी समस्त शुभेच्छाएँ पूरी हुई हैं और वे पुण्यात्मा जीव तेरा आधार लेकर ही भव-सागर को पार कर गये हैं ।”

तो बन्धुओ, आपने धर्म का महत्त्व कवियों की इन भावनाओं से समझ लिया होगा और मैं आशा करता हूँ कि आप भी ‘धर्म-भावना’ भाते हुए उसे जीवनसाथु करेंगे तथा संवर के शुभ मार्ग पर बढ़ते हुए इस लोक को तथा परलोक को भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेंगे ।



ऊँघो मत पंथीजन !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने धर्म का महत्त्व समझते हुए 'धर्म-भावना' किस प्रकार माई जाय, इस पर विचार किया था। 'धर्म-भावना' आत्म-शुद्धि करने वाली बारह भावनाओं में से ग्यारहवीं भावना और संवर के सत्तावन भेदों में इकतालीसवाँ भेद है।

आज हमें 'बोधि-दुर्लभ-भावना' को लेना है जो बारहवीं भावना है और संवर का बयालीसवाँ भेद है। यह भावना होना अर्थात् बोध का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। क्योंकि इस जगत में मानव को लुब्ध और भ्रमित करने वाले असंख्य पदार्थ हैं, जिनके आकर्षण से बचना बड़ा मुश्किल है। विरले ही नर-रत्न होते हैं जो अपने मन और इन्द्रियों को सांसारिक वस्तुओं के आकर्षण से बचाते हैं तथा बोध प्राप्त करके उन्हें आत्म-कल्याण की क्रियाओं में लगाते हैं।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने अपने 'बोधि-दुर्लभ-भावना' पर लिखे हुए सुन्दर पद्य में कहा है :—

जेते जगवासी कर्म फांसी-सांसी रासी गही,
 पुद्गल जो चाहे सोही माने सुख सही है।
 मरणो न चाहे सब जीवणो उमाहे भाई !
 जैसी निज आतमा है तैसी पर मांही है ॥
 करके विचार षट्काय प्रतिपाल सदा,
 सुख होय तोये सुख 'कुख' चाह नांहीं है।
 मरुदेवी माता भाई, भाई धर्मरुचि ऋषि,
 कहत त्रिलोक भावे सोही घन माही है ॥

महाराज श्री फरमाते हैं—इस जगत में विद्यमान जितने भी जीव हैं वे सभी कर्मों के समूह से निर्मित जन्म एवं मरण रूपी रस्सी की फाँसी से सांसत में पड़े हुए हैं और कर्म रूपी यह रस्सी इतनी मजबूत हो गई है कि इससे छुटकारा मिलना दुष्कर हो रहा है ।

इसका कारण केवल यही है कि आत्मा आत्म-बोध के अभाव में सच्चे सुख यात्री आत्मानन्द को नहीं पहचान पाई है तथा इन्द्रियों को अनुभव होने वाले पौद्गलिक या मिथ्यासुख को सुख मान रही है । अपने अज्ञान के कारण यह दुःख को सुख तथा पाप के कुमार्ग को सुमार्ग समझ रही है । तारीफ तो यह है कि जीव गलत रास्ते पर चलता हुआ भी स्वयं को सही पथ का पथिक समझता है जिस प्रकार भटका हुआ मुसाफिर किसी से सही मार्ग की जानकारी नहीं करता और विश्वासपूर्वक उसी गलत रास्ते पर बढ़ता रहता है । पर क्या उस रास्ते पर चलकर वह कभी अपनी मन्जिल प्राप्त कर सकता है ? नहीं, रास्ता गलत होगा तो मन्जिल कैसे मिलेगी ?

उद्बोधन

बन्धुओ; तीर्थंकर, अवतारी पुरुष एवं संत-महात्मा मनुष्यों को बोध देकर उन्हें अवनति के मार्ग से हटाकर उन्नति के मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं । वे पुकार-पुकार कर कहते हैं—“भाइयो ! शरीर को प्राप्त होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं है और पाप का यह मार्ग मोक्ष की मन्जिल तक ले जाने वाला नहीं है । इसलिए इन्द्रियों के ऐशो आराम की फिक्र छोड़कर आत्मा के आराम की चिन्ता करो अन्यथा अनन्तकाल तक संसार की इस भूल-भुलैया में पड़े रहोगे । इसके अलावा यह मानव-जीवन तुम्हें ऐसा मिला है कि इसमें तुम विवेक और ज्ञान के धनी बनकर सही मार्ग को पकड़ सकते हो तथा उस पर हड़ता से चल सकते हो । पर अगर यह समाप्त हो गया तो फिर चौरासी लाख योनियों में नाना शरीर धारण करके भी तुम्हें कभी ऐसा विशिष्ट विवेक और ज्ञान प्राप्त नहीं होगा, जिसकी सहायता से तुम सत्पथ ढूँढ़ सकोगे और कर्मों की फाँसी से अपने को छुड़ा सकोगे । इसलिए अब चेत जाओ तथा मानव जन्म को मुक्ति-मार्ग का एक सुन्दर पड़ाव या चौराहा समझो और यहाँ से गलत मार्ग छोड़कर सही मार्ग पकड़ो । इसके अलावा जबकि तुम्हें आगे बढ़ना ही है तो व्यर्थ समय नष्ट मत करो अन्यथा यह जीवन समाप्त हो जायेगा और कालरात्रि आकर गहन अंधेरा फैला देगी ।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य जन्म में जीवात्मा ज्ञान के प्रकाश का लाभ उठाकर अपनी मन्जिल की ओर अग्रसर हो सकता है अतः अपने आपको

मुसाफिर मानकर उसे इसी जन्म में सही मार्ग खोजकर उस पर बढ़ जाना चाहिए। अगर वह ऐसा नहीं करता है तो इस जीवन की समाप्ति के साथ ही जान का प्रकाश लुप्त हो जाएगा और फिर अनन्तकाल तक वह अज्ञान के अँधेरे में ठोकरें खाता हुआ भटकता रहेगा। इसीलिए महापुरुष जीव को इस दुर्लभ-जीवन में प्रमाद या मिथ्यात्व की निद्रा से बचने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं—

ऊँघो मत पंथी जन संसार अटवी वन,
 काम रूपी नगर में रहे काम चोर है।
 जीव है बटाऊ यामे आय कर वास कियो,
 ठगणी है पाँच याको मुलक में शोर है ॥
 ज्ञानाधिक गुण रूप रतन अमोल घन,
 ऊँघे तो ले जाय तेरो, मिथ्यातम घोर है।
 कहत तिलोक सद्गुरु चौकीदार रूप,
 जाग रे बटाऊ ऊँघे मत हुई भोर है ॥

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने भी संसार के प्राणियों को मुक्ति-मार्ग के मुसाफिर मानकर उन्हें बोध देते हुए कहा है—

“पथिको ! तुम ऊँघो मत, सजग रहो और शीघ्रता से अपनी मन्जिल पर पहुँचने का प्रयत्न करो अन्यथा भारी हानि उठानी पड़ेगी।” वह हानि क्या है ? इस विषय में आगे उन्होंने स्वयं ही बताया है कि—“यह संसार एक विशाल अटवी या जंगल है। जीवात्मा इस जंगल में भटकते-भटकते मनुष्य देह रूपी नगर पा गया है और इसमें पड़ाव डाले हुए है। किन्तु यह नगर भी खतरे से खाली नहीं है क्योंकि इसी काया-नगर में वासना या इच्छा रूपी चोर ‘काम’ रहता है। काम रूपी चोर भी अकेला नहीं है उसकी सहायता करने वाली पाँच इन्द्रियाँ हैं जो ठगिनी के रूप में ‘काम’ की सहायता करती हैं। जीवात्मा को भुलावे में डालकर लूट लेने में ये बड़ी सिद्धहस्त हैं, जिनका सारा मुलक लोहा मानता है।

अब प्रश्न उठता है कि ये ठगिनी इन्द्रियाँ मानव को चक्कर में डालकर उसका क्या छीनती हैं ? उत्तर में कहा जाता है कि यह जीवात्मा लम्बे काल से सफर करता हुआ सौभाग्य से मानव-जन्म रूपी पड़ाव पर आता है या शरीर रूपी सराय में विश्राम के लिए ठहरता है। जो जागरूक जीव होता है वह तो सजग रहता है तथा बिना प्रमाद-निद्रा लिए अविराम कदमों से मन्जिल की

ओर बढ़ता रहता है किन्तु जो जीव प्रमाद-रूपी निद्रा में गाफिल हो जाता है उसके ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूपी अमूल्य रत्नों को 'काम' चोर की सहायिका इन्द्रियाँ चुरा ले जाती हैं। वे मिथ्या सुख के भुलावे में जीव को डाल देती हैं और उसके समस्त सद्गुण-धन को लूट लेती हैं।

एक राजस्थानी भजन में भी कहा है—

जीवराज ! थे तो आछो पराक्रम फोड्यो म्हारा राज-
नर देही खेती मायने, पंखी बैठा पाँच, गुण रूपी,
दाना चुगेरे लाम्बी ज्याँरी चोंच.....।

पक्ष में जीवात्मा को चेतावनी देते हुए कहा गया है—“हे जीवराज ! तुमने बहुत पराक्रम करके मानव-देह रूपी खेत प्राप्त किया है और ज्ञान-ध्यान जप-तप आदि के बीज भी इसमें बो दिये हैं; किन्तु अब इन बीजों को फसल के रूप में अगर पाना चाहते हो तो बहुत सावधान रहो। क्योंकि तुम्हारी फसल को खाने के लिए पाँच इन्द्रिय रूपी विशालकाय पक्षी ताक लगाये बैठे हैं। इन पक्षियों की चोंचें भी साधारण नहीं हैं, बड़ी लम्बी हैं जो क्रोध, मान, माया, लोभ एवं विकार से निर्मित हुई हैं। स्पष्ट है कि अगर तुम जरा भी असावधान हुए तो ये पक्षी अपनी अत्यन्त दीर्घ चोंचों के द्वारा तुम्हारी सम्पूर्ण फसल खा जाएँगे और तुम हाथ मलते रह जाओगे।

कवि श्री त्रिलोक ऋषि जी ने भी इसी प्रकार जीव को चेतावनी देते हुए प्रमाद-निद्रा से अविषम्ब जागने की प्रेरणा दी है। कहा है—“जन्म-जन्म का मिथ्यात्व रूपी अंधेरा दूर हुआ है और ज्ञान रूपी प्रकाश की प्रथम किरण प्रातः काल होने की सूचना दे रही है अतः हे बटोही ! अब तो तू जागृत हो जा और अपने सद्गुण रूपी आत्म-धन की सुरक्षा कर। यद्यपि सच्चे सन्त और सद्गुरु रूपी चौकीदार अब तक तेरे धन की सुरक्षा कर रहे हैं, किन्तु वे कहाँ तक तेरा साथ दे सकेंगे ? वे तुझे मार्ग बताएँगे, किन्तु चलना तो तुझे ही पड़ेगा। अतः अब भोर हो गई है, और तू ऊँध मत, जागृत होकर ज्ञान-रूपी सूर्य के प्रकाश में अपना रास्ता तय करले अन्यथा अगर काल ने आक्रमण कर दिया और ज्ञान-दीप बुझ गया तो फिर वह ढूँढ़े नहीं मिलेगा।”

संस्कृत में कहा गया है—

“निर्वाणदीपे किमु तल दानम् ?

चौरै गते वा किमु सावधानम् ?”

कहते हैं—जब तक दीपक जल रहा है, तब तक पुनः तेल डाल लो अन्यथा

उसके बुझ जाने पर फिर घोर अन्धकार में कैसे उसे खोजोगे और किस प्रकार उसमें तेल डालकर प्रज्वलित करोगे ?

दूसरे चरण में, चोरों का उदाहरण दिया है कि 'जब वे धन-सम्पत्ति चुराकर चले जाएँगे, तब फिर तुम्हारे सावधान होने से क्या लाभ होगा ?' इसी विषय को लेकर अभी बताया भी गया है कि जब तक तुम्हारे रत्नत्रय सुरक्षित हैं तब तक जागते रहो और उनसे लाभ उठाओ। पर अगर 'काम' रूपी चोर ने इन्द्रियों के द्वारा उन्हें ठगाई करवाकर छिनवा लिया तो फिर तुम्हारे जागकर सावधान होने से कुछ भी नहीं बन सकेगा। केवल पश्चात्ताप ही हाथ आएगा।

तो बन्धुओ, जैसा कि अभी भजन में कहा गया है—बड़े पराक्रम से संचित किये हुए पुण्यों के फलस्वरूप यह मानव-जन्म हमें मिला है। इसे कितनी कठिनाई से प्राप्त किया है यह बताते हुए पण्डितरत्न श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अपनी 'बोधि-दुर्लभ-भावना' पर लिखी हुई पद्य रचना में कहा है—

चेतन रह निगोद में तूने काल अनन्त गँवाया ।
 एक इ्वास में बार अठारह जन्म-मरण दुख पाया ॥
 निकला यदि निगोद से पाकर किसी भाँति छूटकारा ।
 पृथ्वी पानी तेज वायु या हरित काय तन धारा ॥
 बादर और सूक्ष्म हो होकर काल असंख्य बिताया ।
 पुण्ययोग से चिन्तामणि सम तब त्रसजीवन पाया ॥
 पाकर त्रस पर्याय हुआ विकलेन्द्रिय जीव अजाना ।
 इस प्रकार दुर्लभ है भाई पाँच इन्द्रियाँ पाना ॥

कवि ने जीव को बोध देने के लिए कहा है—

"अरे जीव ! तू यह मत समझ कि मुझे सहज ही मनुष्य जन्म मिला गया है। अपितु भली-भाँति जानले कि सर्वप्रथम तो अनन्त काल तक तू निगोद में रहा, जहाँ एक इ्वास में तेरा अठारह बार जन्म और उतनी ही बार मरण होता था। उसके पश्चात् किसी प्रकार वहाँ से छूटा तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय धारण करते हुए बादर और सूक्ष्म हो होकर भी तुझे असंख्य काल व्यतीत करना पड़ा।

इसके बाद किसी तरह पुण्यभोग से अमूल्य रत्न के समान त्रस जीवन की

प्राप्ति की पर विकलेन्द्रिय बन कर नाना प्रकार के कष्ट उठाता रहा। इस प्रकार विचार कर कि पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त करने से पूर्व तेरी कितनी कष्टापूर्ण स्थिति रही होगी ? पर आगे यह भी समझ कि पंचेन्द्रिय बनते ही तू सुखी हो गया हो, यह बात भी नहीं है। जैसा कि आगे कहा गया है—

अतिशय पुण्य योग से पाँचों अगर इन्द्रियाँ पाईं ।
तो मन के बिन वह भी कहिये अधिक काम क्या आईं ?
निर्दय हिंसक क्रूर हुआ पशु या पक्षी मन पाकर ।
विविध वेदनाएँ तब भोगीं घोर नरक में जाकर ॥
प्रबल पुण्य का उदय हुआ तब मानवभव पाया है ।
किन्तु असाता कर्म-उदय से रोगग्रसित काया है ॥
हो काया निरोग मगर मिथ्यात्व मल्ल ने मारा ।
मिला दिया मिट्टी में तेरा सम्यक् ज्ञान विचारा ॥

पछों में बताया है कि अनन्तकाल तक निगोद में और उतने ही समय तक पृथ्वी आदि छः कार्यों में जन्म-मरण करके भी त्रस पर्यायें प्राप्त कीं किन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति न होने पर जीव घोर दुःख पाता रहा ।

उसके पश्चात् किसी प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ भी प्राप्त कीं तो मन के अभाव में वे न पाने के बराबर ही साबित हुईं और जैसे-तैसे मन भी पाया तो कभी निर्बल बनकर हिंसक पशुओं के द्वारा मारा गया और कभी स्वयं क्रूर एवं हिंसक बनकर अन्य जीवों को मारता हुआ पापों का उपार्जन करता रहा । फल यह हुआ कि मरकर नरकों में गया और भयंकर कष्ट भोगता रहा । वहाँ से किसी प्रकार निकलकर पशु योनि प्राप्त की तो वध-ब्रन्धन, भार-वहन, भूख-प्यास एवं सर्दी-गर्मी की पीड़ा मूक होने के कारण सहता रहा ।

इसमें ही न जाने कितना समय व्यतीत हो गया और उसके बाद मानव जन्म मिला । पर कर्मों से तब भी पीछा नहीं छूटा । असाता वेदनीय आदि कर्मों के उदय से या तो जन्म से ही रोगी शरीर मिला, या लूला, लँगड़ा और काना बनकर दुःखी रहा, कभी अंगोपांग पूर्ण हुए तो दीर्घ जीवन नहीं पा सका तथा शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो गया और यह सब नहीं हुआ यानी परिपूर्ण इन्द्रियाँ तथा स्वस्थ शरीर हासिल हो गया तो मिथ्यात्व रूपी शक्तिशाली पहलवान ने सम्यक् ज्ञान को निरर्थक कर दिया । किन्तु पुण्योदय से ज्ञान-दर्शन की भी प्राप्ति हुई तो चारित्र्य का पालन कठिन हो गया । ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर कवि ने इस प्रकार दिया है—

सम्यक्दर्शन होने पर भी सत्-चारित्र न होता ।
हुआ कदाचित् तो उसके पालन करने में रोता ॥
प्रबल पुण्य से रत्नत्रय को अगर कभी भी पया ।
तो कषाय के प्रबल वेग ने उसको हाथ मिटाया ॥
पाया था जो दिव्ययान भव-सागर से तरने को ।
जो की थी तैयारी भारी मुक्ति वधू वरने को ॥
मटियामेट हुआ सारा फिर दुर्गति सन्मुख आई ।
यों कषाय के एक वेग ने तीव्र आग धधकाई ॥

पद्यों में बताया गया है कि इस जीव को कर्मों के कारण कैसी-कैसी स्थिति में से गुजरना पड़ा है । निगोद से निकलकर अनन्त काल तक नाना पर्यायों धारण करते हुए उसने घोर दुःख उठाये और महा मुश्किल से दीर्घजीवन, उच्चकुल और आर्य क्षेत्र प्राप्त किया । पर किसी प्रकार सम्यक्ज्ञान और दर्शन हासिल करके भी इन्द्रियों के वश में बना रहा और चारित्र का पालन नहीं कर सका । परिणाम यह हुआ कि गधे पर लादे हुए रत्नों के बोझ के समान जान मात्र बोझ बना रहा, उसका कोई लाभ नहीं मिला । एक छोटा-सा उदाहरण है—

ज्ञान आचरण में नहीं उतारा गया

एक महात्माजी किसी स्थान पर लोगों को धर्मोपदेश दे रहे थे । अपने उपदेश में उन्होंने कहा—“प्रत्येक व्यक्ति को कषायों का त्याग करना चाहिए, क्योंकि कषायों से कर्मों का बन्धन होता है । चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न सामने हो और कोई गालियाँ भी क्यों न दे मनुष्य को क्रोध न करते हुए पूर्ण समभाव रखना चाहिए ।” इसी प्रकार काफी देर तक महात्मा जी क्रोध आदि कषायों को त्यागने का तथा शांति रखने का उपदेश देते रहे । अन्त में प्रवचन समाप्त हुआ और उपस्थित श्रोता वहाँ से उठ-उठकर अपने घरों को चल दिये पर एक व्यक्ति वहाँ बैठा रहा । कुछ देर पश्चात् उसने महात्माजी से पूछा—

“महाराज ! आपका नाम क्या है ?”

महात्माजी एक पुस्तक को उलट-पुलट रहे थे अतः बिना सिर ऊँचा किये बोले—“शांतिचन्द्र ।”

व्यक्ति यह सुनकर कुछ देर चुपचाप बैठा रहा, पर उसके बाद फिर पूछा—
“महात्माजी आपका नाम ………?”

“बहरे हो क्या ? एक बार बता तो दिया कि शांतिचन्द्र है ।” स्वामीजी ने क्रोध से उत्तर दिया ।

नाम पूछने वाला व्यक्ति फिर चुप हो गया और अपने हाथ में रही हुई माला फेरने लगा । किन्तु, थोड़ी देर बाद फिर बोला—“महाराज, मेरी स्मरण शक्ति बड़ी कमजोर है, कोई भी बात तुरन्त भूल जाता हूँ आपने अपना नाम क्या बताया था.....?”

अब तो स्वामीजी से रहा नहीं गया और वे पास में रखा हुआ डंडा लेकर उसे मारने दौड़े । मारे गुस्से के उनकी आँखें लाल हो गईं । प्रश्नकर्ता इस घटना के लिए तैयार ही था अतः तुरन्त महात्माजी की पहुँच से बाहर होकर बोला—

“गुरुदेव ! अभी तो आपने इतनी देर तक उपदेश दिया था कि—‘चाहे कोई हजार गालियाँ ही क्यों न दे, प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें पूर्ण समता एवं शांति से सहन करना चाहिए और तनिक भी क्रोध मन में नहीं आने देना चाहिए ।’ मैंने तो आपको एक भी गाली नहीं दी, केवल आपका नाम पूछा था । फिर मला आप इतने क्रोधित क्यों हुए ? क्या ऐसे क्रोध से कर्म-बन्धन नहीं होता ?”

उस व्यक्ति की यह बात सुनकर महात्माजी पर मानो घड़ों पानी पड़ गया । उन्हें भली-भाँति महसूस हो गया कि कोरी ज्ञान की बातें करने से तनिक भी लाभ नहीं होता, जब तक उन्हें आचरण में न उतारा जाय । क्रोध न करने का उपदेश देकर मैं स्वयं ही बिना किसी वजह के आग-बबूला हो गया, इससे लगता है कि मेरा ज्ञान अब तक निष्फल साबित हुआ है । यह विचार कर महात्मा जी ने तब तक उपदेश नहीं दिया, जब तक कि उनके मन से क्रोध ही नहीं बरन् कषायमात्र का नाश नहीं हो गया ।

इसी प्रकार आस्ट्रिया के एक बादशाह की कब्र पर लिखा हुआ है—“यहाँ पर एक ऐसा व्यक्ति सोया है, जिसके पास ज्ञान का अक्षय भण्डार था, असंख्य उत्तम विचार थे, किन्तु अफसोस कि वह अपने जीवन में एक भी कार्य सम्पन्न नहीं कर सका ।”

कहने का अभिप्राय यही है कि सम्यक्दर्शन एवं सम्यक्ज्ञान को जब तक क्रिया या आचरण में नहीं लाया जाता तब तक वह व्यर्थ होता है, दूसरे शब्दों में उनका होना न होना बराबर हो जाता है ।

तो कविता में यही कहा गया है कि मनुष्य ने दर्शन एवं ज्ञान पाकर भी

बहुत काल तक उन्हें व्यर्थ गँवाया, क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में वह लुब्ध रहा और सदाचार का पालन नहीं कर सका। पर उसके बाद दुर्लभ पुण्यों के उदय से अपने ज्ञान और दर्शन को कुछ समय के लिए आचार में उतारा तो ज्योंही कषाय का एक प्रबल झोंका आया, मन पुनः डॉंवाडोल हो गया और रत्नत्रय मानो हथेली में आकर भी छूट गये।

इस प्रकार भव-सागर को पार करने के लिए जो मानव-देह रूपी दिव्य और दुर्लभ नौका प्राप्त की थी, वह कषायों के तीव्र थपेड़ों से मझधार में डूब गई और जीव पुनः कुगतियों के चक्कर में पड़ गया। ऐसे जीवों के लिए दयार्द्र होकर कवि ने आगे कहा है—

कितने कष्ट सहन करके फिर मानव भव पाएँगे ?
 अपनी खोई हुई सम्पदा किस प्रकार पाएँगे ?
 जो चाहो कल्याण, कषायों से तो नाता तोड़ो।
 दुख-कारण मिथ्यात्व-शत्रु को हाथ दूर से जोड़ो !
 धन्य-धन्य हैं पुरुष-रत्न वे जो रत्नत्रय पाते।
 विषयों को विष जान दृष्टि उस ओर नहीं ले जाते ॥
 दुर्लभ बोधि प्राप्त कर अपना जीवन सफल बनाते।
 वे अक्षय सुख-धाम मुक्ति पा नहीं लौटकर आते ॥

जैसा कि कवि ने कहा है— वस्तुतः अनन्त जीव ऐसे होंगे, जिन्होंने मनुष्य जन्म और उसके साथ किसी तरह सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य पाकर भी कषायों की आग से उन्हें अल्पकाल में नष्ट कर दिया होगा और आज वे न जाने कौन-कौन-सी दुर्मतियों में घोर कष्ट पा रहे होंगे। लगता है कि अब उन्हें न जाने कब तक मानव-जीवन मिलेगा और कब वे रत्नत्रय रूपी अपना खोया हुआ अमूल्य धन पुनः हासिल करेंगे।

इसीलिए आगे प्रेरणा दी गई है कि—“माई ! अगर तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कषायों का पूर्णतया त्याग करो और रत्नत्रय को भी मिट्टी में मिला देने वाले आत्मा के घोर शत्रु मिथ्यात्व के समीप मत फटको।”

मिथ्यात्वी पुरुष न तो अपना भला कर पाते हैं और न दूसरों को ही उनका भला करने देते हैं, क्योंकि अपने कुतर्कों के द्वारा वे अच्छे-अच्छे धर्म-परायण व्यक्तियों को भी गुमराह कर डालते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों से सदा दूर रहना चाहिए तथा उनकी संगति से अपने आपको बचाना चाहिए।

संगति का अद्भुत परिणाम

एक चित्रकार अपनी कला में बड़ा ही निपुण था। वह जैसी आकृति देखता, ठीक वैसा ही चित्र बना देता था। एक बार उसने एक बालक का चित्र बनाया। बालक अत्यन्त सुन्दर था और उसके चेहरे पर अपार सरलता, सौम्यता एवं शान्ति झलकती थी। चित्र ठीक वैसा ही बना और चित्रकार ने उसे बेचा नहीं, बरन् अपनी चित्रशाला में लगा दिया। सदा उसे देखता और स्वयं ही मुग्ध हो जाता था।

कुछ वर्ष निकल गये और एक दिन उसे विचार आया—“मैं इस चित्र के विरोधी गुणों वाला भी एक चित्र बनाऊँ तो इसका महत्व और भी बढ़ जायगा।”

अपनी इस भावना के अनुसार वह किसी अत्यन्त दुर्जन एवं कुरूप व्यक्ति को खोजने लगा, पर किसी की आकृति चित्र बनाने के लिए उसे पसन्द नहीं आई। आखिर एक दिन वह नगर के जेलखाने में जा पहुँचा और जेलर से अपने आने का अभिप्राय बताया। जेलर हँस पड़ा और चित्रकार को भी कवियों के समान मौजी मानकर बोला—“आप अन्दर चले जाइये और अपनी पसन्द का व्यक्ति खोज लीजिये।”

चित्रकार जेल के अन्दर गया और बुरे से बुरे चेहरे की खोज करने लगा। अचानक ही उसे सीखचों के पास बैठा हुआ एक युवक दिखाई दिया। उन्न अधिक न होने पर भी उसका चेहरा बड़ा विद्रूप था और कुटिलता तथा नृशंसता की छाप उस पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

चित्रकार ने अपने विचारों के अनुसार उसका चेहरा चित्र बनाने के लिए पसन्द किया और उसके समीप जाकर उसका नाम एवं परिचय पूछा। किन्तु ज्योंही उस युवक ने अपना परिचय दिया; चित्रकार स्तब्ध होकर काठ के समान खड़ा रह गया।

यही नौजवान पूर्व में वह भोला-भाला, अत्यन्त कास्तिमान एवं सरलता की साकार प्रतिमा के समान हँसता-खेलता बालक था, जिसका चित्र बनाकर चित्रकार वर्षों से मुग्ध होता चला आ रहा था। इस समय उसे देखकर वह बड़ा चकित हुआ और पूछ बैठा—

“तुम्हारी यह दशा ? किसने तुम्हारे बाल्यावस्था के उस सौन्दर्य को, हृदय की सरलता, निष्कपटता एवं सौम्यता को इस कुरूपता में बदल दिया ?”

“संगति ने।” युवक इतना ही बोला और चुप हो गया।

चित्रकार भी समझ गया कि कुसंगति के कारण ही उस सुन्दर बालक में और आज के इस नौजवान में जमीन-आसमान का अन्तर आ गया है ।

तो बन्धुओ ! संगति के कुप्रभाव से बचने के लिए ही कवि ने मनुष्य को चेतावनी दी है कि मिथ्यात्व से दूर रहो ! दूसरे शब्दों में, मिथ्यात्वी की संगति भूलकर भी मत करो; अन्यथा तुम्हारा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य सभी खटाई में पड़ जाएँगे । परिणाम यह होगा कि मनुष्य-जन्म मिलकर भी न मिले जैसा होगा और जीवात्मा को चौरासी के चक्कर में पड़ना पड़ेगा ।

आगे कहा है—“वे नर-रत्न पुनः-पुनः धन्यवाद के पात्र हैं जो रत्नत्रय प्राप्त करते हैं और प्राप्त करने के पश्चात् यक्ष की तरह सजग रहकर कषायों से उन्हें बचाते हैं । कषायों और विषय-विकारों को वे आत्मा के लिए विष के समान मानते हैं तथा उनकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते । ऐसे व्यक्ति ही सतत बोधि-दुर्लभ-भावना भाते हुए अपना जीवन सफल कर लेते हैं, अर्थात् अक्षय सुख के धाम मोक्ष में पहुँच जाते हैं, जहाँ से कभी लौटना नहीं पड़ता ।”

हमें भी इसी प्रकार की भावना रखते हुए महामुश्किल से प्राप्त हुए इस जीवन का पूरा लाभ लेना है और अपने उद्देश्य को सफल बनाना है ।



सुनकर सब कुछ जानिए

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने 'बोध-दुर्लभ-भावना' के विषय में कुछ विचार किया था। इसका अर्थ है—बोध प्राप्त होना बहुत ही दुर्लभ है। इस संसार में व्यक्ति को धन, मान, परिवार एवं अन्य सभी वस्तुएँ सहज ही यानी थोड़ा-सा प्रयत्न करते ही मिल सकती हैं, किन्तु धर्म-बोध होना बड़ा कठिन है।

कदाचित्त श्रुम संयोग से वीतराग-वाणी को सुनने का अवसर व्यक्ति पा भी ले, किन्तु इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दे तो सुनने से क्या लाभ है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोक-लज्जा से या धर्मात्मा कहलाने की इच्छा से लोग प्रवचन-स्थल पर आकर बैठते हैं, सामायिक ग्रहण कर मुखवस्त्रिका भी बाँध लेते हैं, पर जब धर्म के विषय में बताया जाता है तब या तो नींद आने लगती है और नहीं तो आँखें घड़ी की ओर देखती रहती हैं कि कब व्याख्यान समाप्त हो और दुकान पर पहुँचें। इस पर भी जितनी देर तक वे बैठे रहते हैं ऐसे अनमने ढंग से कि सुना हुआ केवल उनके कान तक ही रहता है, अन्दर नहीं जा पाता। इसका कारण यही है कि धर्म-श्रवण में उन्हें रुचि नहीं होती तथा वीतरागों की वाणी उनके चित्त को बोध नहीं दे पाती। पर जब मन ही अस्थिर रहेगा और स्थानक में बैठे हुए भी व्यापार-धन्धे की ओर लगा रहेगा तो भगवान की वाणी क्या कर सकेगी ? वह तभी लाभ पहुँचाएगी, जबकि व्यक्ति उत्साह और उत्सुकतापूर्वक उसे समझेगा और ग्रहण करेगा, जैसे चातक वर्षा की बूंदों को ग्रहण करता है।

श्री स्थानांगसूत्र में कहा गया है—

असुयाणं धम्मणं सम्मं सुणयाए अबुद्धेयव्वं भवति ।
सुयाणं धम्मणं ओगिण्हणयाए अवधारणयाए अबुद्धेयव्वं भवति ॥

अर्थात्—अभी तक नहीं सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए और सुने हुए धर्म को ग्रहण करने तथा उस पर आचरण करने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए ।

सिंहनी का दुग्ध

बन्धुओ, आपने सुना होगा कि सिंहनी का दूध मिट्टी के तो कया, तबि और पीतल के बर्तन में भी नहीं ठहरता, उन्हें तोड़कर बाहर निकल जाता है । वह दूध केवल सोने के पात्र में रहता है ।

ठीक इसी प्रकार बीतराग के वचन भी होते हैं । जो सिंहनी के दूध की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण एवं दिव्य होते हैं, फिर भला वे किस प्रकार दोषपूर्ण चित्त में रहेंगे ? कभी भी नहीं । वे उसी प्रकार निरर्थक चले जाएँगे जैसे फूटे हुए पात्र में दुहा गया गाय का दूध या फटी हुई बोरी में डाला गया अनाज ।

कहने का अभिप्राय यही है कि आगम के वचनों को रखने के लिए हमारे मन रूपी पात्र अश्रद्धा के छिद्रों से रहित एवं कषायों की मलिनता से विशुद्ध होने चाहिए । हमें विचार करना चाहिए कि अनन्तकाल तक तो जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहा है और कोई भी योनि ऐसी नहीं मिली, जिसमें धर्म-भावना जाश्रुत होती या बोध प्राप्त करने की क्षमता होती । महान् पुण्यों के योग से यह मानव-योनि ही सुवर्ण के पात्र के समान मिल पाई है, जिसमें भगवान के वचन ठहर सकते हैं । किन्तु खेद की बात है कि नर देह रूपी इस सुवर्ण के पात्र को भी हमने क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि नाना प्रकार की गन्दगी से भर दिया है अतः प्रभु के वचन या सिंहनी के दुग्धवत् धर्म इसमें अपने शुद्ध रूप में नहीं ठहर पाता ! इसलिए आवश्यक है कि हम अपने मन रूपी सुवर्ण-पात्र को विवेक के द्वारा शुद्ध करें तथा प्रभु के द्वारा बताये गये धर्म का मर्म समझें ।

धर्म का मुख्य लक्षण

कल मैंने पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज का एक पद्य आपके सामने रखा था जिसमें बताया गया है कि जितने भी इस जगत में प्राणी हैं वे सभी कर्मरूपी फाँसी से कष्ट पा रहे हैं । ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए कि उन्होंने अधर्म के द्वारा कर्मों का घोर बन्धन कर लिया और जब तक उन्हें नष्ट नहीं किया जाएगा, जीव शांति की साँस नहीं ले सकेगा ।

प्रश्न होता है कि कर्मों का नाश कैसे किया जा सकता है ? महाराज श्री ने पद्य में ही धर्म का मुख्य लक्षण अहिंसा बताते हुए कहा है कि सदा हृदय में

करुणा का भाव रखते हुए छहों काय के जीवों की हिंसा से बचो। यह तभी हो सकता है, जबकि प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक सूक्ष्म या विशाल जीव को आत्म-वत् समझे, तथा यह विचार करे कि जिस प्रकार मैं मरना नहीं चाहता, उसी प्रकार संसार का सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी अपने प्राण बचाना चाहता है, मरना नहीं। चींटी बहुत छोटी होती है, उसे ज्ञान भी नहीं होता, किन्तु मरने से बचने का प्रयत्न वह भी कर लेती है।

इस बात को हम सहज ही जान सकते हैं कि जब वह चलती है तब अगर हम उसके आगे हाथ रख दें तो वह रुक जाती है तथा शरीर को सिकोड़ लेती है। पर हाथ हटाते ही वह पुनः आगे बढ़ जाती है। कुछ कीड़े तो ऐसे होते हैं जो हाथ लगाते ही एकदम निश्चेष्ट होकर पड़ जाते हैं, जैसे मर चुके हों। पर कुछ देर में जब उन्हें यह महसूस होता है कि हमें छूने वाला यहाँ नहीं है तो शीघ्रतापूर्वक अपने अंगों को फेलाकर चल देते हैं। देखिए! उनमें भी प्राण बचाने की कैसी बुद्धि या चतुराई होती है? वे कपटपूर्वक अपने हाथ-पैरों को सिकोड़कर और निश्चेष्ट होकर मनुष्य को भी धोखा देना चाहते हैं, क्योंकि मरने से डरते हैं।

आप कहेंगे—अनेक व्यक्ति तकलीफ में होने पर सहज ही कहते हैं—“हे भगवान! मौत दे दे।” पर क्या वे मन से ऐसा चाहते हैं? कभी नहीं, मरने का समय आते ही वे काँप उठते हैं। स्पष्ट है कि मौत का आह्वान केवल उनकी जवान पर होता है मन में नहीं। आशय यही है कि मरने से प्रत्येक प्राणी डरता है और कोई भी उसे गले लगाना नहीं चाहता।

शास्त्रों में कहा भी है—

सब्बे पाणा पियाउआ, सुहसाया दुक्ख पडिक्कला,
अप्पियबहा पियजोविणो, जीविउकामा,
सब्बेसि जीवियं पियं नाइवाएज्ज कंचणं ।

—आचारांगसूत्र १-२-३

अर्थात्—सब प्राणियों को अपनी जिन्दगी प्यारी है। सुख सब को अच्छा लगता है और दुःख बुरा। वध सभी को अप्रिय है और जीवन प्रिय। सब प्राणी जीना चाहते हैं, अर्थात् सभी को जीवन प्रिय है अतः किसी प्राणी की हिंसा मत करो।

आगे पद्य के तीसरे चरण में कहा गया है—“विवेकपूर्वक षट्काय के प्राणियों का संरक्षण करो, अगर तुम्हें ‘कुख’ के त्याग की और सुख की चाह है तो” संभवतः आप इस बात का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझ पाये होंगे। देखिये

‘कुख’ से यहाँ तात्पर्य है माता की कुक्षि । स्वाभाविक ही है कि माँ की कुक्षि में आने पर अर्थात् जन्म लेने पर फिर मरण निश्चय ही होगा; अतः अगर व्यक्ति कुक्षि की चाह नहीं करके जन्म-मरण को मिटाकर शाश्वत सुख पाना चाहता है तो उसे हिंसा से बचना चाहिए । क्योंकि हिंसा से कर्मों का बन्धन होगा और तब पुनः-पुनः जन्म लेना तथा मरना पड़ेगा ।

अब पद्य का चौथा चरण आता है, इसमें कवि श्री ने कहा है—“मरुदेवी माता ने बोधि-दुर्लभ-भावना भाई और केवलज्ञान प्राप्त करके संसार से मुक्त हो गईं । माता मरुदेवी हमारी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की जननी थीं ।”

ऋषभदेव ने तो मुनिधर्म ग्रहण कर लिया और आत्म-साधना में जुट गये । किन्तु माता का सन्तान के प्रति बड़ा जबर्दस्त मोह होता है । मरुदेवी भी माता थीं अतः मोहवशात् उन्होंने अपने पौत्र भरत चक्रवर्ती को स्नेहपूर्ण उपालम्भ देते हुए कहा—

“भरत ! ऋषभ तो गया और लौटकर आया ही नहीं, पर तू भी राज्य में ऐसा लुब्ध हो गया कि मेरे ऋषभ की खबर नहीं मँगाता !”

पर इसके बाद ही सौभाग्यवश यत्र-तत्र विचरण करते हुए भगवान ऋषभदेव विनिता या अयोध्या नगरी में पधारे । आपको मालूम ही होगा कि प्राचीनकाल में सन्त नगर के बाहर किसी बगीचे आदि में ठहरा करते थे और जब वन-पालक नगर में आकर मुनिराज के पधारने की सूचना देता था तब राजा अपनी प्रजा एवं परिवार सहित उनके दर्शनार्थ जाया करते थे ।

भगवान ऋषभदेव भी विनिता नगरी के बाहर उद्यान में आकर ठहरे तथा उनके पधारने की सूचना नगर में पहुँची । सभी के हृदय हर्ष से विभोर हो उठे और भगवान की माता मरुदेवी का तो कहना ही क्या था ! वे प्रसन्नता से पागल हो उठीं और उसी समय अपने पुत्र के दर्शनार्थ जाने को तैयार हो गईं ।

चक्रवर्ती भरत माता मरुदेवी एवं अन्य समस्त प्रजाजनों के साथ बड़े हर्ष और ठाट-बाट के साथ भगवान के दर्शनार्थ रवाना हुए । मरुदेवी हाथी पर विराजमान थीं । चलते-चलते जब दूर से ही उन्होंने देखा कि उद्यान में सन्त-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका, इस प्रकार चारों तीर्थं मौजूद हैं तो कुछ क्षणों के लिए उन्हें विचार आया—“मेरे ऋषभ के लिए क्या कमी है ? इसकी हाजिरी में तो लाखों व्यक्ति सदा उपस्थित रहते हैं, इसीलिए वह मुझे भूल गया ।”

किन्तु अद्भुत संयोग था कि उसी समय मरुदेवी के विचारों ने पलटा ख़ाया और वे सोचने लगीं—“अरे मन ! ऋषभ तो सबका मोह त्याग कर आत्म-

कल्याण में जुटा हुआ है, और मैं मोह में पड़कर निरर्थक ही कर्मों का बन्धन कर रही हूँ। सत्य तो यही है कि इस संसार में कौन किसका बेटा, कौन किसकी माता और कौन किसका पिता या पौत्र है ? यहाँ प्रत्येक जीव अनन्तकाल से प्रत्येक जीव के साथ नाते जोड़ता चला आ रहा है और हर जीव के हर जीव के साथ अनेकों सम्बन्ध हो चुके हैं। प्रत्येक जन्म में तो वह अपने सम्बन्धी बनाता रहा है, फिर इस एक जन्म के पुत्र के प्रति मुझे मोह रखने से क्या लाभ है ? यह मोह ही तो पुनः-पुनः जन्म और मरण कराता है।”

इसी प्रकार माता मरुदेवी बोधि-दुर्लभ-भावना भाती रहीं और उनके परिणामों में विरक्ति का इतना उत्कृष्ट रसायन आ गया कि उसी समय हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। भावना की उत्कृष्टता का कितना अनुपम उदाहरण है ?

बिना त्याग और तप के केवलज्ञान कैसे मिल गया ?

लोग शंका करते हैं कि अनेक व्यक्ति वर्षों तक धर्मोपदेश सुनते हैं, सामायिक, प्रतिक्रमण एवं पौषध आदि धर्म-क्रियाएँ करते हैं तथा महीनों तक अनशन तप किया करते हैं, फिर भी उन्हें केवलज्ञान नहीं होता और मरुदेवी को ठाट से हाथी पर बैठे-बैठे ही इस ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो गई ?

बन्धुओ, उस चौथे आरे में छल-कपट और दिखावा बहुत कम पाया जाता था। व्यक्ति जो कुछ करता था उसके पीछे उसकी भावनाएँ भी अपने कर्म के अनुसार होती थीं। यह नहीं होता था कि व्यक्ति करता कुछ था और चाहता कुछ था। आज का व्यक्ति वैसा नहीं है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम और आप हैं। आप प्रवचन सुनते हैं, सामायिक-प्रतिक्रमण करते हैं और तपस्या में भी कमी नहीं रखते; किन्तु यह सब निस्वार्थ भाव से या केवल कर्मों की निर्जरा के लिए आप नहीं करते। आपकी क्रियाओं के पीछे देखा-देखी, धमत्तिया कहलवा कर प्रशंसा की कामना और इन सबसे बढ़कर यह इच्छा रहती है कि—‘धर्म-कार्य करने से हम सुखी बनेंगे, हमारा ऐश्वर्य बढ़ेगा और परिवार में अमन-चैन बना रहेगा। किसी को रोग-शोक नहीं घेरेंगा।’

इन भावनाओं का परिणाम यह होता है कि आपकी सम्पूर्ण धर्म-क्रियाओं का फल सीमित हो जाता है। आप लोग अपने धर्म और तप के फल को स्वयं ही सांसारिक सुखों तक सीमित कर लेते हैं और इच्छामुसार पा भी जाते हैं। आप ही बताइये कि क्या ऐसा नहीं होता ? एक उपवास करके ही आप दूसरे व्यक्ति से पूछते हैं—‘तुम्हारे आज उपवास है क्या ?’ यह इसीलिए कि आपके उपवास की जानकारी उसे हो जाय। दान देकर आप अपनी धन राशि को

अपने नाम सहित पत्थर पर लिखवाकर दीवाल में लगवा देते हैं कि हर आने-जाने वाला सदा आपको दान-दाता के रूप में याद करे। और तो और, आप मानता करते हैं कि अमुक रोग मिट जाने पर या व्यापार में इतना नफा होने पर मैं तेला करूँगा या अमुक तीर्थ पर जाकर भगवान के दर्शन करूँगा।

इस प्रकार धर्म-क्रियाएँ और तपादि करने से पूर्व ही आप अपनी करनी के फल को रजिस्टर्ड करा लेते हैं फिर भला आप ही बताइये कि आपने जितनी शर्त रखी हैं, उससे अधिक आपको कैसे मिलेगा। यह तो एक प्रकार से धर्म की नौकरी हो गई कि इतना काम करेंगे और इतना लेंगे। यही होता है न नौकरी में? किन्तु बिना पैसे की बात किये अगर कोई सेवा-भावना से कार्य करता है तो उसे अपनी आशा से अधिक भी मिल जाता है अगर देने वाला उत्तम विचारों का और कार्य की कद्र करने वाला हो तो।

तनिक ध्यान से समझिये कि धर्म भी आपके कार्यों का फल देने वाला दाता है और उसकी उत्तमता में तो सन्देह ही नहीं है कि वह आपकी धर्म-क्रियाओं का फल कम देगा किसी द्वेष या वैर के कारण। इसलिए अगर निस्वार्थ भाव और बिना शर्त या निदान के आप त्याग, तपस्या या अन्य शुभ क्रियाएँ करेंगे तो धर्म के जैसा देने वाला आपको और कौनसा मिलेगा, जो कि आपकी निस्वार्थ सेवा से सन्तुष्ट होकर मोक्ष भी दे सकता है, देता भी आया है। पर उन्हीं को, जिन्होंने उसकी आराधना का धन, जन, यश या स्वर्ग आदि के रूप में कोई फल नहीं चाहा है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि प्राचीनकाल में आज के समान व्यक्तियों में दिखावे की, बेईमानी की, यश प्राप्ति की और किसी व्यक्ति को, मालिक को या धर्म और भगवान को भी धोखा देने की भावना नहीं होती थी। एकान्त रूप से समस्त व्यक्तियों की बात मैं नहीं कह रहा हूँ क्योंकि कृष्ण के समय में कंस, राम के समय में रावण, युधिष्ठिर के समय में दुर्योधन और भगवान महावीर के समय में गोशालक जैसे होते चले आ रहे हैं। मैं तो केवल यह बता रहा हूँ कि जिस प्रकार आज रावण, कंस और गोशालक जैसे व्यक्तियों की भरमार है तथा राम, कृष्ण और महावीर सरीखे बिरले ही मिल सकते हैं, उस प्रकार पूर्वकाल में अच्छे व्यक्ति अधिक मिलते थे बुरे कम।

अच्छाई से मेरा अभिप्राय यहाँ हृदय की सरलता से है। आज भी छोटे-छोटे गाँवों में सरल व्यक्ति अधिक मिलते हैं। हृदय की सरलता अनेक गुणों को जन्म देती है तथा विद्यमान दोषों को मिटाने की क्षमता रखती है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

भद्रएणेव होअब्बं पावइ भद्दाणि भद्दओ ।
सवित्तो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चई ॥

अर्थात्—मनुष्य को भद्र होना चाहिए, भद्र को ही कल्याण की प्राप्ति होती है । विषधर सर्प मारा जाता है, निर्विष को कोई नहीं मारता ।

वस्तुतः जिस प्रकार विषधर सर्प मारा जाता है और उसे घोर कष्ट उठाने पड़ते हैं निर्विष को नहीं, इसी प्रकार कषायों के विष से रहित जीव जहाँ शाश्वत सुख की प्राप्ति कर लेता है, वहाँ कषायों के विष को अपने में पालने वाला जीव एक बार ही नहीं अपितु असंख्य बार जन्म ले लेकर काल के द्वारा मरण को प्राप्त होता है ।

इसलिए भले ही व्यक्ति में ज्ञान की अधिकता और विद्वत्ता न हो, पर हृदय राग-द्वेष के विष से रहित शुद्ध और सरल होना चाहिए । ऐसा व्यक्ति ही वीतराग की वाणी को या सद्गुरुओं के उपदेश को सुवर्ण-पात्र के समान अपने मानस में सुरक्षित रख सकता है । भद्रता या सरलता का एक छोटा-सा उदाहरण है—

एक धनी साहूकार अपने नौकर के साथ किसी दूसरे गाँव को जा रहा था । साहूकार ने नौकर से कहा—“देखो, कोई वस्तु गिर जाय तो उसे उठा लेना ।”

“जी !” कहकर नौकर ने सरलता से इस बात को स्वीकार कर लिया ।

साहूकार धोड़े पर था । चलते-चलते पहले उसका एक कीमती दुशाला पृथ्वी पर गिर पड़ा । नौकर ने उसे उठाकर हाथ में ले लिया । कुछ दूर और चलने पर धोड़े ने लीद कर दी । बेचारा नौकर आज्ञाकारी था अतः उसने लीद को उठाया और दुशाले में बाँध लिया ।

यद्यपि नौकर अज्ञानी था किन्तु सरल और आज्ञाकारी भी था । अगर उसे कुछ समझाया जाता तो वह अविलम्ब सीख को ग्रहण कर लेता । यह केवल सरलता का एक नमूना ही है । मैं इससे यही बताना चाहता हूँ कि ऐसे सरल हृदय रखने वाले व्यक्ति सद्गुरुओं के उपदेशों को भी शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं तथा भगवान की आज्ञा का पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास से पालन करते हैं । प्राचीन काल में भी अधिकांश व्यक्ति शुद्ध और सरल चित्त वाले होते थे अतः वे जो कुछ भी सुनते उसे सही रूप में ग्रहण करके जीवन में उतार लेते थे और जो कुछ भी करते थे या सोचते थे, उसके पीछे अन्तःकरण की शुद्ध भावना होती थी जो कि डगमगाती नहीं थी ।

मोक्ष-द्वार खुलकर बन्द हो गया !

माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे-बैठे जो वैराग्य-भावना भाई उसमें एकत्व,

अन्यत्व, अनित्यत्व एवं संसार की असारता का भाव आत्मा की गहराई से उठा था। परिणाम यह हुआ कि शुभ भावनाएँ क्रमशः और तेजी से चढ़ती हुई गुण-स्थानों की समस्त श्रेणियाँ पार कर गईं और अल्पकाल में ही उन्होंने सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शिता हासिल कर ली।

इस प्रकार उनकी पिछले जन्म की उत्तम करणी थी और थोड़ी जो कसर थी, उसके लिए निमित्त मिल गया। इस अवसर्पिणी काल में मोक्ष का दरवाजा खोलने वाली माता मरुदेवी ही थीं। उनके पश्चात् अनेक भव्य आत्माएँ उस द्वार से अन्दर पहुँची हैं। पर जम्बूस्वामी के जाने के बाद यह दरवाजा बन्द हो गया, ऐसा लोग कहते हैं। यह कथन केवल अपने बचाव के लिए ही है। यथार्थ यही है कि मोक्ष का द्वार तो सदा खुला ही रहता है किन्तु उत्कृष्ट करणी करने वालों का अभाव हो गया है। जिनसे कुछ होता नहीं, वे झट कह देते हैं—“हम क्या करें? जम्बूस्वामी तो मोक्ष का दरवाजा ही बन्द कर गये हैं।”

अरे भाई! जब तुम उत्तम करणी करोगे और मोक्ष जाने लायक अपनी आत्मा को बना लोगे तो द्वार को खुलना ही पड़ेगा, कोई रोक नहीं सकेगा। अन्यथा द्वार खुला होकर भी तुम्हारे लिए बन्द जैसा ही है।

इसलिए, मोक्ष का द्वार खुला है या बन्द, इसकी परवाह न करते हुए हमें बोध प्राप्त करके उसे जीवन में उतारना है और बोध तभी हासिल होगा, जबकि सन्त-महात्माओं के द्वारा या सद्गुरुओं के द्वारा त्रीतराग प्रभु के वचनों को पूर्ण विश्वास एवं मन की स्थिरता के साथ सुना जाय। महापुरुषों के द्वारा आगम के श्रवण से कितना लाभ होता है यह पूज्य श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने अपने एक पद्य के द्वारा बताया है। यह पद्य उन्होंने विक्रम संवत् १६२८ में, जबकि वे केवल चौबीस वर्ष के थे, लिखा था—

शास्त्र सुने से लहे शिवमारग, श्रावक व्रत अखंडित पाले ।
जीव अजीव पुण्य अरु पाप को जानत आस्रव बन्ध को टाले ॥
संवर निर्जरा मोक्ष को तारत, उत्तम ज्ञान ले कर्म पखारे ।
शोभा तिलोक कहे जिन बैठा कि एक पलक में होत निहाले ॥

पद्य में कहा है—“जो भव्यपुरुष शास्त्र-श्रवण करेगा वही मोक्ष-मार्ग पर चल सकेगा।” किस प्रकार चलेगा? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने आगे बताया है—आगम-श्रवण से व्यक्ति जीव, अजीवादि तत्त्वों को जानेगा तथा मुनिघर्म नहीं भी ग्रहण कर सका तो भी श्रावक के बारहों व्रतों का तो वह पूर्णतया पालन करेगा ही और संवर के मार्ग पर चलता हुआ अपने कर्मों की

निर्जरा करके जीवन का लाभ उठायेगा। यह भी हो सकता है कि कभी वह माता भस्वेदी और भरत चक्रवर्ती के समान भावों में तीव्र उत्कृष्टता ले आये और पल भर में ही सर्वोच्च केवलज्ञान की प्राप्ति करके सदा के लिए निहाल हो जाए।

कहने का अभिप्राय यही है कि शास्त्र-श्रवण से ही मानव आत्मा में निहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं चारित्र्य के महत्त्व को समझेगा तथा पापों के अठारह भेदों की जानकारी कर सकेगा।

दशवैकालिकसूत्र के चौथे अध्ययन में कहा गया है—

सोच्छा जाणइ कल्लणं सोच्छा जाणइ पावगं ।

उभयं पि जाणइ सोच्छा जं सेयं तं सभायरे ॥

अर्थात्—जो मुमुक्षु प्राणी होता है वह सुनकर ही कल्याण के मार्ग को और सुनकर ही पाप के मार्ग को जानता है। पुण्य और पाप दोनों को समझकर वह आत्मा के लिए हितकर मार्ग को अपना लेता है।

स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आगम-श्रवण करता है वही पाप के मार्ग को और कल्याण के मार्ग को पहचान सकता है। आप सोचेंगे कि पाप के विषय में जानना क्या आवश्यक है? धर्म को या धर्माचरण के विषय में जान लेना ही तो काफी है। पर ऐसा विचार ठीक नहीं है। जब तक मनुष्य यह नहीं जानेगा कि पाप कौन-कौनसे हैं और उनका क्या परिणाम होता है? तब तक वह उनसे मय-भीत कैसे होगा और उनसे बचने का प्रयत्न भी क्यों करेगा? जिसे यह जानकारी होगी कि झूठ बोलना और चोरी करना पाप है और इनके परिणाम स्वरूप नरक के भयंकर दुःख भी सहन करने पड़ते हैं, वही तो चोरी का और झूठ का त्याग करेगा।

इसीलिए नौ तत्त्वों में जहाँ संवर, निर्जरा और मोक्ष के बारे में बताया गया है, वहाँ पाप, आस्रव और बन्ध की भी पूरी जानकारी कराई गई है। यह इसीलिए कि व्यक्ति पापों के स्वरूपों को तथा उनके भयंकर परिणामों को मली-भाँति समझ ले और तब पूर्ण आस्था तथा लगन पूर्वक संवर, निर्जरा और मोक्ष के मार्ग पर बढ़ जाये।

जान-बूझकर विषयान

बन्धुओ, हमारे सामने कल्याण का मार्ग भी है और पापोपार्जन का भी। आवश्यकता है इन दोनों में से एक के चुनने की। वैसे मैं अभी आपसे प्रश्न करूँ कि आप किस मार्ग पर चलना चाहते हैं? तो, एक भी व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि मैं पाप के मार्ग को पसन्द करता हूँ और उस पर चलना चाहता हूँ।

यह ठीक भी है, भला पाप के मार्ग पर चलकर नरक, निगोद या तिर्यंच गति के घोर दुःख पाने की अभिलाषा कौन करेगा ? दूसरे शब्दों में, जान-बूझकर विष कौन पियेगा ?

किन्तु, पापों से नफरत करते हुए भी और पाप के मार्ग से भयभीत होते हुए भी लोग उसी पर चलते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है ? आप जानते हैं कि झूठ बोलना पाप है, पर व्यापार में सुबह से शाम तक झूठ बोलते हैं। आप जानते हैं कि परिग्रह पाप है पर जितना भी इकट्ठा किया जा सके उतना करने के चक्कर में रहते हैं। आप जानते हैं कि हिंसा पाप है, किन्तु अविवेक और असावधानी रखते हुए अनेकानेक जीवों की हिंसा का कारण बनते हैं। इसके अलावा हिंसा दो प्रकार की होती है—(१) द्रव्य हिंसा और दूसरी भाव हिंसा। द्रव्य हिंसा न करने वाला यानी प्रत्यक्ष में किसी प्राणी का वध न करने वाला भी अगर अहिंसा व्रत ग्रहण नहीं करता और मन से किसी का बुरा सोचता है या जबान से किसी के मन को दुखाता है तो वह हिंसा का भागी बनता है। भला बताइये कि आप लोगों में से कौन-कौन हैं जो मन, वचन और शरीर से हिंसा का त्याग कर चुके हैं ? शायद ही कोई ऐसा मिले। तो हिंसा की पाप समझते हुए भी आप हिंसा से नहीं बचते।

इसी प्रकार राग, द्वेष, कषाय आदि पापों के कारण हैं और इनसे कर्म-बन्धन होते हैं, यह आप भली-भाँति जानते हैं, किन्तु कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो इन सब पापों के मूल से बचते हैं ? बिरले ही कोई ऐसे मिलेंगे।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि पापों से, नाम से घोर घृणा करने वाले और पापों के फल से डरने वाले आप लोग पाप-मार्ग पर ही तो बढ़ते रहते हैं। फिर कल्याण कैसे होगा ? यह तभी हो सकेगा जबकि आप लोग कम से कम श्रावक के एकदेशीय व्रत तो ग्रहण करें और उनका सच्चाई से पालन करें। बहुत से व्यक्ति व्रत ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु जहाँ थोड़ी भी दिक्कत आई वहाँ आगार है, कहकर मार्ग साफ कर लेते हैं। जैसे रात्रि भोजन का त्याग किया और जब तक बराबर शाम को खाना मिलता रहा कोई बात नहीं हुई, पर किसी दिन दुकान में खूब ग्राहक आये, खाने की फुरसत नहीं मिली या यात्रा करके घर आये और तब तक दिन समाप्त हो गया तो खाने का रास्ता निकाल लिया कि—अन्दर-बाहर, रोग और भूल का मेरे आगार है। बस, आगार के बहाने एक दिन भी व्रत का पालन नहीं हो सका।

इसी तरह व्रत ग्रहण किये तो धन की मर्यादा करली। किन्तु पुण्य-योग से व्यापार में नफा ही नफा हुआ तो अनाप-शनाप पैसा आ गया। अब क्या

करें ? रास्ता निकालना पड़ा और अपनी बणिक-बुद्धि जो कि सर्वोच्च कहलाती है उसके द्वारा कह दिया—“इतना धन इस पुत्र का है, इतना दूसरे का और बचा हुआ पौत्रों का है।”

यह हाल है आपके व्रत-पालन का। इस पर भी आप कहते हैं—“पुराने जमाने में तैला करते ही देवता सेवा में हाजिर हो जाते थे, पर आज मास-खमण करने पर भी किसी देव की शकल दिखाई नहीं देती। पर आप मासखमण भी तो वैसे ही करते हैं जैसे सामान्य व्रतों के पालन में धर्म को धोखा देते हैं। क्या आप तपस्या करते समय अपने मन, वचन एवं शरीर को उसी प्रकार निर्दोष रखते हैं, जिस प्रकार पुराने समय में साधक रखते थे ? नहीं, केवल अन्न ग्रहण न करने के अलावा और किसी प्रकार का संयम आप नहीं रख पाते। यही कारण है कि देवताओं के सेवा में उपस्थित न होने का। आप मनुष्यों को धोखा दे सकते हैं देवताओं को नहीं, क्योंकि उन्हें अवधिज्ञान होता है।

तो बन्धुओ ! अगर आप यथार्थ में ही पापों से नफरत करते हैं और आत्म-कल्याण की चाह रखते हैं तो आपको संवर के मार्ग पर चलना चाहिए। संवर का मार्ग आप धर्मोपदेशों से तथा स्वाध्याय से समझ सकेंगे। किन्तु आपको व्रीतराग प्रभु के वचनों पर विश्वास करना होगा तथा उनकी आज्ञाओं को जीवन में उतारना होगा। इसमें तर्क-वितर्क नहीं चल सकते। जहाँ तर्क-वितर्क करने की और शंका की भावना आपके हृदय में आई कि आप गुमराह हो जाएँगे। एक उदाहरण है—

बैल वकील नहीं है !

एक वकील घूमते-घामते किसी तेली के घर की तरफ निकल गये। उन्होंने जीवन में कभी कोलू चलते नहीं देखा था अतः बड़े ध्यान से बैल को आँख पर पट्टी बाँधे घूमते हुए देखने लगे।

ठीक उसी समय तेली जो कि अन्दर सोया हुआ था, आँखें मलते-मलते बाहर आया और वकील साहब को खड़े देखकर बोला—“आप कैसे पधारे हैं, साहब ?”

वकील ने हँसते हुए कहा—“भाई, मुझे चाहिए कुछ नहीं, मैं तो इस बैल को लगातार गोल दायरे में चलते हुए देखकर खड़ा हो गया था। पर यह तो बताओ कि अगर तुम सोये रहते और यह बैल चलता वन्द कर देता तो तुम्हें कैसे पता चलता ?”

“क्यों ? इसके गले में घन्टी जो बँधी हुई है। जब तक यह चलता रहता।

है, गर्दन के हिलने से घन्टी बजती रहती है। यह रुकता है तो घन्टी बजना बन्द हो जाता और मुझे अन्दर ही इसके रुकने का पता चल जाता है।”

वकील साहब क्षणभर विचार करते रहे और फिर बोले—

“अच्छा यह बताओ कि बैल चलना छोड़ दे और एक जगह खड़े-खड़े ही गर्दन हिलाकर घन्टी बजाता रहे तो तुम कैसे जानोगे कि वह रुक गया है?”

“यह कोई वकील तो है नहीं, साहब, जो जाल रचकर मुझे वेवकूफ बना-एगा। यह पशु है अतः इसमें इतनी चतुराई कहाँ?” तेली ने सहजभाव से उत्तर दे दिया। वह नहीं जानता था कि उससे प्रश्न करने वाला वकील ही है।

किन्तु वकील तेली की बात सुनकर बहुत शर्मिन्दा हुआ और समझ गया कि वास्तव में ही तेली विश्वासपूर्वक बैल को चलाता है, उसे उसके चलते रहने में शंका नहीं होती! क्योंकि बैल में कपट-भावना नहीं हो सकती। यह सब तो मनुष्यों के काम हैं।

वस्तुतः मानव न जाने कितने फरेब, जालसाजी, धोखेबाजी और कपट-क्रियाएँ कर सकता है, क्योंकि उसमें सरलता नहीं होती। वह भगवान के वचनों में अविश्वास करता है तथा गुरुओं के छल-छिद्र भी ढूँढता रहता है। किन्तु ऐसा करने से उसका कोई लाभ नहीं होता उलटे नुकसान होता है। अगर वह वीतराग-वाणी पर विश्वास करके चले तो सहज ही अपनी आत्मा को निष्कलुष और उन्नत बनाता हुआ कल्याण के मार्ग पर चल सकता है। पर अगर सन्देह की आग उसके हृदय में धधक जाती है तो वह सम्पूर्ण आत्म-गुणों को नष्ट करके मनुष्य को मिथ्यात्व, जो कि पाप का मार्ग है, उस पर डाल देती है। परिणाम यह होता है कि जीव मोक्ष-धाम तक कभी नहीं पहुँच पाता, मार्ग में ही मटक जाता है। अतः मुमुक्षु को शंकारहित होकर श्रद्धा के साथ यथाशक्य धर्माधन करना चाहिए।

कहा भी है—

जं सक्कइ तं कीरइ, जं सक्कइ तयम्मि सद्वहणा ।

सद्वहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥

—धर्म संग्रह २-२१

अर्थात्—जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए एवं जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जीव भी जरा एवं मरणरहित मुक्ति का अधिकारी बनता है।

गाथा में कितनी सुन्दर बात कही गई है? इसमें कहा है कि जीव धर्मा-

चरण न करता हुआ भी अगर धर्म पर श्रद्धा रखे तो संसार से मुक्त हो सकता है। पर भाइयो ! आप उस वकील की भाँति न सोचें कि कौलू का बैल खड़ा-खड़ा घन्टी बजाता रहे तब भी मालिक को धोखा दे सकता है। बैल में कपट-भावना नहीं होती, अतः अगर वह खड़ा हो जाय और जीव-जन्तुओं के काटने से उसकी गर्दन हिलती रहे साथ ही घन्टी भी बजती रहे तो भी वह क्षम्य है; क्योंकि उसकी भावना केवल घन्टी बजाते रहकर मालिक को धोखा देने की नहीं है। वह या तो सहजभाव से या थकावट के कारण खड़ा होगा और जीव-जन्तुओं के परेशान करने से घन्टी भी बज जायेगी।

पर, मनुष्य अगर प्रमाद के कारण और दिखावे के लिए धर्मक्रिया मन, वचन और कर्म इन तीनों के साथ न करे तो वह क्षम्य नहीं है। वह मन को धर्म-क्रिया से परे रखे तथा सांसारिक विषयों में उलझाये रहे और लोगों को तथा भगवान को मन्दिर में घन्टी बजा-बजाकर, आरती घुमा-घुमाकर तथा जवान से भवन गुँजाता हुआ पूजा-पाठ के स्तोत्र पढ़-पढ़कर धोखा देना चाहे तो स्वयं ही धोखा खायेगा क्योंकि कर्म उसके दिखावे में न आकर उसकी आत्मा को घेर ही लेंगे।

शास्त्र की गाथा में धर्माचरण न कर पाने पर भी धर्म पर श्रद्धा रखने के लिए कहा है कि इससे भी जीव जन्म-मरण से मुक्त हो सकता है। पर उसका धर्माचरण या धर्म-क्रिया न करना तभी चल सकता है, जबकि मनुष्य किसी घोर व्याधि से पीड़ित हो, शारीरिक अंगों की अपूर्णता आदि हो अथवा वृद्धावस्था के कारण अत्यधिक निर्बलता यानी शक्ति-हीनता हो। ऐसी स्थिति में अगर वह धर्म-क्रिया न करके भी अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से अपनी अयोग्यता के लिए खेद करता हुआ धर्म पर पूर्ण आस्था रखे और मन से कमी विचलित न हो तो अपनी शुद्ध भावनाओं का पूरा लाभ उठा सकता है।

इसलिए बन्धुओ, हमें वकील की तरह आगम के शब्दों को नहीं पकड़ना है कि इसमें धर्माचरण न करने पर भी संसार से मुक्त होना लिखा है अतः आचरण की क्या आवश्यकता है? हमें यथाशक्य जीव-अजीवादि तत्त्वों पर चिंतन-मनन करना है, एकत्व-अन्यत्वादि भावनाओं को मानना है तथा अपनी धर्म-क्रियाओं को दिखावे की न बनाकर आन्तरिक श्रद्धासहित सम्पन्न करना है। ऐसा करने पर ही हम शास्त्र-श्रवण या स्वाध्याय का लाभ उठा सकेंगे तथा पाप के मार्ग से परे रहकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे।



मोक्ष गढ़ जीतवा को

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल मीने 'दशवैकालिक सूत्र' की एक गाथा को लेकर बताया था कि सुनने से ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है और सुनने से ही पाप के मार्ग को भी जाना जा सकता है। इन दोनों मार्गों की जानकारी मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। क्योंकि मार्ग को जाने बिना वह चलेगा कैसे ?

मार्ग-दर्शन

आप लोग जानते हैं कि किसी भी मार्ग को जानने के लिए कितना प्रयत्न और परिश्रम करना पड़ता है। बचपन से लेकर युवावस्था तक स्कूल और कॉलेजों में पढ़ते हैं, तब कहीं धन कमाने के मार्ग आप जान पाते हैं और वह धन केवल आपके इसी जीवन में काम आता है, कभी-कभी तो तब तक भी काम नहीं आता, बीच में ही साथ छोड़ देता है।

ऐसी स्थिति में कल्याण का मार्ग जो कि जीव को धर्मरूपी धन प्रदान करता है वह सहज ही कैसे जाना जा सकता है ? खेद की बात तो यह है कि आज का व्यक्ति रुपये-पैसे और हीरे-भोतियों को ही धन मानता है, धर्म को नहीं। इसका कारण यही है कि धन उसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है और वह जीवन में उससे लाभ होता हुआ अनुभव करता है। धर्म-रूपी धन की वह कद्र नहीं करता; क्योंकि धर्म न तो स्वयं दिखाई देता है और न ही उससे होने वाले लाभ को वह देख पाता है या समझ पाता है।

पर धन की अपेक्षा धर्म को समझना मनुष्य के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, धन कमाने का मार्ग जानना जितना जरूरी नहीं है, उतना जरूरी धर्म कमाने का मार्ग जानना है। इसीलिए भगवान ने शास्त्र-श्रवण की प्रेरणा

दी है। शास्त्र-श्रवण करने से मानव धन और धर्म दोनों का अन्तर समझ सकता है तथा धन का मार्ग जो कि पाप का मार्ग है, उससे बचकर धर्म के कल्याणकर मार्ग पर चल सकता है। संक्षेप में, श्रुति यानी शास्त्र ही आत्मा के लिए जो उपयोगी है उस सम्मार्ग की पहचान या मार्ग-दर्शन कराकर मनुष्य को जीवन का सच्चा लाभ उठाने में सक्षम बना सकता है।

मोक्ष-गढ़ विजयी राजा

बन्धुओ, आज मुक्ति की अभिलाषा प्रत्येक व्यक्ति करता है। वह नरक के नाम से नफरत करता है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए उत्सुक रहता है। किन्तु क्या नरक के नाम से घृणा करने पर और मोक्ष की चाह रखने पर ही जीव नरक में जाने से बच सकता है तथा मोक्ष के द्वार पर पहुँच सकता है? नहीं, इसके लिए आत्मा को इस संसार-रूपी रणस्थल पर अपनी योग्य सेना के साथ काल रूपी महान् शत्रु के साथ धीरे युद्ध करना पड़ता है और उसमें जीतने पर ही मोक्ष-रूपी किला हाथ आता है।

इस विषय पर पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने एक अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक पद्य लिखा है जिसे मैं आपके सामने रखने जा रहा हूँ। पद्य इस प्रकार है—

जीव रूप राजा समकित परधान जाके,
 ज्ञान को भण्डार, शील रूप रथ सार के।
 क्षमा रूप गज, मन हय को स्वभाव वेग,
 संजम की सेना तप आयुध अपार के ॥
 सज्जाय वाजित्र शुभ ध्यान नेजा फरकत,
 रैयत छःकाय सो बचाय कर्म मार के।
 मोक्षगढ़ जीतवा को कहत तिलोक रिख,
 करिये संग्राम ऐसी धीरजता धार के ॥

इस पद्य में बहुत ही सुन्दर तरीके से बताया है कि आत्मा रूपी राजा का कौन मन्त्री है? क्या उसका खजाना है? कैसा रथ है? कौन हाथी और घोड़ा है? किस प्रकार की प्रजा और सेना है तथा वह किस प्रकार रण-भेरी बजाते हुए और नेजा फहराते हुए युद्ध करके मोक्ष रूपी गढ़ को फतह करता है?

सर्वप्रथम कविश्री ने जीव को राजा बताया है। वह इसलिए कि जीव के विद्यमान रहने पर और उसकी आज्ञा होने पर ही मन एवं इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करते हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भी जीव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो बुच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो दुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥

गाथा का अर्थ है—यह शरीर नौका के समान है, जीवात्मा उसका नाविक है और संसार समुद्र है। महर्षि इसी देह रूपी नौका के द्वारा संसार-सागर को पार करते हैं।

जिस प्रकार श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने आत्मा को राजा इन्द्रियादि को सेना और संसार को रणस्थल बताकर आत्मा की महत्ता साबित की है, इसी प्रकार शास्त्र की इस गाथा में केवल उपमाओं का अन्तर है पर नाविक के रूप में आत्मा का महत्त्व राजा के समान ही बताया है। संसार अगर रणस्थल माना जाय तो भी संग्राम करना बहुत कठिन है और सागर माना जाय तो उसे पार करना भी कठिन है। इस प्रकार आत्मा राजा के रूप में और संसार-सागर को पार करने वाले नाविक के रूप में भी उतना ही महत्त्व रखती है। दूसरे शब्दों में आत्मा राजा के समान है, तभी संसार-रूपी रणस्थल में काल जैसे भयानक शत्रु से जीत सकती है और नाविक के समान है अतः संसार रूपी विशाल सागर को पार कर सकती है जिसमें कषायों के समान भयंकर जीव-जन्तु और काल रूपी तूफान शत्रु के समान छिपे हुए हैं जो देह-रूपी नौका की उलट देने की ताक में रहते हैं।

तो अब हमें पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज के पद्यानुसार जीव राजा के विषय में समझना है। पद्य में महाराज श्री ने बताया है कि जीवात्मा एक महिमामय राजा है और उसका मन्त्री सम्यक्त्व है। कथन पूर्णतया यथार्थ है। जिस प्रकार बुद्धिमान मन्त्री राजा को नेक सलाह देकर राज्य चलाने में सहायक बनता है और मूर्ख या दुष्ट मन्त्री गलत सलाहों से राजा को कुमार्ग पर चलाकर राज्य का अस्तित्व और कभी-कभी तो राजा का जीवन भी खतरे में डाल देता है; इसी प्रकार सम्यक्त्व नेक मन्त्री के रूप में जीवात्मा को संसार-संग्राम में विजयी बनाकर मोक्ष-गढ़ हासिल कराता है तथा मिथ्यात्व रूपी दुष्ट और कपटी मन्त्री उसे शक्तिहीन बनाकर कालरूपी शत्रु से पराजित करवाता है। इसके परिणामस्वरूप मोक्ष-गढ़ तो दूर की बात है, जीवात्मा को संसार भ्रमण करने और घोर दुःखों को सहन करने में ही अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है तथा निश्चितता से कहीं पैर टिकाने का भी समय नहीं मिलता।

आप विचार करेंगे कि पैर कैसे नहीं टिकते ? हमारे पैर तो आराम से

पृथ्वी पर टिके हुए ही हैं। यह आपका भ्रम है। आप सोचते हैं कि हमारे पैर टिके हुए हैं, पर जन्म लेने के बाद से ही अदृश्य रूप से काल प्रतिक्षण आपके पैरों को आयु के धक्कों द्वारा थोड़ा-थोड़ा करके मृत्यु के मयानक गर्त की ओर सरकाता जा रहा है। थोड़ा गहराई से विचार करने पर इसकी सत्यता आप की समझ में आ जायेगी।

इसीलिए मिथ्यात्व रूपी मन्त्री जीवात्मा के दुःख का कारण है और उसे कुमार्गगामी बनाकर गुमराह करने वाला है। पर अमर जीव को सम्यक्त्व रूपी मन्त्री मिल जाता है तो वह पथ-भ्रष्ट नहीं हो पाता तथा उसकी सलाह से अपने समस्त शत्रुओं से लोहा ले लेता है। आगम कहते हैं—

कुणभाणोऽवि निबित्तं,
परिच्चयंतोऽवि सयण-धण-भोए ।
दित्तोऽवि दुहस्स उरं,
मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झई उ ॥

—आचारंग (नियुक्ति, २२०)

अर्थात्—एक साधक निवृत्ति की साधना करता है, स्वजन, धन और भोग-विलास का परित्याग करता है, अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है, किन्तु यदि वह मिथ्यादृष्टि है, यानी उस जीव का मन्त्री मिथ्यात्व है तो वह अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

ऐसा क्यों होता है ? इस विषय में भी 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया गया है कि—

नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स णिड्ढाणं ॥

—अध्ययन २८, गाथा ३०

कहा है—सम्यक्दर्शन के अभाव में ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र्य के गुण नहीं होते, गुणों के अभाव में मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव में निर्वाण या शाश्वत आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार सम्यक्त्व रूपी मन्त्री ही जीव राजा को सही सलाह देकर कल्याण के मार्ग पर चलाता है और उसके अभाव में मिथ्यात्व गुमराह करके उसे मार्ग से भटका देता है। आगे राजा के खजाने के विषय में बताया है। जब राज्य है तो खजाना भी विशाल होना चाहिए। उसके अभाव में राज्य

कार्य किस प्रकार चलेगा ? धन के अभाव में न सेना इकट्ठी होगी, न हथियार आ सकेंगे और न ही रसद-पानी जुटाया जा सकेगा ।

इसीलिए जीव रूपी राजा अपने पास अक्षय कोष भी रखता है । वह कोष है ज्ञान का । साधारण व्यक्ति सोचते हैं कि हमारे पास रुपया-पैसा नहीं है अतः हम गरीब हैं, पर सचमुच ही गरीब तो वह है, जिसके पास ज्ञान रूपी धन नहीं है । जिस भव्य पुरुष के पास जड़ धन नहीं है, पर ज्ञान-धन है, वह उसकी सहायता से संसार में इस विषम मार्ग पर भी बेफिक्र होकर चलता हुआ मोक्ष-द्वार पर पहुँच सकता है ।

ऐसा व्यक्ति तो जड़-धन की आकांक्षा भी नहीं करता और होने पर उसे बोझ मानता है ।

उतारा हुआ बोझ पुनः नहीं स्वादूंगा !

कहा जाता है कि लोक-प्रसिद्ध बैरिस्टर चितरंजनदास ने अपने पिता की मृत्यु के बाद वकालत प्रारम्भ की थी । जिस समय उनके पिता की मृत्यु हुई, उन पर दस लाख रुपयों का कर्ज था । चितरंजनदास जी ने बड़ी बुद्धिमानी से प्रेक्टिस की और उससे बहुत पैसा आने लगा ।

जब पास पैसा आया तो उन्होंने सर्वप्रथम अपने पिता का लिया हुआ कर्ज अदा करने का निश्चय किया और यह मालूम करना चाहा कि कौन-कौन व्यक्ति हैं, जिन्हें रुपया देना है ? पर उन्हें यह मालूम नहीं हो सका । अतः उन्होंने दस लाख रुपये कोर्ट में जमा करा दिये और अखबारों के द्वारा घोषणा करवा दी कि—“जिन-जिन व्यक्तियों को मुझसे रुपया लेना है वे कोर्ट में अपना नाम बताकर जितना रुपया आता हो वह ले जाएँ ।”

किन्तु रुपया कोर्ट में पड़ा रहा और बहुत दिनों तक कोई भी व्यक्ति लेने नहीं आया । आखिर न्यायालय के न्यायाधीश ने चितरंजनदास को अपना रुपया वापिस ले लेने के लिए कहा ।

बन्धुओ, आप जानते हैं कि इस पर चितरंजनदास ने क्या किया ? उन्होंने कह दिया—“मैंने तो न्यायालय में दस लाख रुपये जमा करके अपने मस्तक का भार कम कर लिया है; अतः अब पुनः उस भार को लादना नहीं चाहता । कोई व्यक्ति अपने रुपये ले जाय या नहीं, मैं इन्हें नहीं ले जाऊँगा । मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।”

जानी पुरुष इसी प्रकार धन से उदासीन रहते हैं, क्योंकि वे ज्ञानरूपी धन को धन मानते हैं तथा रुपयों-पैसों को निरर्थक बोझ । वे भली-भाँति जान लेते हैं कि धन के द्वारा आत्मा का कोई लाभ होने वाला नहीं है अपितु हानि ही

अधिक है, क्योंकि पहले तो धन कमाने में पाप-कर्मों का बोझा आत्मा पर बढ़ता है और उसके बाद दिन-रात उसकी सुरक्षा में समय लगाना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण जीवन इन्हीं दो कार्यों में समाप्त हो जाता है, आत्म-साधना का वक्त ही नहीं मिलता। इस प्रकार धन के चक्कर में पड़ा हुआ व्यक्ति आत्मा पर कर्मों का बन्धन तो कर लेता है पर उनसे मुक्त होने का कोई प्रयत्न नहीं कर पाता।

इसीलिए कहा गया है—

नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि,
सव्व जीवाणं सव्व लोए ।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, १-५

अर्थात्—संसार में परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल एवं बन्धन नहीं है।

वस्तुतः धन के जाल में उलझा हुआ व्यक्ति कभी चैन की साँस नहीं ले पाता तथा अर्हनिश हाय-हाय करके कर्म-बन्धन करता रहता है। सुखी वही ज्ञानी पुरुष होता है जो धन से उदासीन और निस्पृह रहता है।

‘ज्ञानसार’ का एक श्लोक और आपके सामने रखता हूँ जो इस प्रकार है—

भूशय्या भैक्ष्यमशनं, जीर्णवासो वनं गृहम् ।
तथापि निःस्पृहस्थाहो ! चक्रिणोप्यधिकं सुखम् ॥

अर्थात्—चाहे भूमि पर शयन करना पड़े, भिक्षा के द्वारा पेट भरना पड़े, कपड़े जीर्ण हों और वन में झोंपड़ी हो, फिर भी निस्पृह मनुष्य चक्रवर्ती सम्राट की अपेक्षा अधिक सुख का अनुभव करता है।

तो बन्धुओ, जीवरूपी राजा ज्ञानरूपी धन से अपना कोष सदा भरे रखता है, उसे कभी रिक्त नहीं होने देता। ज्ञान के द्वारा ही वह पाप और पुण्य की पहचान करता है, निर्जरा के महत्त्व को समझता है एवं निष्काम तप करके कर्मों से मुक्ति हासिल करता है।

पर आज आप में से कितने व्यक्ति हैं जो ज्ञान का महत्त्व समझते हैं और उसकी सहायता से धर्म के भेद-प्रभेदों को जानने की जिज्ञासा रखते हैं? कहने-सुनने पर आप श्रावक के बारह व्रत भी ग्रहण कर लेते हैं पर उन व्रतों को पूर्ण-तया समझने की कोशिश करते हैं क्या? नहीं, तब फिर व्रतों का पालन सच्चाई से कैसे हो सकता? व्रत लेना तो बहुत सरल है। आप हाथ जोड़कर खड़े हो गये और हमने कुछ ही देर में आपको व्रत दे दिये। किन्तु उनके पालन का जब

समय आता है तब बड़ी मुश्किल होती है; क्योंकि जिन व्रतों को आप ग्रहण करते हैं उनके बारे में आप गहराई से जानते नहीं और जानने की कोशिश करते भी नहीं।

अभी अगर मैं आपसे पूछ लूँ कि जीवतत्त्व के कितने भेद हैं तो शायद ही कोई यह बताएगा कि उसके पाँच-सौ चौसठ भेद हैं, और नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति तथा देव गति के भेद बताते वाला तो संभवतः एक भी नहीं होगा। इसी प्रकार अजीवतत्त्व के पाँच-सौ साठ भेद हैं, पुण्य तत्त्व के नौ हैं, इन्हें भी कोई नहीं जानता होगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाला व्यक्ति भी जब तक तत्त्वों की जानकारी या ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा तब तक वह किस प्रकार हेय, ज्ञेय और उपादेय—यानी छोड़ने लायक, जानने लायक एवं आचरण में लाने लायक क्या-क्या चीजें हैं, उन्हें कैसे जानेगा? उदाहरणस्वरूप, पुण्य में भी जानने लायक, ग्रहण करने लायक और छोड़ने लायक है, पर आप सब लोग इस बात को नहीं समझ पाते।

जहाज में कब तक बैठे रहोगे ?

मैं आपको इस विषय में संक्षिप्त रूप से बताता हूँ—हम पहले पुण्य को जहाज की उपमा देते हैं उसके बाद विचार करते हैं कि अगर हमारे सामने एक नदी हो और उसमें बाढ़ भी आ जाय तो उस स्थिति में हम उसे भुजाओं से तैरकर तो पार नहीं कर सकते अतः किसी जहाज का सहारा लेना चाहिए। यह बात जानने लायक है। जहाज स्वीकार करने लायक है और पार उत्तर जाने के बाद वह छोड़ने लायक है।

पुण्य इसी प्रकार जहाज के समान है। इसकी जरूरत तभी तक है, जब तक कि हमारे समक्ष संसार रूपी नदी या सागर है। इसे पार करते ही पुण्य छोड़ना पड़ेगा।

अनेक व्यक्ति हमसे कहते हैं—“पुण्य को न छोड़ा जाय तो क्या हर्ज है? वह कौन-सा दुःख देता है?” बन्धुओ, इसका उत्तर मनोरंजक है। मैं आपसे आपके प्रश्न के उत्तर में कहता हूँ कि आपको नदी पार करके अपने घर जाना है, ऐसा ही होता भी है। तो, घर पहुँचने के लिए आप नाव में बैठें और नाव से नदी को पार कर लिया, किन्तु फिर आप उसमें से उतरें ही नहीं और कहें—“इसे क्यों छोड़ूँ? बड़ी अच्छी है यह, मुझे कोई कष्ट नहीं पहुँचा रही।”

बताइये! उस स्थिति में आपको लोग क्या कहेंगे? और कहने वाले लोग वहाँ न भी हों तो आप स्वयं उस नाव में बैठे-बैठे क्या करेंगे? कब तक बैठेंगे?

नाव नहीं छोड़ेंगे तो घर नहीं मिलेगा और घर आना चाहेंगे तो नाव छोड़नी पड़ेगी। जब दो में से एक को, यानी घर और नाव में से किसी एक को चुनना पड़ेगा तो आप घर को ही तो चुनेंगे और स्वयं ही नाव से ऊबकर उसे छोड़ देंगे।

बस यही हाल पुण्य का है। जब तक संसार-सागर पार करना है, तब तक वह अच्छा है और अच्छा लगता भी है। किन्तु आपकी आत्मा का घर तो मोक्ष है और आप मोक्षरूपी घर पर जल्दी से जल्दी पहुँचना भी चाहते हैं। उस हालत में पुण्य को नहीं छोड़ूँ यह कहना हास्यास्पद और अज्ञानपूर्ण है। जब तक आप पुण्य को पकड़े बैठे रहेंगे, तब तक मोक्षरूपी घर आप से दूर रहेगा। उसे छोड़ने पर ही घर को पा सकेंगे।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि जीव, अजीव, पाप और पुण्यादि सभी तत्त्वों के विषय में ज्ञान के द्वारा ही जानकारी हो सकती है। हमारी आत्मा में तो अनन्तज्ञान छिपा है, आवश्यकता उसे बाहर लाने की है। कवि श्री ने आत्मा को उसके शुद्ध एवं ज्ञानमय स्वरूप की दृष्टि से देखकर ही राजा बताया है तथा कहा है कि उसके पास ज्ञान-रूपी अक्षय खजाना है।

पद्य में आगे कहा है—जीवात्मा रूपी राजा के पास शील रूपी रथ है। इस रथ पर सवारी करके ही वह संसार-रूपी रणस्थल में तीव्र गति से आगे बढ़ता है। शीलवान की आत्मा बड़ी शक्तिशाली होती है। सभी धर्म, सभी शास्त्र, सभी ग्रन्थ और पुराण शील की अपार महिमा का वर्णन करते हैं। शील-व्रत स्वयं भी मानो पुकार-पुकार कर कहता है कि जो मेरा अबलंबन लेगा, उसका सदा मंगल होगा। किसी कवि ने कहा भी है—

शील कहे मम राखत जे, तिनकी रछिया तिन देव करेगे ।
जे मम त्याग कुबुद्धि करें, तिन देव कुपे तिन सुख हरेंगे ॥
ठौर नहीं तिन लोक विखें, दुःख शोक अनेक सदैव धरेंगे ।
जारत हैं तिन्हि ताप तिन्हि, मम धारत आरत सिन्धु तरेंगे ॥

शील का कितना सुन्दर कथन है कि—“जो भव्य पुरुष मेरी रक्षा करेंगे उसकी रक्षा स्वयं देवताओं को आकर करनी पड़ेगी और जो दुर्जन या दुराचारी व्यक्ति कुबुद्धि के बशीभूत होकर मेरा त्याग करेंगे, यानी अनाचार को अपनाएँगे; उनसे कुपित होकर देव उनके समस्त सुखों का हरण कर लेंगे। ऐसे व्यक्तियों को संसार भर में कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा तथा वे निरन्तर दुःख एवं शोक के सागर में डूबते-उतराते हुए छटपटाते रहेंगे। आधि, व्याधि एवं उपाधि, ये तीनों ताप उन्हें सदा पीड़ा पहुँचाते रहेंगे।”

“किन्तु मुझे मान सहित धारण करने वाले महापुरुष कभी भी किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं करेंगे तथा दुःखों के विशाल सागर को भी सहज ही पार कर जाएँगे।”

वस्तुतः हम ऐसा ही प्रत्यक्ष में देखते भी हैं। जो दुराचारी तथा कुशील को अपनाते वाले व्यक्ति होते हैं, वे अपना धन, स्वास्थ्य, सम्मान आदि सब खो देते हैं तथा जीवन के अन्त में परचात्ताप एवं आर्तव्यथान करते हुए मृत्यु को प्राप्त होकर दुर्गति में जाते हैं। विषय-विकार मनुष्य के जीवन को बर्बाद कर देते हैं और यह दुर्लभ तथा सर्वोत्तम जीवन उसके लिए वरदान न बनकर घोर अभिशाप बन जाता है।

इसीलिए भव्य जीव कुशील के दलदल में न फँसकर शील रूपी रथ पर सवार होते हैं तथा पवन-वेग से भव-सागर पार कर जाते हैं। जीवात्मा के लिए आगे बताया है कि उस राजा के पास क्षमा रूपी हाथी रहता है। सेना की शोभा हाथी के बिना नहीं होती और जहाँ कठिन समस्या सामने आती है, हाथी के अलावा कोई भी उसका हल नहीं कर पाता।

उदाहरणस्वरूप कई स्थानों पर हमने देखा है और आपने भी देखा या पढ़ा होगा कि प्राचीन राजा लोग अपने नगर के विशाल द्वारों में तथा महलों के द्वारों में भी लोहे के बड़े-बड़े कीले लगवाया करते थे जो आज भी देखने को मिलते हैं। उन द्वारों को खोलने में या तोड़ने में हाथी के सिवाय कोई भी सक्षम नहीं हो पाता था। अत्यन्त मजबूत और नुकीले कीलों से युक्त उन वृहत्काय दरवाजों को बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धा भी तोड़ नहीं पाते थे, पर सधे हुए हाथी कीलों की चुभन से लहू-लुहान होते हुए भी अपने मस्तक से भारी टक्करें मार-मारकर उन्हें खोलने में या तोड़ने में सफल हो जाते थे।

क्षमारूपी गज या हाथी भी ऐसा ही ताकतवर होता है जो दुर्जन से दुर्जन मनुष्य के हृदय पर जड़े हुए क्रोधरूपी जबर्दस्त किवाड़ों को अपनी शक्ति के द्वारा खोल देता है तथा उसके अन्दर रहे हुए मन पर अधिकार कर लेता है। एक क्षमावान के सामने हजार क्रोधी भी आ जाएँ तो उनका पत्थर हृदय मोम बने बिना नहीं रह सकता। चण्डकौशिक नामक भयानक दृष्टिविष सर्प भी भगवान महावीर की क्षमा के कारण निर्विष के समान बन गया।

प्रत्येक महापुरुष क्षमा को सबसे बड़ा धर्म मानकर औरों से क्षमा-याचना करते हैं तथा स्वयं भी औरों को क्षमा प्रदान करते हैं। होना भी यही चाहिए। यह नहीं कि स्वयं से गलती हो गई तो कुछ नहीं कहा तथा औरों से छोटा-सा भी अपराध हो गया तो बरस पड़े।

अपनी मलती पर ध्यान देना चाहिए

एक घर में बाहर की बँठक में एक व्यक्ति अपने पुत्र के साथ बैठा था तथा स्कूल में दिये गये कुछ प्रश्नों के उत्तर समझा रहा था। अचानक ही घर के अन्दर से किसी काँच या चीनी के बर्तन के फूटने की आवाज आई।

पिता ने चौंककर कहा—“बेटा ! देखो तो, शायद तुम्हारे किसी भाई या बहन ने कोई बर्तन तोड़ दिया है।”

पुत्र बोला—“पिताजी ! यह बर्तन मेरे किसी भाई या बहन ने नहीं तोड़ा।”

“वाह ! यहीं बैठे-बैठे तुमने यह कैसे जान लिया ?” बाप ने आश्चर्य से पूछा।

“पिताजी ! बात यह है कि अगर हममें से किसी के द्वारा बर्तन टूटता तो अब तक माँ के द्वारा गालियाँ देने की या मारने-पीटने की भी आवाज आ जाती, पर वह आवाज नहीं आई है इसलिए निश्चित है कि बर्तन माँ के हाथ से ही टूटा है।”

पुत्र के इस प्रकार कहने पर जब पिता ने मालूम किया तो पता चला कि लड़के की बात सही थी। यानी उसकी माँ के द्वारा ही अचार की बरनी जमीन पर गिर कर फूट गई थी।

यह एक छोटा-सा उदाहरण है, पर संसार में इसी प्रकार होता है। लोग अपने बड़े से बड़े अपराध की ओर ध्यान नहीं देते, किन्तु दूसरों से थोड़ी-सी भी भूल हो जाने पर आकाश सिर उठा लेते हैं अर्थात् भूल करने वाले को गालियाँ देते हैं, उसकी निंदा करते हैं या उपहास का पात्र बनाकर लज्जित करते हैं।

ऐसा करना ठीक नहीं है। होना तो यह चाहिए कि व्यक्ति अपनी मलती के लिए पश्चात्ताप करे तथा औरों से भूल हो जाने पर उसे क्षमा कर दे।

ऐसी क्षमा सम्यक्त्वी जीव के हृदय में होती है। जो अपने क्षमारूपी हाथी के द्वारा क्रोधादि कषायों के सुदृढ़ गढ़ के द्वार तोड़ देता है। क्षमारूपी गज के मुकाबले में कषाय एवं विषय-विकार रूपी कोई भी शत्रु नहीं टिक पाता।

पद्य में जीवरूपी राजा की सेना में घोड़ा कैसा है ? इस विषय में बताया है कि वह मन है। मन को अश्व की उपमा दी जाती है। यद्यपि मन बड़ा चंचल होता है और प्रतिपल इधर-उधर दौड़ता रहता है। किन्तु जो साधक अपनी साधना के द्वारा विषय-विकारों से युद्ध करके उन्हें जीतना चाहता है,

वह इस मनरूपी घोड़े पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है तथा उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है। साधक का कथन है—

मणोसाहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ ।

तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कथंयां ॥

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र २३-५८

अर्थात्—यह मन बड़ा माहसिक, भयंकर, दुष्ट घोड़ा है, जो बड़ी तीव्र गति से चारों ओर दौड़ रहा है। पर मैं धर्मशिक्षा रूपी लगाम से इसे अच्छी तरह अपने वश में किये हुए हूँ।

संत आनन्दधन जी ने भी मन के विषय में कहा है—

मैं जाण्यूँ ए लिंग नपुंसक, सकल रदम ने ठेले ।

बीजी वाते समर्थ छे नर, एहने कोइय न झेले हो ।

कुण्यु जिन वर, मनहुं किमही न बाँझे ।

कवि ने कुंथुनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहा है—“प्रभो ! मैं तो यह समझता था कि मन नपुंसक लिंग है अतः अत्यन्त निर्बल और बुजदिल होगा; किन्तु अब मालूम पड़ा है कि इसने अपनी शक्ति से समस्त पुरुषों को हरा दिया है। बहुत चिन्तन-मनन से मैं यही समझ पाया हूँ कि मनुष्य के लिए और सब कुछ करना सरल है पर इस मन पर विजय पाना बड़ा कठिन है।”

वस्तुतः इस संसार में मन को जीतने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किये गये हैं जैसे हठयोग, प्राणायाम, मन को निष्क्रिय या मूर्च्छित बनाना, किन्तु ये सारे प्रयत्न व्यर्थ गये हैं क्योंकि मन की चंचलता मिट नहीं सकी। अतः बुद्धिमानों ने इसे निष्क्रिय करने की बजाय इसकी शक्ति को साधना में लगाया है। जो ऐसा कर सके हैं, उनकी साधना सफल हुई है।

आगे जीव राजा की सेना और उसके शस्त्र क्या हैं यह बताया है। इस विषय में कहा है—सत्रह प्रकार के संयम इसकी सेना है और तप इस सेना के अस्त्र-शस्त्र। तप भी अंतरंग और बाह्य, दोनों मिलाकर बारह प्रकार के होते हैं। तप के द्वारा कर्म शत्रुओं का नाश या निर्जरा होती है।

सेना के आगे रणभेरी बजती है जिसे कविश्री ने शास्त्रों का कंटों से उच्चारण करना बताया है और ध्यान को नेजा। ठाणांगसूत्र में ध्यान के चार प्रकार कहे गए हैं—

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमें से आर्त एवं रौद्रध्यान छोड़ने लायक हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान ग्रहण करने लायक।

आगे राजा की प्रजा के विषय में भी बताया है; क्योंकि प्रजा न हो तो

वह राजा किसका कहलायेगा ? तो जीव राजा की प्रजा है छः कार्यों के प्राणी । पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय । इन छहों कार्यों में जितने भी प्राणी हैं वे सब प्रजाजन हैं और प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है ।

तो बंधुओ ! पूज्य श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने जीवात्मा को राजा बनाकर बड़े ही सुन्दर और यथार्थ रूप में बता दिया है कि इसका मुख्य मंत्री कौन है ? इसका खजाना, रथ, हाथी, घोड़ा, सेना, शस्त्र, रणभेरी, नेजा और प्रजा क्या-क्या हैं ? वास्तव में इन सबकी सहायता से जीवात्मा संसार-संग्राम में विषय, कषाय, विकार और सबसे बढ़कर काल रूपी शत्रु से मुकाबला करता है और इन्हें विजित करके मोक्ष-रूपी गढ़ को हासिल कर लेता है ।

एक और भजन में भी चेतन को उद्बोधन देते हुए यही कहा है—

चेतन धरले अब ध्यान, जरा पढ़ले तू ज्ञान,
जिससे बन जाये इनसान चहे सुमति सखी ।
तेरा होगा कल्याण, ऐसी देती है सल्ला,
ले ले मोक्ष किल्ला, नहीं आवागमन ।
मिले सुख आठों याम, तेरा होवे सब काम,
मेरा कहा तू मान, जरा मान, मान ! मान !!

कवि बड़े आग्रह एवं विकलता से कह रहा है—“अरे चेतन ! जरा ध्यान रखकर ज्ञान ग्रहण कर । अगर तूने ज्ञान हासिल नहीं किया तो याद रखना, तेरी एक भी क्रिया साधना में सहायक नहीं बनेगी और सर्वथा निरर्थक चली जाएगी ।

अज्ञानी साधक की दशा बताते हुए शास्त्र में कहा गया है—

जहण्हा उत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे ।
सुद्धु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं च्चिणइ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर बहुत सी घूल अपने ऊपर डाल लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल संचय करता जाता है ।

इसीलिए प्रत्येक मुमुक्षु को पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके द्वारा हेय, ज्ञेय एवं उपादेय को समझकर अशुभ का त्याग करके शुभ में प्रवृत्त होना चाहिए । एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि ज्ञान सहज ही

प्राप्त नहीं होता, उसके लिए भी बहुत प्रयत्न करना पड़ता है और बहुत ठोकरें खानी होती हैं। आप समझ ही सकते हैं कि मात्र इस जीवन में काम आने वाले धन के लिए भी आपको कितना परिश्रम रात-दिन करना पड़ता है और बम्बई, मद्रास यहाँ तक कि विदेशों में भी भटकना पड़ता है। तब फिर ज्ञान-रूपी धन, जो कि जन्म-जन्म तक अपना फल देता है, वह सहज ही कैसे हासिल हो जाएगा? आप लोक-लज्जा से प्रवचन में आकर बैठ जाएँ पर मन कहीं और भ्रमता फिरे तो क्या ज्ञान का शतांश भी आप पा सकेंगे? इसी प्रकार गुरुजी ने थोड़ा-सा डाँट-फटकार दिया या एक-दो दिन तक नहीं पढ़ाया तो तीसरे दिन आप उनका मुँह भी न देखेंगे। ऐसी स्थिति में क्या ज्ञान आपको हासिल हो सकेगा? नहीं, ज्ञान-प्राप्ति के लिए एकलव्य जैसी उत्कट लगन चाहिए। एकलव्य भील-बालक था अतः द्रोणाचार्य ने उसे धनुर्विद्या सिखाने से इंकार कर दिया।

किन्तु वह धनुर्विद्या या धनुष चलाने का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था अतः द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उसके सामने ही बड़ी लगन और तन्मयता से अभ्यास करने लगा। फल यह हुआ कि वह द्रोण के शिष्यों की अपेक्षा भी कुशल निशाना-साधक बन गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि ज्ञान सीखने वाले को मानापमान का भाव त्यागकर आग्रह और हार्दिक लगन से जैसे भी हो उसे प्राप्त करना चाहिए। जिनके अंतर में ज्ञान की तीव्र पिपासा होती है, वे कभी गुरु की फटकार, उनकी रुक्षता या इसी प्रकार अन्य किसी भी बात की परवाह नहीं करते।

सच्ची ज्ञान पिपासा

कहते हैं कि एक बार रस्किन के ज्ञान का लाभ उठाने के लिए उनके प्रवचन का आयोजन किया गया। हजारों व्यक्ति उनका व्याख्यान सुनने के लिए समय पर वहाँ पहुँचे। पंडाल भर गया अतः लोगों को बाहर भी खड़ा होना पड़ा।

किन्तु ठीक प्रवचन प्रारम्भ होने के समय पर लाउड-स्पीकर से घोषणा हुई कि—“जॉन रस्किन का स्वास्थ्य ठीक नहीं है अतः प्रवचन आज न होकर कल होगा।” लोग यह सुनकर अपने-अपने घरों को लौट गए।

अगले दिन बहुत से लोगों ने सोचा—“कौन रोज-रोज समय बर्बाद करे।” इस प्रकार पहले दिन से आधे व्यक्ति ही दूसरे दिन प्रवचन-स्थल पर पहुँच पाये। किन्तु उस दिन भी पहली वाली घोषणा दोहराई गई कि—“रस्किन साहब का स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ अतः प्रवचन कल इसी समय होगा।”

इस धोषणा को सुनकर अनेक व्यक्तियों को क्रोध आया और वे कहने लगे “हम क्या बेकार हैं जो हमेशा मटकते रहेंगे ?” अन्त में हुआ यह कि तीसरे दिन लगभग सौ व्यक्ति ही प्रवचन सुनने के लिए पहुँचे । पर तीसरे दिन भी प्रवचन नहीं हुआ और अगले दिन के लिए स्थगित हो गया ।

पर तीसरे दिन भी प्रवचन न होने पर आये हुए कई व्यक्ति आग-बबूला हो गये और क्रोध के मारे पंडाल के खम्भे उखाड़कर कपड़ों को फाड़-फूड़ गये ।

अब आया चौथा दिन । इस दिन केवल पाँच-सात व्यक्ति प्रवचन सुनने आये । जॉन रस्किन भी ठीक समय पर आ पहुँचे और बोले—

“भाइयो ! मैं अस्वस्थ नहीं था, केवल यह जानना चाहता था कि लोगों की उस भारी भीड़ में सच्चे ज्ञान-पिपासु कौन-कौन से हैं ? तीन दिन प्रवचन स्थगित करने पर अब मुझे आपकी सही पहचान हो गई है । मैं आप लोगों को यानी ज्ञान-प्राप्ति की सच्ची चाह रखने वाले आप लोगों को ही कुछ बताना चाहता था, उस व्यर्थ की भीड़ को नहीं ।”

बन्धुओ, इस सुन्दर उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि ज्ञान की सच्ची चाह कैसी होती है ? जो व्यक्ति वास्तव में ही ज्ञानेच्छु थे, वे तीन दिन लौटकर जाने पर भी निराश नहीं हुए और ज्ञान-प्राप्ति की अभिलाषा लिए चौथे दिन भी उपस्थित हो गये, किन्तु जिनमें कुछ जानने-समझने की सच्ची लगन नहीं थी वे एक-दो दिन में ही क्रोधित होकर अपने घंघों में लग गये ।

ऐसे व्यक्ति सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं क्या ? कभी नहीं ! शास्त्रों में कहा गया है—

अहं पंचहि ठारोहि, जेहि सिक्खा न लब्धई ।

थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण वा ॥

—उत्तराध्ययनमूत्र, ११-३

अर्थात्—अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग एवं आलस्य इन पाँच कारणों से व्यक्ति शिक्षा या ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता ।

इसीलिए भजन में कहा गया है—“हे चेतन ! तू पहले अहंकार, क्रोध एवं अविनय आदि को छोड़कर ज्ञान प्राप्त कर ले, जिससे सच्चा इन्सान बन सके ।

इन्सान का अर्थ हमें मनुष्य की आकृति से नहीं लेना है अपितु इन्सानियत या मानवता की दृष्टि से लेना है । आकृति से तो असंख्य इन्सान हैं किन्तु इन्सानोचित गुणों का अभाव होने से वे इन्सान दिखाई देते हुए भी अज्ञानी

पशु के समान है। इसलिए प्रत्येक मानव को मानवोचित गुणों का संग्रह करना चाहिए, और वे गुण संत-महापुरुषों के संपर्क से, उनके आचरण से एवं उनके धर्मोपदेश सुनने से मिल सकते हैं। वीतराग प्रभु की वाणी को संत पुरुष ही जन-साधारण तक पहुँचाते हैं अतः पूर्ण उत्साह, लगन, जिज्ञासा, विनय एवं निरभिमानतापूर्वक ऐसे सद्गुरुओं के वचनों को जिस प्रकार और जहाँ भी सम्भव हो सुनने व समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अलावा और कोई मार्ग आत्मोत्थान का नहीं है।

कवि सुन्दरदास जी ने सच्चे गुरु की पहचान बताते हुए अपने एक पद्य में लिखा है—

लोह कों ज्यों पारस पखान हु पलटि देत,
 कंचन छुअत होय जग में प्रमानिये ।
 द्रुम कों ज्यों चन्दन हु पलटि लगाइ बास,
 आपके समान ताके सीतलता आनिये ॥
 कीट कों ज्यों भृंग हू पलटि कै करत भृंग,
 सोऊ उड़ि जात ताको अचरज न मानिये ।
 सुन्दर कहत यह सगरे प्रसिद्ध बात,
 सद्य सिष्य पलटै सु सत्य गुरु मानिये ॥

इस पद्य की भाषा यद्यपि अलंकारिक या उच्चकोटि की नहीं है, किन्तु भाव उच्चकोटि के हैं। इसमें कहा है—“जिस प्रकार पारस-पत्थर लोहे को स्पर्श कर उसे सोना बना देता है, चन्दन का वृक्ष अन्य साधारण वृक्षों को भी अपने समान शीतल एवं सुगन्धित कर देता है तथा भ्रमर एक तुच्छ कीड़े के ऊपर मँडरा-मँडराकर उसे भी अपने समान भ्रमर बनाकर उड़ने में समर्थ कर देता है उसी प्रकार जो सच्चे गुरु होते हैं वे अपने शिष्य को भी अविलम्ब अज्ञानी से ज्ञानी बना देते हैं यह जगत-प्रसिद्ध बात है।

पर भाइयो ! शिष्य में ज्ञान भले ही न हो पर ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र चाह और अपने गुरु के प्रति आस्था तथा विनयभाव अनिवार्य रूप से होना चाहिए। अन्यथा वह गुरु को भी श्रोधी, खिन्न और दुःखी बना देता है। कहा भी है—

बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ।

बाल यानी श्रोधी, जड़, मूढ़ एवं अविनीत शिष्यों को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार पीड़ित एवं खिन्न होता है जैसे अड़ियल एवं उच्छ्रंखल घोड़े पर सवारी करता हुआ सवार।

हाँ, तो मैं मज्जन के अनुसार यह बता रहा था कि प्राणी को सर्वप्रथम बड़े ध्यान से ज्ञान हासिल करना चाहिए, तभी वह सच्चे मायने में इन्सान बन सकेगा। यह बात चेतन को सुमति के द्वारा कही गई है।

कवि लोग उद्बोधन में शिक्षा के साथ-साथ मनोरंजकता भी लाते हैं। इसी के अनुसार वे चेतन रूपी राजा की सुमति और कुमति नामक दो रानियाँ कहते हैं। आप जानते हैं कि जिस प्रकार सभी पुरुष एक सरीखे नहीं होते, उसी प्रकार सभी स्त्रियाँ भी एक जैसी नहीं होतीं। कोई सती-साध्वी एवं आचार-परायणा होती है तथा कोई कुबुद्धि की अधिकारिणी होने के कारण पति को भी कुमार्गगामी बनाने का प्रयत्न करती हैं।

चेतन राजा की भी ऐसी ही दो प्रकार की रानियाँ हैं। एक है—कुमति, जो उसे भोग-विलास एवं विषय-विकारों की ओर आकर्षित करती हुई मूढ़ बनाकर संसार में भटकती है और दूसरी, जो कि सुमति है, वह सदा अपने जीवात्मा रूपी पति को नेक सलाह देकर धर्म के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करती है ताकि उसका संसार में आवागमन करना रुक जाये। सुमति ही चेतन को ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करती है तथा आत्मा के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूप रत्नत्रय की पहचान कराते हुए उसे धर्म के कल्याणकारी मार्ग पर चलने की क्षमता प्रदान करती है। वह बड़े आग्रहपूर्वक बार-बार या प्रतिपल यह कहती रहती है—“राजन् ! तुम इन कषायों से, विषय-विकारों से तथा राग-द्वेषादि आत्मा के समस्त शत्रुओं से घोर युद्ध करके उन्हें पराजित करो और मोक्ष रूपी किला अपने कब्जे में करलो। ऐसा करने पर ही इस संसार में तुम्हारा आवागमन यानी जन्म-मरण मिटेगा और वह शाश्वत सुख हासिल होगा जो सदा आठों पहर बना रहेगा। दुःख का लेशमात्र भी फिर तुम्हें आशान्त नहीं बनायेगा और न ही किसी प्रकार की उपाधि पीड़ा पहुँचायेगी। पर तुम मेरी बात या मेरी प्रार्थना मानो और अवश्य ही उस पर अमल करो !”

जो जीवात्मा सुमति की इस सीख को मान लेता है वह संसार-मुक्त होकर सदा के लिए दुःखों से छूट जाता है।



संघस्य पूजा विधिः

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारे जिन-शासन में साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका, यह चतुर्विध संघ बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है । अगर यह संघ अपने कर्तव्य यथाविधि पालन करता है तथा इसका प्रत्येक सदस्य अपने आचरण में विवेक को स्थान देता है या विवेकपूर्वक कार्य करता है तो कभी विवाद उत्पन्न नहीं होता । किन्तु जिन व्यक्तियों का विवेक सुप्त रहता है वे अपने कार्यों से संघ में खड़बड़ाहट और अशान्ति पैदा कर देते हैं । परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण संघ उससे प्रभावित होकर परेशानी का अनुभव करने लगता है । अतः एक महिमाभय संघ के सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से कभी ऐसा अवसर न आने देना चाहिए, जिसके कारण आपस में वैमनस्य पैदा हो अथवा झगड़ा-झंझट बढ़े । विरोध की अग्नि बढ़ न पाये अपितु शान्त हो, यही प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए । आप जानते ही हैं कि आग में ईंधन या घी होमने से वह बढ़ती है तथा शीतल जल डालते ही शान्त हो जाती है । इसीलिए अगर मनुष्यों के दिलों में कभी विरोध या वैमनस्य की अग्नि प्रज्वलित हो भी उठे तो अन्य व्यक्तियों को घृत रूपी वढ़ावा न देकर उसे अपने मधुर एवं शीतल वचनों से शान्त करना चाहिए । ऐसा करने से जो थोड़ी गड़बड़ होती भी है तो समाप्त हो जाती है ।

किन्तु, हम देखते हैं कि आज के व्यक्ति संघ का महत्त्व एवं अपने कर्तव्य को एक ओर रखकर तूली लगाते हुए तमाशा देखने वाली कहावत चरितार्थ करते हैं यानी किन्हीं दो व्यक्तियों में परस्पर मतभेद हो जाय तो उसे मिटाने की अपेक्षा और बढ़ावा देते हैं तथा उसे तमाशा समझकर अपना मनोरंजन करते हैं । अधिकतर व्यक्ति ऐसे होते हैं जो किसी न किसी पक्ष को और भी

उकसाकर मनोमालिन्य बढ़ा देते हैं। विरोध तो दो में होगा पर उसे शान्त न करते हुए अनेक व्यक्ति एक-एक पक्ष की तरफ हो जाते हैं और अनेक दूसरे पक्ष की तरफ। फल यह होता है, फूट की खाई गहरी और शीघ्र न भरने वाली हो जाती है।

वैमनस्य क्यों होता है ?

संक्षेप में इसका उत्तर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि 'ही' से झगड़ा पैदा होता है और 'भी' से समाप्त हो जाता है। जहाँ किसी व्यक्ति ने या किसी 'मत' ने कहा—ऐसा ही है, वहाँ समझो कि झगड़ा पैदा हो गया और जहाँ यह मान लिया कि—ऐसा भी होता है वहाँ झगड़ा समाप्त।

विश्व में जितने एकान्तवादी पन्थ हैं वे अपने-अपने मत जैसे—काल, नियति, पुरुषार्थ एवं निमित्तादि को ही पूर्ण सत्य मानकर शेष मतों का तिरस्कार करते हैं। प्रत्येक मत के अनुयायी अपने मत को सम्पूर्ण मानकर दूसरे मतों की या धर्मों की निंदा करते हैं और इसके कारण धर्म के नाम पर घोर विवाद खड़े हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि हम जिस बात को मानते हैं वह भी धर्म का ही अंग है।

उदाहरणस्वरूप, एक माला को लिया जाय। अगर कुछ व्यक्ति कहें कि माला का अर्थ मनके हैं और दूसरे कहें—नहीं माला डोरी को कहते हैं। ऐसी स्थिति में हम सहज ही समझ सकते हैं कि मनके और डोरी दोनों ही माला हैं, यानी दोनों मिलकर माला कहलाते हैं। ऐसा कहने पर न मनकों का महत्त्व कम होता है, न ही माला का। यही जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त है।

स्याद्वाद सिद्धान्त

स्याद्वाद सिद्धान्त किसी भी मत को असत्य नहीं मानता और न ही किसी एक को सम्पूर्ण मानता है। वह कहता है—'भाई ! तुम जिस एक बात को पकड़कर बैठे हो वह सम्पूर्ण नहीं है धर्म का एक ही अंश है।' इस प्रकार प्रत्येक मत के प्रत्येक सिद्धान्त को वह धर्म का एक-एक अंग मानता है तथा समझाता है कि जब इन्हीं सब अंगों के समूह का नाम धर्म है तो आपस में झगड़ते क्यों हो ? अगर तुम अपने सिद्धान्त को सत्य मानते हो तो दूसरों के सिद्धान्तों को भी सत्य समझो, अन्यथा दूसरे को गलत कहने से तुम भी गलत हो जाओगे; क्योंकि तुम्हारा सिद्धान्त भी तो ओरों की तरह सत्यांश को ही प्रकट करता है। यही विचारधारा स्याद्वाद कहलाती है। इस अनुपम सत्य को मानने से ही धर्मों, दर्शनों, सम्प्रदायों, मतों एवं पन्थों में वैमनस्य होता है और कभी-कभी घोर अशान्ति का वातावरण बन जाता है। कालवादी कहते हैं—प्रत्येक कार्य समय

पर होता है दूसरे पूछ लेते हैं—“पुरुषों के दाढ़ी-मूँछें आती हैं पर महिलाओं के क्यों नहीं ? इसको तो बहुत काल हो गया ?” इस पर कालवादी को चुप होना पड़ता है ।

इसी प्रकार नियतिवादी कहते हैं—“होनहार बलवान है अतः होनहार या भाग्य से वस्तु प्राप्त होती है ।” इस पर पुरुषार्थवादी कह देते हैं—“धाली के पास बैठे रहने पर होनहार होगी तो पेट भर जाएगा क्या ? पेट तो हाथों के द्वारा पुरुषार्थ करने पर ही भरेगा ।”

इस प्रकार पाँचों ही वाद एक-दूसरे को गलत ठहराते हुए अपने मत की पुष्टि करते हैं और उनके न मानने पर आपस में झगड़ बैठते हैं । फँसला केवल स्याद्वाद सिद्धान्त जो कि सब सिद्धान्तों का दादा है, वह करता है । वह यह बता देता है कि रसोई का कार्य सम्पन्न करने के लिए जिस प्रकार सभी साधनों की जरूरत होती है, उसी प्रकार धर्मचरण के लिए भी तुम्हारे सब के सिद्धान्तों का पालन करना जरूरी है । इस प्रकार प्रत्येक को महस्व देकर और प्रत्येक मत को धर्म का अनिवार्य अंग मानकर दादाजी झगड़ा समाप्त कर देते हैं ।

ध्यान में रखने की बात है कि लोग अपने-अपने देवों को ही देव मानकर अन्य देवों को झूठा साबित करते हैं । इस समस्या का समाधान हमारे ‘हरिभद्र सूरि’ ने बड़े उत्तम ढंग से किया है कि—“जो राग-द्वेष से रहित हैं, उन्हें ही मैं देव समझता हूँ चाहे वह हरि हों या हर और अन्य भी कोई क्यों न हों । इस प्रकार उन्होंने सभी मत-मतान्तरों को मान्यता दे दी । शर्त केवल यही रखी कि देव राग-द्वेष रहित होना चाहिए और कोई भी अन्य चिह्न हो चाहे नहीं ।

वस्तुतः पन्थ कोई भी हो— विगम्बर, श्वेताम्बर, ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध या वैष्णव, मुक्ति उसी आत्मा को मिलेगी जिसमें कषायदि नहीं रहेंगे । कषायों की विद्यमानता में आत्मा की मुक्ति असम्भव है । आत्माएँ सभी की समान हैं, उन पर किसी मत का कोई लक्षण नहीं है । भिन्नता केवल बाह्य क्रिया-काण्डों में है, अतः जो भव्य-जीव राग-द्वेष को निर्मूल करने की क्रिया करेगा, वही अपनी आत्मा को पूर्णतया निर्मल बना लेगा और संसार से मुक्त हो जायेगा । दूसरे शब्दों में धर्म, पन्थ, जाति कुल या क्षेत्र आदि कोई भी वस्तु आत्मा की शुद्धि में बाधक नहीं बनती अगर वह कषायों और विकारों से मुक्त होना चाहता है ।

उदाहरणस्वरूप, एक कंडील है, उसमें रोशनी के लिए बत्ती जलाई गई है । ज्योति एक ही है पर कंडील के चारों ओर अगर चार रंगों के कांच हैं तो

रोशनी चार तरह की दिखाई देगी, पर क्या वह चार तरह की है ? नहीं ज्योति एक ही है केवल काँच भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं । अगर ज्योति बुझेगी तो किसी भी रंग की दिखाई नहीं देगी और जलती रहेगी तो उसमें कोई रंग नहीं आएगा ।

ठीक यही स्थिति आत्मा की है । आत्मा अमुक पन्थ के या अमुक जाति के व्यक्ति में हो सकती है, पर जाति या पन्थ बाहरी काँच हैं, इससे आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता । वह तो स्वयं में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्त-चारित्र्य लिए हुए हैं और अपनी आन्तरिक शक्ति से ही कर्मों का नाश करती है । समथ आने पर जिस प्रकार काँच टूट जाते हैं, उसी प्रकार शरीर नष्ट होते हैं और पन्थ या जाति के बाह्य चिह्न मिट जाते हैं । किन्तु आत्मा में कोई अन्तर नहीं आता वह अपने कर्मों के अनुसार अन्य गति को प्राप्त करती है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि अशुभ-कर्म करने पर तो न जैनियों की, न ब्राह्मणों की और न ही मुस्लिम आदि किसी भी जाति के व्यक्ति की आत्मा मोक्ष रूपी मंजिल को पाती है और शुभ-कर्म करने पर इनमें से किसी की भी आत्मा वहाँ पहुँचने से रुक नहीं सकती । अभी मैंने हरिभद्र सूरि, का उल्लेख आपके सामने किया था जिन्होंने कहा है—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे ।

न पक्ष सेवाश्रमणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥

अर्थात्—मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में है, न तत्त्ववाद में है और न ही किसी एक पक्ष की सेवा करने में है । वास्तव में तो क्रोध आदि कषायों से मुक्ति होना ही मुक्ति है ।

वस्तुतः व्यक्ति किसी भी मार्ग से चले, उसकी आत्मा संसार से मुक्त हो सकती है, अगर वह कषायों से मुक्त हो जाए तो ।

‘अमीर’ नामक एक उर्दू भाषा के कवि ने भी कहा है—

शेख काबा से गयावां तक ब्राह्मण दौर से ।

एक थी दोनों की मंजिल फेर था कुछ राह का ॥

कितनी सुन्दर बात कही गई है कि अपनी आत्मा को विशुद्ध बना लेने के कारण शेख काबा से मोक्ष को गया और इसी प्रकार आत्म-विशुद्धि करके ब्राह्मण ‘दौर’ यानी मन्दिर से मोक्ष में गया । फर्क क्या था ? केवल काबा या मन्दिर रूपी मार्ग का । मंजिल दोनों की एक ही थी ।

इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति मार्गों के लिए कभी लड़ाई नहीं करते। वे आत्म-शुद्धि को ही महत्त्व देते हैं और आत्म-शुद्धि ही मंजिल तक पहुँचाती है मार्ग नहीं।

संघ की महिमा

बन्धुओ, मैं आपको संघ का महत्त्व बता रहा था कि साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका, इन चारों का एकत्रित नाम संघ है और इन चारों को तीर्थ की उपमा देकर पूजनीय कहा गया है। शास्त्रकारों ने संघ की बड़ी महिमा गाई है तथा संस्कृत के एक श्लोक में तो यहाँ तक कहा गया है—

रत्नानामिव रोहणः क्षितिधरः खं तारकाणामिव,
स्वर्गःकल्पमहीरूहभिवसरः पंकेरुहाणामिव ।
याथोधिः पयसामिवेन्दु महसां स्थानं गुणानामसा-
वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः संघस्य पूजा विधिः ॥

—सूक्ति मुक्तावली

इस सुन्दर श्लोक में बताया गया है कि—“जिस प्रकार क्षितिधर यानी पर्वत नाना प्रकार के रत्नों को रखने वाला स्थान है, आकाश तारागणों को धारण करने वाला है, स्वर्ग कल्पवृक्षों का स्थान है, तालाब कमलों का स्थान है तथा सूर्य और चन्द्र तेज का खजाना है, इसी प्रकार संघ गुणों का आगार है अतः भगवान के समान इसकी पूजा का विधान किया गया है।”

प्रश्न होता है कि संघ को इतना महिमाशाली क्यों बताया गया है। इसका उत्तर यही है कि संघ में ही पंच महाव्रतों को धारण करने वाले और अज्ञानियों को सन्मार्ग बताने वाले तपस्वी साधु-साध्वी हैं तथा बारह व्रतों का पालन करने वाले आदर्श श्रावक-श्राविकाएँ भी इसी में हैं जो अपने धन से अभावग्रस्त प्राणियों के अभावों को मिटाते हैं, तन से व्याधिग्रस्त या अशक्त प्राणियों की सेवा करते हैं और मन से सभी जीवों का कल्याण चाहते हैं। इसलिए ही संघ को तीर्थ और गुणों की खान कहा है। जिसके द्वारा असंख्य प्राणियों का भला होता है।

किन्तु भाइयो ! जिस संघ को रत्न धारण करने वाले पर्वत के समान, असंख्य तारों को अपनी गोद में रखने वाले आकाश के समान, कल्पवृक्षों को जन्म देने वाले स्वर्ग के समान, कमलों को अंक में पोषित करने वाले तालाब के समान और तेज पुंज सूर्य और चन्द्र के समान उच्च और महिमामय बताया है, उसी संघ में रहकर अगर हम लोग वैर-विरोध बढ़ायेंगे, सम्प्रदायों और मतों को लेकर खींचतानी करेंगे, एक-दूसरे की निन्दा तथा आलोचना करके

नीचा दिखाने का प्रयत्न करेंगे तथा दरिद्रों और असहायों को भूख-प्यास से बिल-बिलाने देंगे तो फिर इसकी महिमा क्या महिमा रह जाएगी? नहीं, वह केवल नाम की ही होगी और विष से भरे हुए सुवर्ण-कलश के समान कहलाएगी इसका महत्त्व गिर जाएगा और जिस संघ की देवता भी पूजा करते हैं, वह हीन तथा हेय साबित होगा।

भगवती सूत्र में वर्णन आया है—गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—“भगवन् ! पहले देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्र और दूसरे देवलोक के इन्द्र ईशानेन्द्र में अगर विवाद हो जाता है तो उनके झगड़े को कौन मिटाता है?”

भगवान ने उत्तर दिया—“गौतम ! उन दोनों इन्द्रों के विवाद को तीसरे देवलोक का इन्द्र सनत्कुमार आकर शान्त करता है।”

गौतम स्वामी ने फिर पूछा—“तीसरे देवलोक के इन्द्र का इतना प्रभाव कैसे है? उन्होंने पूर्व में ऐसी क्या करणी की थी?”

भगवान ने प्रश्न का समाधान किया—“तीसरे देवलोक के इन्द्र सनत्कुमार ने साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों तीर्थों की सेवा की थी।”

इसीलिए बन्धुओ ! मैं आपसे कहता हूँ कि अगर आपको अपना जीवन समुन्नत बनाना है तथा शुभ-कर्मों का अर्जन करके अपनी आत्मा को पांचवीं गति मोक्ष में ले जाना है तो चारों तीर्थरूप संघ की सेवा करें। साधु-साधवियों को उनकी आवश्यकता के अनुकूल साधन प्रदान करें और इससे भी आवश्यक जो कार्य हैं—वीन-दरिद्रों का पोषण, अनाथों की रक्षा और रोग-शोक से पीड़ितों की सेवा; उसमें जुट जाएँ। तभी आपकी और संघ की शोभा बढ़ सकती है।

संसार में जितने महापुरुष हों गये हैं उनका सर्वप्रथम कार्य 'सेवा' रहा है। सेवा में जितनी शक्ति है उतनी किसी भी प्रकार की साधना या तपस्या में नहीं है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

सेवा करना मानव का कर्तव्य है

एक सन्त किसी नगर में गये और कुछ दिनों के लिए एक स्थान पर ठहरे। उनके आवास के समीप ही एक दुर्जन और दुराचारी व्यक्ति पहले से रहा करता था।

जब तक सन्त वहाँ नहीं आये थे, तब तक उसे स्वतन्त्रता थी और उसका घर जुए का, मदिरापान का तथा दुराचार का अड्डा बना हुआ था। किन्तु संत के समीप ही आकर ठहर जाने से लोग दिन-रात उनके दर्शनार्थ आने लगे तथा

लोक-लिहाज या पोल खुल जाने के डर से उस व्यक्ति का मनमाना आचरण करना बन्द हो गया ।

इससे वह दुष्ट बड़ा क्रोधित हुआ और दिन-रात संत को कोसने और गालियाँ देने लगा । उसकी गालियाँ सुनकर महात्मा का शिष्य घबरा गया और उनसे बोला—“भगवन् ! किसी और स्थान पर चलिए, मुझसे दिन-रात इस व्यक्ति का निरर्थक गालियाँ देना सहन नहीं होता ।”

इस पर महात्माजी ने कहा—“वत्स ! यह तो हमारे लिए बड़ा सुन्दर अवसर है अतः जितने दिन इस नगर में रहना है, हमें यहीं रहना चाहिए ।”

गुरुजी की बात सुनकर शिष्य मुँह बाये खड़ा रह गया । वह उनकी बात समझा नहीं अतः प्रश्नसूचक दृष्टि से देखता रहा ।

इस पर महात्मा जी ने कहा—“बेटा ! वह व्यक्ति अज्ञानी है जो निरर्थक गालियाँ देकर या कटु वचन कहकर कर्मों का बन्धन करता है, किन्तु हमारे लिए वह कसौटी है कि हम दुर्वचन सुनकर उन्हें समभाव से सहन कर इस पर खरे उतरते हैं या नहीं । कटुवचन या गालियाँ हमारे लिए परिषह हैं और इस परिषह को जीतने पर ही कर्म-निर्जरा हो सकती है । समभाव के अभाव में हम कितनी भी तपस्या या साधना क्यों न करें, हमारी आत्मा संसार से मुक्त नहीं हो सकती अतः तुम उस नादान को दया का पात्र समझकर समभाव एवं क्षमाभाव से उसे सहन करो; किंचित भी मन को विचलित न होने दो ।”

वस्तुतः समत्व एवं क्षमा साधना और संयम का सर्वप्रथम चरण है । तभी कहा गया है—

कि तिव्वेण तवेणं, कि जवेणं कि चरित्तेणं ।

समयाइ विण भुक्खो, न हु हूओ कहवि न हु होई ॥

—सामाजिक प्रवचन

गाथा में स्पष्ट बताया है—चाहे कोई कितनी ही तीव्र तपस्या करे, जप करे और मुनि वेश धारण करके स्थूल क्रिया-काण्डस्वरूप चरित्र का पालन करे; किन्तु समभाव रूप सामाजिक के अभाव में न किसी को मुक्ति मिली है और न मिलेगी ।

तो बन्धुओ ! संत अपने शिष्य को इस प्रकार समझाकर पूर्ण समत्व एवं कषाय-रहित भाव से अपनी साधना में लग गये । उधर पड़ौसी का कार्य जारी रहा अर्थात् वह उसी प्रकार संत को कोसता रहा एवं गालियाँ देता रहा ।

किन्तु एक दिन उसकी गालियाँ सुनाई नहीं दीं और पड़ौस के घर में

जैसे सन्नाटा छाया रहा। संत को तनिक आश्चर्य हुआ पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया और अपनी दिनचर्या व रात्रिचर्या में संलग्न रहे।

पर अगले दिन संत को उस दुष्ट व्यक्ति की कराहें सुनाई देने लगीं। संत चौंके और शिष्य से बोले—“वत्स ! लगता है कि हमारा पड़ोसी बीमार है, चलो उसे देख आएँ।”

शिष्य आश्चर्य से बोला—“यह क्या भगवन् ! वह व्यक्ति इतने दिनों से रात-दिन हमें गालियाँ सुनाता आ रहा है और आप उसे देखने चलेंगे ?”

“तो क्या हुआ ? अगर वह अपने कर्तव्य को छोड़ दे तो हमें भी अपना कर्तव्य भूल जाना चाहिए ? साधु का कर्तव्य तो प्रत्येक प्राणी पर ममता रखना होता है। आओ, देर मत करो।”

इस प्रकार कहकर महात्माजी अपने शिष्य के साथ उस व्यक्ति के घर गये। वहाँ जाकर देखा तो मालूम हुआ कि वह मनुष्य तीव्र बुखार के कारण छटपटा रहा है और कराह रहा है। संत उसके समीप बैठे और स्नेह से पूछा—

“भाई कब से तुम्हें ज्वर चढ़ा है, और क्या यहाँ कोई तुम्हारी सेवा के लिए नहीं है ?”

“मेरा कोई भी नहीं है जो सेवा करे।” यह कहकर व्यक्ति चुप हो गया।

“अच्छा, मैं तुम्हारी सँभाल कर लूँगा।” कहकर संत ने उसके ताप का अन्दाजा लगाया और सभी उपयुक्त सेवा-कार्य करने में जुट गये। शिष्य बेचारा अवाक् होकर गुरु को देखता रह गया और उनकी आज्ञानुसार कार्य करने लगा।

व्यक्ति को तीव्र ज्वर था और वह तीन-चार दिन के बाद कुछ कम हुआ। संत भी तब तक उसकी सेवा में लगे रहे और औषधि तथा पथ्य-पानी आदि सभी का उन्होंने पूरा ध्यान रखा। बीमार व्यक्ति घोर आश्चर्य और पश्चात्ताप में डूबा हुआ सोचता रहा—“घन्य है ये संत जिन्होंने महीनों गालियाँ खाकर भी मेरी इस प्रेम-भाव से सेवा की।”

जब वह कुछ ठीक हुआ तो अपने दुर्ब्यवहार के लिए भारे पश्चात्ताप और दुःख के संत के चरणों पर लोट गया तथा रो-रोकर क्षमा-याचना करने लगा। संत ने बड़े प्रेम से उसे उठाया और कहा—“भाई ! यह क्या करते हो ? प्रत्येक मानव का कर्तव्य होता है कि वह दूसरे के दुःख-दर्द में काम आये। मैंने भी यही किया है, इसमें कौन सी अनहोनी बात हुई ?”

बड़ी कठिनाई से वह व्यक्ति शांत हुआ पर उसने संत को फिर कभी नहीं छोड़ा और उनका शिष्य बनकर स्वयं भी आत्म-शुद्धि में लग गया ।

बन्धुओ, महापुरुष ऐसे ही होते हैं जो स्वयं तो सन्मार्ग पर चलते ही हैं, साथ ही अपने सदाचरण से प्रभावित करके औरों को भी सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं । अपने शुभ आचरण से ही वे तीर्थ के रूप में संघ का सदस्य बनते हैं और उसे पूजनीय बनाते हैं । किन्तु आप इस बात से यह न समझें कि केवल साधु या महात्मा ही ऐसा कर सकते हैं और वे ही संघ के मुख्य अंग हैं ।

चारों तीर्थ समान है ?

संघ के सदस्य के रूप में साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, सभी समान महत्त्व रखते हैं और सभी अपने सुन्दर आचरण से स्वयं अपनी आत्मा को तो निर्मल एवं कर्म-रहित बनाते ही हैं, साथ ही संघ के गौरव में भी चार चाँद लगा देते हैं । केवल एक उदाहरण से ही आप यह बात समझ लेंगे । वह उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि एक छत है और वह चार विशाल खंभों के सहारे टिकी हुई है । अब आप ही बताइये कि उन चार खंभों में से कौन सा खंभा अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन-सा कम महत्त्व रखने वाला है ?

आप निश्चय ही यह उत्तर देंगे कि कोई भी खंभा ज्यादा या कम महत्त्व नहीं रखता, चारों ही समान महत्त्व रखने वाले हैं । साथ ही आप यह भी कहेंगे कि अगर एक भी खंभे में दरार आ जाये तो छत को खतरा हो जाता है और उसके टूट जाने से छत गिर जाती है, टिक नहीं सकती ।

बस, यही हाल संघ का है । साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ, ये चारों ही संघ रूपी छत के चार विशाल स्तम्भ हैं । चारों ही समान महत्त्व रखते हैं और कोई भी किसी से कम नहीं है । इसलिए अगर एक भी खंभा अगर कमजोर हो जाय यानी इनमें से कोई भी अपने कर्तव्य को भूलकर अशुभ में प्रवृत्त हो जाय तो संघ रूपी छत खतरे में पड़ जाती है और उसके नष्ट होने की संभावना पैदा हो जाती है ।

यह समझकर आपको अपने गौरव एवं महत्त्व का ध्यान रखते हुए सदा यही खयाल रखना चाहिए कि हमारा कर्तव्य क्या है और मन, वचन, धन या शरीर, इनमें से किस-किसके द्वारा हम संघ की सेवा कर सकते हैं ? आपके पास धन है तो उसे ब्याह-शादी या अन्य इसी प्रकार के कार्यों में कम से कम जरूरत से अधिक या व्यर्थ खर्च न करके संघ में जो असंख्य अभावग्रस्त प्राणी हैं, उनके अभावों को दूर करने में लगायें तो अच्छा है । अपना धन अपने ही लिए खर्च

करने पर वह सुकृत खाते में नहीं जायेगा तथा पुण्य रूपी फल प्रदान नहीं करेगा, किन्तु उसी को अगर गरीबों के लिए खर्च किया जायगा तो वह परलोक में आपके साथ अनेक गुणा बनकर चलेगा ।

किसी कवि ने कहा है—

दीन को दीजिये होत दयावन्त
 मित्र को दीजिये प्रीति बढ़ावे ।
 सेवक को दीजिये काम करे बहु,
 शायर को दीजिये आदर पावे ॥
 शत्रु को दीजिये वैर रहे नहि,
 याचक को दीजिये कीरति गावे ।
 साधु को दीजिये मुक्ति मिले पिण,
 हाथ को दीघो तो ऐलो न जावे ॥

इस पद्य में कवि ने यही कहा है कि हाथ से दिया हुआ पैसा व्यर्थ नहीं जाता, कुछ न कुछ लाभ देता ही है, भले ही वह किसी को भी क्यों न दिया जाय । जैसे—किसी दीन दरिद्र को आप दान देते हैं तो दयालु की उपाधि प्राप्त करने हैं, मित्र की सहायता करते हैं तो उसका आप पर प्रेम बढ़ता है, सेवक को देने पर वह अधिक काम करता है और किसी शायर को देते हैं तो आदर पाते हैं । इसी प्रकार अगर शत्रु को भी दान देते हैं तो उसका आपके प्रति रहा हुआ वैर-विरोध मिट जाता है, याचक को देने पर वह आपको बदले में अनेकानेक आशीर्वाद देता हुआ आपकी कीर्ति बढ़ाता है और साधु को दान देने पर तो मोक्ष की प्राप्ति भी हो जाती है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि दिया हुआ धन या दान कुछ न कुछ आपको बदले में देता ही है, कभी निरर्थक नहीं जा सकता । इसलिए जितना भी जिसको देने की आपकी शक्ति हो, उतना औरों को देना अवश्य चाहिए । एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि पद्य में अधिकांश प्राप्ति मोक्ष को छोड़कर प्रत्यक्ष की बताई गई है । पर याद रखें कि दान के द्वारा अभी बताये हुए सभी प्रत्यक्ष लाभ तो होते ही हैं, साथ ही पुण्य-बन्ध के रूप में परोक्ष लाभ भी बड़ा जवर्दस्त होता जाता है ।

अपने लिए और अपने परिवार के लिए तो सभी खर्च करते हैं, पर इस खर्च से आपको पुण्य हासिल नहीं हो सकता । जिस प्रकार नवरात्रि में आप घट बैठते हैं और उसके सामने अनाज बोते हैं तो वह उगता है किन्तु धान्य

प्रदान नहीं करता। इसी प्रकार ब्याह-शादियों में, जन्म-दिनों में या व्यापार में लाभ होने पर अथवा दुकान का या मकान का मुहूर्त करने पर आप चाहे लाखों रुपये खर्च कर दें, उससे नवरात्रि में घट के समक्ष बोये हुए धान के समान आपको थोड़ी प्रशंसा तो अवश्य मिल जाएगी; परन्तु अनाज के समान पुण्यरूपी सच्चा लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

इसलिए बन्धुओ! आपका गौरव इसी में है कि आप अपने आपको संघ का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ मानकर साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका जिसको जैसी जरूरत हो, वैसी ही उनकी व्यवस्था करने का प्रयत्न करो तथा दीन-दुःखी एवं असहाय प्राणियों की ओर विशेष ध्यान रखो। यह मत सोचो कि आपके देने से धन खर्च हो जायगा, अपितु यह सोचकर प्रसन्न होओ कि जितना हम दे रहे हैं उससे कई गुना ज्यादा प्राप्त करते जा रहे हैं। किसान बीज थोड़े बोता है किन्तु उनसे अनेक गुना अनाज पुनः हासिल कर लेता है। इसी प्रकार दान बीज है जो असंख्य गुणा बढ़कर पुण्य की प्राप्ति कराता है। लाभ लेने वाले को नहीं भी हो सकता है पर आपको तो निश्चय ही होगा।

इसके अलावा आप कम से कम अतिरिक्त धन को भी पुण्य का बीज मानकर इसके रूप में नहीं बोयेंगे तो फिर उसका करेंगे क्या? साथ तो वह चलेगा नहीं, यहीं रह जाएगा। इसलिए अच्छा यही है कि उसे यहाँ बोक़र परलोक में प्राप्त कर लिया जाय।

तो धन के विषय में मैंने बताया है और अब यह बताना है कि जिनके पास देने को धन नहीं है वे किस प्रकार संघ की सेवा करें? तो भाइयो! अगर धन अधिक नहीं है तो दान न सही, शरीर तो है आपके पास? इससे जिनका कोई नहीं है उन वृद्धों, रोगियों और अशक्तों की सेवा ही करो। इसमें तो धन की जरूरत ही नहीं है। पर, आप आगे भी कह सकते हैं कि जिनके पास देने को धन नहीं है और स्वस्थ शरीर भी सेवा करने लायक नहीं है वे क्या करें? उनके लिए भी करने को बहुत है। कम से कम वे संघ के प्रत्येक प्राणी का शुभ सोचें और किसी की निंदा या आलोचना करके लोगों में आपसी फूट न डालते हुए जहाँ फूट या विरोध हो उसे ही मिटाने का प्रयत्न करें और बढ़ावा तो किसी भी हालत में न दें। ये सब बातें छोटी महसूस होती हैं, पर हैं नहीं। अगर व्यक्ति ऐसा करने लग जाय तो संघ में सर्वत्र अमन-चैन रहे, अशांति और झगड़ों के दर्शन ही न हों।

जो बन्धु इस बात का ध्यान रखेंगे वे यहाँ पर तो संघ का गौरव बढ़ायेंगे ही, परलोक में भी सुख प्राप्त करेंगे।

○

क्षमा वीरस्य भूषणम्

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

प्रवचनों में हमारा मूल विषय 'संवरतत्त्व' पर चल रहा है। अभी तक हम इसके सत्तावन भेदों में से बयालीस पर विचार कर चुके हैं, और आज तयालीसवें भेद को लेना है। यह भेद है क्षमा। प्राकृत भाषा में इसे 'खन्ति' कहते हैं। मुनियों के दस धर्मों में से यह प्रथम है।

क्षमा धर्म सभी अन्य धर्मों में जिस प्रकार प्रथम है उसी प्रकार मुख्य और महत्त्वपूर्ण भी है। जो मुमुक्षु इसे सच्चे हृदय से अपना लेता है, अन्य सभी धर्म उसके अधिकार में स्वतः ही आ जाते हैं। 'क्षमा' शब्द ही ऐसा है जो सामर्थ्य की प्रतीति कराता है। समर्थ को 'क्षम' कहते हैं। श्री मानतुंगाचार्य ने भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए कहा—'कर्तुम् क्षमः।' अर्थात् आप सब कुछ करने में समर्थ हैं। इस प्रकार क्षमा बड़ी अद्भुत एवं अपार शक्ति की सूचक है। भले ही कोई तपस्वी तप करके चमत्कार एवं सिद्धियों की शक्ति प्राप्त कर ले, किन्तु अगर वह क्षमावान नहीं है तो उसकी तपस्या अपना सच्चा फल प्रदान नहीं कर सकती।

गौतम कुलक नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

सोहा भवे उगतवस्स खन्ति,
समाहिजोगो पसमस्य सोहा ।
नाणं सुजाणं चरणस्स सोहा,
सोसस्य सोहा विनयेन सन्ति ॥

पद्य के प्रथम चरण में बताया है—उग्रतप की शोभा क्षमा से होती है। अगर मुमुक्षु उग्र तपस्वी है तथा उसने वर्षों तक तप करके अपने शरीर को सुखा दिया है, किन्तु उसने क्षमा को नहीं अपनाया यानी किसी के कटु शब्दों को

समभाव से मुनकर उसे क्षमा नहीं किया और क्रोध से आग-बबूला हो गया तो उसका फल बहुत ही अल्पमात्रा में मिलेगा। धर्मग्रन्थों में कहा भी है कि—'एक तरफ तो वह व्यक्ति है, जो क्रोध पूर्व तक नानाविध तप करता है, और दूसरी ओर वह व्यक्ति है जो सामने वाले के द्वारा कही गई कटु बात को पूर्ण समभाव एवं शान्तिपूर्वक सहन करके उसे क्षमा करता है। जानी पुरुष इन दोनों की तुलना करते हुए क्षमावान और समभावी व्यक्ति के जीवन को अधिक प्रशस्त बतलाते हैं।

यद्यपि तपस्या का महत्त्व भी कम नहीं है, तप से घोर कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा कर्म-मुक्त होकर मोक्ष भी प्राप्त कर लेती है, किन्तु तपस्या के पीछे किसी फल की प्राप्ति का स्वार्थ एवं क्रोधादि कषाय नहीं होने चाहिए। तप करके अगर क्रोध किया या तप करके अहंकारी बन गये तो सब करा-कराया मिट्टी में मिल जाता है। मुनि बाहूबलि का दृष्टान्त आपने अनेक बार सुना ही होगा कि उन्होंने घोर तप किया, यहाँ तक कि उनके चारों ओर घास-फूस का अम्बार लग गया तथा पक्षियों ने उसमें घोंसले बना लिये।

किन्तु केवल अपने मान के कारण वे केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सके। जब बाहूरी और सुन्दरी नामक उनकी वहनों ने आकर उन्हें समझाया—

वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो !

गज चढ्यां केवल नहीं होसी रे.....वीर म्हारा.....।

वहनों ने कहा—“भाई, इस अभिमान रूपी हाथी से नीचे उतर आओ। इस विशालकाय हाथी पर जब तक बैठे रहोगे, तुम्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा।”

वहनों की प्रेरणा से बाहूबलि जी को एकदम होश आया और उन्होंने तनिक भी मान न रखकर अपने से छोटों को नमस्कार करने जाने के लिए कदम उठाया। वस, उसी समय वे केवलज्ञान के अधिकारी बन गये। जिस प्रकार गौतम स्वामी को मोह छोड़ते ही तत्क्षण केवलज्ञान प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार बाहूबलि को भी मान छोड़ते ही उसी क्षण केवलज्ञान हासिल हो गया।

स्पष्ट है कि मस्तक पर मँडरता हुआ केवलज्ञान भी तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि राग या द्वेष का लेश भी आत्मा में रहता है। इसीलिए कहा है कि नर्वप्रथम क्रोध कषाय का त्याग करके क्षमावान बनो अन्यथा तपस्या अपना फल प्रदान नहीं कर सकेगी। तप की शोभा क्षमा से है, इसका अभिप्राय यही है कि तपस्या के साथ क्षमा का होना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही तप अमीष्ट फल का दाता बनेगा।

तप का महत्त्व बताते हुए सोमप्रभ आचार्य ने कहा है—

फलति कलति श्रेयःश्रेणीप्रसूनपरम्परः,
प्रशमपयसी सिक्तो मुक्तिम् तपश्चरणदुमः ।
यदि पुनरसौ प्रत्यासव्या प्रकोप हविर्भुजो,
भजति लभते भस्मीभावम् तदा विफलोदयः ॥

इस सुन्दर श्लोक में बताया है कि तप एक वृक्ष है और वृक्ष में जिस प्रकार एक ही फूल नहीं अपितु फूलों की कतारें रहती हैं, उसी प्रकार तप रूपी वृक्ष में सुख रूपी सुन्दर फूलों की श्रेणियाँ होती हैं। वस्तुतः तप से नाना फूल प्राप्त होते हैं।

अगर ऐसा न होता तो स्वयं चक्रवर्ती भी जो कि बड़े पुण्यशाली होते हैं, छः खण्ड का राज्य प्राप्त करने के लिए तेरह तैले का तप क्यों करते? परमार्थ मार्ग में अनेक प्रकार की लब्धियाँ और चमत्कार तपस्या से ही होते हैं। बिना तप के भला कौनसी सिद्धि हासिल हो सकती है?

आचार्य ने आगे कहा है—तपस्या रूपी वृक्ष जो कि अनेकानेक कल्याणकारी फूल प्रदान करता है, इसे शान्ति रूपी जल से सिंचन करना चाहिए तभी वह फूल देगा। अगर शान्ति रूपी जल से सिंचन न करके इसे क्रोध रूपी अग्नि का ताप दिया तो फूल और फल सभी मसम हो जायेंगे और तप वृक्ष उगाना निष्फल चला जायेगा।

आप विचार करते होंगे कि तप रूपी वृक्ष के फूलों का वर्णन तो कर दिया, किन्तु इसके फल के सम्बन्ध में नहीं बताया। बन्धुओ, तप रूपी वृक्ष का अमर फल केवल मोक्ष है, जिस फल से बढ़कर अन्य कोई फल नहीं हो सकता।

अनेक व्यक्ति तपस्या के बारे में कुछ गलत धारणाएँ बना लेते हैं जैसे मराठी में कहा जाता है—

तपाअंती राज्य आणि, राज्या अंती नर्क ।

यानी—तप करेंगे तो राज्य मिलेगा और उसके बाद नरक में जाना पड़ेगा अतः हम तप क्यों करें?

यह विचार बड़ा ही भ्रमपूर्ण है। प्रथम तो तप से राज्य ही मिलता है यह बात नहीं, अपितु तप के चूकने से या कि सकाम तप करने से राज्य या स्वर्ग मिलकर रह जाता है। अज्ञानता के कारण विधिपूर्वक तप नहीं किया गया तो पुनः जन्म लेना पड़ता है पर तप का फल मिलना ही चाहिए अतः अधिक से अधिक स्वर्ग या राज्य मिल जाता है। पर राज्यादि धास-पूस के समान हैं

और असली अनाज है मोक्ष । तपस्वी को कर्मों की सम्पूर्ण निर्जरा करके उनसे मुक्त होना चाहिए न कि राज्यादि की कामना करके जन्म-मरण में वृद्धि करना चाहिए ।

मराठी में आगे कहा है—‘राज्यांती नर्क ।’ अर्थात् राज्य पाने पर फिर नरक में जाना पड़ता है । यह बात भी ठीक नहीं है । क्या सभी राजा नरक में गये हैं ? नहीं, जिन्होंने राज्य प्राप्ति के बाद धर्म-विरुद्ध आचरण किया था वे ही नरक में गए, वाकी करणी के अनुसार स्वर्ग या मोक्ष में गये हैं ।

तो बन्धुओ ! अब हम पुनः अपनी मूल बात पर आते हैं वह है क्षमा । ‘गौतम कुलक’ ग्रन्थ की गाथा में क्षमा को तप का अलंकार बताया है । कहा है—उग्र तप की शोभा ‘खन्ति’ यानी क्षमा से ही है । क्षमा के अभाव में वह पूर्णतया श्रीहीन साबित होता है ।

गांधारी महान् सती एवं पतिपरायणा नारी थी, किन्तु उसने अपने समस्त पुत्रों के मारे जाने पर क्रोधित होकर कृष्ण को श्राप दे दिया कि—“तुमने मेरे कुल का नाम मिटाया है पाण्डवों को सलाह दे-देकर और उनके पक्ष में रहकर । अतः अपनी सम्पूर्ण द्वारिका नगर को परिवार सहित जलते हुए अपनी आँखों से देखोगे ।”

इस पर कृष्ण ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—“माता ! वह तो होना ही है, यानी द्वारिका नगरी को जलना ही है, पर आपने क्रोध में श्राप देकर अपनी जीवन भर की तपस्या के फल को क्यों मिटा दिया ?”

कृष्ण की बात का रहस्य आप समझ गये होंगे । तप केवल अनशन ही नहीं होता अपितु वह बारह प्रकार का होता है । गांधारी ने उनका पालन किया था तथा पति के अंधे होने पर स्वयं भी अपनी आँखों पर जीवन भर पट्टी बाँधी रही थी । उस तपस्विनी नारी के तप का उसे महान फल मिलता किन्तु जैसा कि अभी मैंने तपस्या में चूक हो जाने के विषय में कहा था, वह भी क्रोध आ जाने के कारण चूक गई । परिणाम यह हुआ कि उसकी तपस्या का फल कृष्ण को श्राप देने के कारण सीमित हो गया और वह तप के सच्चे और महान् फल से वंचित रह गई ।

इसीलिए कहा गया है कि तप की शोभा और तेजस्विता अक्रोध या क्षमा के कारण ही बढ़ती है और तभी वह अपना समुचित फल प्रदान करता है । आज हम देखते हैं कि लोग उपवास, बेला, तेला या मासखमण भी कर लेते हैं, किन्तु तपस्या के दौरान अगर बालक किवाड़ की साँकल भी बजादे तो तीव्र क्रोध से भरकर कह बैठते हैं—‘नालायक ने मेरा सिर खा लिया भगवान इसे

मौत दे दे !' आप ही बताइए, इस प्रकार किया हुआ तप उन्हें क्या फल देगा ?

बहिनें तपस्या करती हैं पर किसी के दो-आत कहते ही सीधा कह बैठती हैं—“भूने वासी-तिसी ने सताओ तो भगवान थाने देख लेई ।” इस प्रकार भी वे अपने तप के फल को क्रोध के कारण अत्यल्प कर डालती हैं । ऐसा नहीं होना चाहिए । जिन साधु-साध्वियों ने क्षमाधर्म को अपनाया और जिन व्रत-धारी श्रावक-श्राविकाओं ने इसका पालन किया वे अपनी आत्मा का कल्याण कर गये । आप यह न समझें कि मुनि बनने पर ही मुक्ति मिलती है या सब मुनि मोक्ष में ही जाते हैं । मोक्ष में केवल वे ही जाते हैं जिनके कषायभाव पूर्णतया नष्ट होते हैं । कषायों का नाश न होने पर मुनि मोक्ष में नहीं जा सकते और उनके नष्ट हो जाने से श्रावक भी चले जाते हैं । आवश्यकता राग-द्वेष या कषायों के नष्ट होने की है ।

आनन्द श्रावक मुनि नहीं थे, व्रतधारी गृहस्थ ही थे तथा करोड़ों की सम्पत्ति उनके पास थी । किन्तु वे मर्यादा में रहते थे एवं संसार में रहकर भी संसार से परे थे । उनकी क्षमा का अद्भुत उदाहरण है कि जब गौतमस्वामी भगवान महावीर की आज्ञा से उन्हें दर्शन देने आये तो उन्होंने गौतमस्वामी को अपने प्राप्त अवधिज्ञान के विषय में बताया । गौतमस्वामी ने उनकी बात को नहीं माना और कह दिया—“श्रावकजी, आप झूठ बोल रहे हैं ।”

आनन्दजी की जगह और कोई व्यक्ति होता तो वह क्रोध से भर जाता, किन्तु आनन्द श्रावक ने अत्यन्त नम्रता और विनय से केवल यही कहा—“भगवन् ! मैं झूठ नहीं कह रहा हूँ, बात सच है ।”

गौतमस्वामी ने फिर भी विश्वास नहीं किया और आकर भगवान से इस विषय में पूछा । पर भगवान को तो ज्ञात था अतः उन्होंने आनन्द श्रावक की बात को सही बताया ।

ब्रधुओ, अब भगवान के पट्टधर शिष्य गौतमस्वामी की महानता देखिये कि जब उन्होंने आनन्द श्रावक की सच्चाई को जाना तो उन्हें अपने उन वचनों पर जो वे आनन्द से कह आये थे, घोर पश्चात्ताप हुआ और मीलों का एक चक्कर पहले हो जाने पर भी मुँह में जल की एक बूँद तक लिये बिना पुनः जलती दोपहरी में नंगे पाँव आनन्द जी से अपने कटु-वचन के लिए क्षमा माँगने चल दिये ।

इधर आनन्दजी के हृदय में तनिक भी अभिमान नहीं हुआ कि भगवान के सबसे बड़े शिष्य गौतमस्वामी पुनः मुझसे क्षमा माँगने के लिए आये हैं ।

उन्होंने गौतमस्वामी के पधारते ही हाथ जोड़े और गद्गद होकर कहा—
“भगवन् ! मैं आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था। कृपा करके अपने चरण मेरे नजदीक कीजिए ताकि उनकी घुल में मस्तक पर चढ़ा सकूँ।”

सच्चे संत और सच्चे श्रावक ऐसे होते हैं। तभी वे अपनी अन्तमा को बिना किसी व्यवधान के सीधे शिवपुर की ओर ले जाते हैं। आज ऐसे महा-पुरुष कितने मिलते हैं? हम देखते हैं कि समाज में, संघ में और घर-घर में सदा तू-तू, मैं-मैं चलती रहती है। कोई भी अपने थोड़े अहंकार को नहीं छोड़ता और कोई भी किसी को नगण्य अपराध के लिए क्षमा नहीं कर सकता। फल यह होता है कि अपराध करने वाला भी और जिसके प्रति किया गया हो वह भी, दोनों ही अपनी गति बिगाड़ लेते हैं। इतना ही नहीं, आज के व्यक्ति तो बिना किसी का अपराध होने पर भी स्वभावतः और बिना वजह ही किसी न किसी की निन्दा, आलोचना करने में और किसी न किसी को नीचा दिखाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। जैसे उनका ख्याया-पिया इस सबके बिना पच नहीं सकता।

पर-घर का कचरा अपने घर में क्यों ?

अरे भाई ! औरों के दोष देखने से और उनकी आलोचना करने से आपकी आत्मा का कुछ भला होगा क्या ? नहीं, अपनी आत्मा का भला तो अपने दोषों को देखने और उन्हें मिटाने से ही हो सकेगा। दूसरों की बुराई करने से तो अपनी आत्मा और बुरी बन जाएगी तथा उस पर कर्मों का बोझ अधिक बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में औरों की बुराई करने का अर्थ यह होगा कि दूसरों के घर का कचरा उठाकर हम अपने घर में भरेंगे। यह अच्छी बात नहीं है। जब अपने बँगले में आप किसी अन्य के घर से उड़ा हुआ एक तिनका भी आने देना पसंद नहीं करते तो फिर दूसरों के दोष खोज-वोजकर अपनी आत्मा में दोषारोपण क्यों करते हैं ?

इस बात को बड़ी गहराई से समझने की आवश्यकता है। किसी की निन्दा-आलोचना करना या क्रोध के कारण कटुवचन कहना ये सब कषाय के परिणाम हैं और कषाय के कारण आत्मा महान् कर्मों का बन्धन करती हुई तिम्र गतियों में जाती है। तनिक विचार कीजिए कि हमने पूर्व-जन्मों में तो न जाने कितने शुभ-कर्म करके पुण्य संचय किया होगा, जिससे यह मुक्ति को भी प्राप्त करा सकने वाला मानव-जीवन मिला है, पर अब इसे पाकर भी पुनः अशुभ एवं कषायपूर्ण कर्म करके फिर से अनन्त संसार बढ़ाना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

हाथ में आये हुए हीरे को बालक फेंक देता है। वह अपनी गलती के लिए

अज्ञानता के कारण क्षम्य है। किन्तु आप तो हीरे की कीमत और उसका महत्त्व समझाते हैं। फिर भी हाथ में आने पर उसे फेंक रहे हैं, ऐसी स्थिति में आपको क्या कहा जाय? यही कि अनन्त पुण्यों से कमाये हुए मानव-जीवन रूपी चिन्तामणि रत्न को आप कषाय रूपी ठीकरे के बदले फेंक रहे हैं। किन्तु वह ठीकरा आपके किस काम आयेगा? किसी काम नहीं। चिन्तामणि रत्न से आप इच्छा करते ही जो चाहें पा सकते हैं, ठीकरे को तो भले ही जीवनभर पूजे और उसकी स्तुति करें कुछ भी हासिल नहीं होगा।

शास्त्रों में भी कहा है—

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुढ्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥

—निशीथभाष्य, २७६३

अर्थात्—देसोनकोटि पूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र्य अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है।

कितनी मार्मिक और व्यर्थ बात है? यही मैं दूसरे शब्दों में आपको अभी बता रहा था। वस्तुतः अनन्त पुण्यों के बल पर हमने जो श्रावकधर्म या मुनिधर्म प्राप्त कर पाया है उसे कषायों की आग से बचाना ही है। अगर वह पलभर के लिए भी भड़क गई तो हमारा अब तक का अर्जित किया हुआ आत्म-धन निरर्थक चला जायेगा।

यह बात केवल आप धावकों के लिए ही नहीं है वरन् जैसा कि अभी मैंने बताया है, साधुओं के लिए भी पूर्णतया लागू होती है। इसीलिए धर्म-शास्त्र स्पष्ट कहते हैं—

सामन्नमणुचरन्तस्स कसाया जस्स उक्कडा होति ।

मन्नामि उच्छुफुल्लं व निष्फलं तस्स सामन्नं ॥

—दशवैकालिक नियुक्ति ३०१

कहा है—श्रमण धर्म का अनुसरण करते हुए भी जिसके श्रोत्रादि उत्कृष्ट कषाय हैं, उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है, जैसे ईख का फूल।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होंगे कि कषायों का नाश प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है, चाहे वह श्रावक हो या साधु। वेश का कोई भी महत्त्व नहीं है, महत्त्व आत्म-शुद्धि या कषायों की विलीनता का है। जिस प्रकार कीमत तलवार की होती है, म्यान की नहीं, उसी प्रकार मुक्ति रूपी कीमत आत्म-गुणों की मिलती है, किसी वेश की नहीं। इस स्थिति में मुख्य बात है कषायों को नष्ट करना और कषाय नष्ट हो सकते हैं क्षमा के द्वारा क्षमा शीतल

जल के समान है जो कि भड़के हुए कषायों को शांत कर देता है और क्रोध वह आग है जो कषायों को और भी बढ़ाती है। क्रोधी व्यक्ति को ध्यान नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है और क्या कर रहा है।

अंग्रेजी में एक कहावत है—

“An angry man opens his mouth and shuts his eyes.”

अर्थात्—क्रोधी व्यक्ति अपना मुँह खोल देता है और आँखें बन्द कर लेता है।

आप सोचेंगे—ऐसा तो नहीं होता। मनुष्य क्रोध में होने पर तो और भी आँखें निकालकर अपने शिकार को देखता है तथा दुर्वचनों की बौछार करता रहता है। आपका यह विचार भी ठीक है। वास्तव में ही क्रोधी व्यक्ति अपनी आँखें बन्द नहीं करता। किन्तु यहाँ आँखों से अभिप्राय चक्षु-इन्द्रिय से नहीं है वरन् विवेकरूपी आँखों से है। इसीलिए कहावत सही उतरती है। आप और हम सभी यह समझ सकते हैं और समझते भी हैं कि क्रोध का आक्रमण होने पर व्यक्ति को भान नहीं रहता कि वह उचित शब्द कह रहा है या अनुचित। ऐसा विवेक-शून्यता के कारण ही होता है। यह बात नहीं है कि आवेश के समय व्यक्ति के हृदय में विवेक होता ही नहीं, वह तो विद्यमान रहता है किन्तु यह सोया रहता है या कि व्यक्ति उससे काम लेना बन्द कर देता है। इसी को विवेकरूपी नेत्रों का बन्द करना कहते हैं।

इन विवेक-नेत्रों को बन्द करने से कषाय भाव बढ़ता है तथा क्षमा-भाव लुप्त हो जाता है। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी कभी-कभी क्रोध में आकर दुर्वचन कह बैठते हैं या अपनी तपस्या के बल पर श्राप दे देते हैं। अगर उस समय उनका विवेक जागृत रहे तो वे इस प्रकार अविवेकपूर्ण कार्य कभी न करें। विवेक ही बता सकता है कि क्या कहना उचित है और क्या कहना अनुचित; या कि, क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। विवेक मानव को सदाचारी बनाता है और अविवेक अनाचारी। इसलिए क्षमा-धर्म को ग्रहण करने वाले आत्म-हितैषी व्यक्तियों को अपने विवेक पर काबू रखना चाहिए और किसी क्षण भी उसे सुप्त नहीं होने देना चाहिए।

गाथा के दूसरे चरण में कहा है—उपशम यानी क्षमा की शोभा समाधि में है। जब अन्तर्मानस में समाधि-भाव रहता है तभी क्षमा-धर्म का पालन समुचित रूप से हो सकता है। उपशम के मूल में भी विवेक ही कार्य करता है।

औपपातिक सूत्र में बड़े सुन्दर ढंग से बताया गया है—

धम्म णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खइं ।
उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खइं ॥

भगवान् से कहा है—“प्रभो ! आपने धर्म का उपदेश देते हुए उपशम का उपदेश दिया और उपशम का उपदेश देते हुए विवेक का उपदेश दिया । अर्थात्—धर्म का सार उपशम या समभाव है और उपशम का सार विवेक है ।

गाथा से स्पष्ट है कि क्षमा धर्म है और उसका पालन तभी समुचित रूप से हो सकता है, जबकि उपशम या समभाव सतत बना रहे । इतिहास उठाकर देखने पर पता चलता है कि पूर्व में महामुनि अपनी खाल खिचवा लेते थे, कोल्हू में पिल जाया करते थे, मस्तक पर अंगारे रखवा लेते थे, स्वयं भगवान् महावीर ने कानों में कीले ठुकाए थे । मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि उन्होंने लोगों से ऐसा करने के लिए कहा था । यह तो उनसे शत्रुता रखने के कारण लोगों ने किया था । किन्तु उन भव्य आत्माओं ने बिना तनिक भी दुःख, विरोध या क्रोध किये सब कष्ट सहन कर लिये थे और उन अज्ञानी प्राणियों को मन ही मन क्षमा कर दिया था । पर ऐसी क्षमा उन्होंने किस प्रकार हासिल की ? उपशम या समभाव के होने से । सुख और दुःख में हर्ष या शोक का अनुभव न करने वाली महान् आत्माएँ भी इस प्रकार का समाधि-भाव रख सकती हैं तथा मरणांतक कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्तियों को भी सहज ही क्षमा कर सकती हैं ।

आज तो व्यक्ति के कान में एक कट्टु शब्द पड़ते ही हृदय में बैठा हुआ क्रोध रूपी विषधर फन उठाकर डसने को दौड़ पड़ता है । ऐसे विषधर के रहते हुए भला समभाव कहाँ टिक पाएगा ? और समभाव के अभाव में क्षमा-धर्म की आराधना भी कैसे होगी ? इसलिये बंधुओं, अगर क्षमा-धर्म की आराधना करनी है तो सर्वप्रथम मानस में विवेक को जागृत रखना चाहिए तथा उसकी सहायता से समाधिभाव को स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अब गाथा का तीसरा चरण आता है । इसमें कहा गया है—‘नाणं सुजाणं चरणस्स सोहा ।’ अर्थात्—सुजान पुरुष के चरण यानी चारित्र्य की शोभा ज्ञान से होती है । ज्ञान के अभाव में चारित्र्य का पालन सम्यक् रूप से कभी नहीं हो सकता । जो अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं जानता कि कौनसी क्रिया आत्मा के लिए हितकर है और कौनसी अहितकर, वह भला अपने आचरण को शुद्ध कैसे बनायेगा ? कहा भी है—

नाणंमि असंतंमि चरित्तं वि न विज्जए ।

अर्थात्—जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ चारित्र्य भी नहीं रहता ।

वस्तुतः अज्ञानी पुरुष धर्म और अधर्म में अन्तर न जान सकने के कारण अपने आचरण को धर्ममय नहीं बना सकता और अधर्ममय आचरण के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके संसार-मुक्त नहीं हो सकता ।

सूत्रकृतांग में यही बात समझाई गई है—

एवं तवकाइ साहिता, धम्मभाधम्मे अकोविया ।

दुक्खं ते नाइतुट्ठंति, सउणी पंजरं जहा ॥

अर्थात्—जो अज्ञानी व्यक्ति धर्म एवं अधर्म से सर्वथा अनजान रहता है, वह केवल कल्पित तर्क-वितर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करता है, वह अपने कर्मबन्धनों को नहीं तोड़ सकता, जैसे पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ पाता ।

वास्तव में ही अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्ज्ञान के अभाव में कौसी भी क्रिया, साधना या तपस्या क्यों न करे वह करोड़ों जन्मों तक उद्यम करके भी जितने कर्मों का क्षय नहीं कर पाता, उतने कर्मों का सम्यक्ज्ञानी अपनी वन, वचन और शरीर, इनकी प्रवृत्ति को रोककर स्वोन्मुख ज्ञातापने से क्षणमात्र में ही क्षय कर डालता है । यह जीव आत्म-ज्ञान के अभाव में मुनिव्रत धारण करके अनन्त बार नवम ग्रैवेयक तक के विमानों में भी उत्पन्न हुआ किन्तु सच्चा सुख हासिल नहीं कर सका । इसलिए ज्ञान के द्वारा धर्म-अधर्म को समझकर ही मुमुक्षु को अपना आचरण शुद्ध बनाना चाहिए और विना ज्ञान प्राप्त किये निरर्थक हाथ-पैर मारना बन्द करके संसार-सागर को ज्ञानपूर्वक सहज और सीधे ही तैरकर पार कर लेना चाहिए ।

गाथा के चौथे और अन्तिम चरण में कहा है—“सीसस्य सोहा विनयेन सन्ति ।” इसका अर्थ है—शिष्य की शोभा विनयगुण धारण करने में है । जो शिष्य विनयी होता है वही अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त करके आत्म-कल्याणार्थ सच्ची साधना करता है ।

शिष्य को अन्तेवासी भी कहते हैं । अन्तेवासी का अर्थ है—नजदीक रहने वाला । आप सोचेंगे कि दूर रहने वाला क्या शिष्य नहीं कहलाता ? कहलाता है, अगर वह अपने गुरु की आज्ञा का यथाविधि विनयपूर्वक पालन करे तो । गुरु की आज्ञा का पालन न करने वाला तो उनके समीप रहकर भी अन्तेवासी नहीं कहला सकता ।

उदाहरणस्वरूप, गोशालक भगवान महावीर के समीप रहकर भी अन्तेवासी नहीं था और एकलव्य भील गुरु द्रोणाचार्य से दूर रहकर भी स्वयं को अन्तेवासी साबित करता था । भले ही द्रोणाचार्य ने उसे शिष्य रूप में स्वीकार नहीं किया था तथा अपमानित करके अपने यहाँ से निकाल दिया था ।

तो विनय एक महान् गुण है जिसे अपनाकर शिष्य उनके ज्ञान को ग्रहण करता है । जो उच्छ्रंखल शिष्य विनय को महत्त्व नहीं देता वह प्रथम तो

गुरुयत् ज्ञान हासिल ही नहीं कर पाता, और जो कुछ सीखता है, उससे आत्म-कल्याण नहीं कर पाता। कहा भी है—

न उ सच्छन्दता सेया लोए किमुत उत्तरे ।

—व्यवहारभाष्य पीठिका, ८६

अर्थात्—स्वच्छन्दता लौकिक जीवन में भी हितकर नहीं है तो लोकोत्तर जीवन यानी साधक के जीवन में कैसे हितकर हो सकती है ?

विनयी शिष्य तो गुरु के द्वारा प्राप्त तिरस्कार और ताड़ना को भी वरदान मानते हैं तथा तनिक भी खिन्न या निराश न होते हुए श्रद्धापूर्वक जानार्जन करते रहते हैं।

बुद्धू वैज्ञानिक बन गया

अलबर्ट आइन्सटीन संसार के परम विख्यात वैज्ञानिक हुए हैं। एक बार किसी छात्र ने उनसे पूछा—

“सर ! सफलता का मन्त्र क्या है ?”

“गुरु के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी हिम्मत न हारना।” आइन्सटीन ने तुरन्त उत्तर दिया।

छात्र ने चकित होकर पूछा—“वह कैसे ?”

वैज्ञानिक बोले—“माई ! एक दिन मैं भी तुम्हारे समान विद्यालय में पढ़ता था। पर गणित में बहुत कमजोर था अतः सभी छात्र मुझे बुद्धू कहते और मेरे शिक्षक भी समय-समय पर डाँटते हुए कहा करते थे—तुम इतने मूर्ख हो कि सात बार जन्म लेकर भी गणित नहीं सीख सकते।’ इस प्रकार मैं बहुत बार तिरस्कृत होता रहा, लेकिन मैंने कभी अपने अध्यापकों की बात का बुरा नहीं माना और मेहनत करते हुए पढ़ता रहा। परिणाम यह हुआ कि केवल गणित में ही नहीं, मैं सभी विषयों में खूब नम्बर लाने लगा और आज तुम मुझ बुद्धू को इस रूप में देख ही रहे हो।”

वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति का मूल मंत्र यही है ! ‘श्री उत्तराध्ययनसूत्र’ में भी कहा है—

जं ने बुद्धानुसांसति सीएण फरुसेण वा ।

मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिसुणे ॥

गाथा में बताया गया है कि—गुरुजन कठोर अनुशासन रखते हुए शिक्षा दें, तब भी शिष्य को यही विचार करना चाहिए कि यह कठोर शिक्षा मेरे लिए हितकर है और इस प्रकार भाव रखते हुए उसे सावधानी के साथ सुनना चाहिए।

ऐसा करने वाला शिष्य ही क्षमाधर्म को अपनाकर संवर के मार्ग पर बढ़ सकेगा। क्षमा से बढ़कर इस संसार से मुक्त कराने वाला अन्य कोई भी तप नहीं है और कोई भी धर्म नहीं है। इसीलिए कहा जाता है—'क्षमा वीरस्य भूषणम्।' यानी क्षमा शूरवीरों का आभूषण है।

क्षमावान कायर नहीं है

अनेक व्यक्ति कहते हैं कि क्षमा मनुष्य को कायर बनाती है। वही व्यक्ति क्षमा करते हैं जो अशक्त, निर्बल या डरपोक होते हैं। ऐसे विचार बड़े भ्रमपूर्ण एवं गलत हैं। सच्चे साधक कभी कायर या डरपोक नहीं कहलाते।

आप लोगों को भली-भाँति समझना चाहिए कि साधक शारीरिक शक्ति होते हुए भी मनुष्य या खूंखार प्राणियों को तो क्षमा करते ही हैं पर क्षमा धारण करके आत्मा के महान् एवं भयंकर शत्रु क्रोध तथा द्वेषादि को भी परास्त करते हैं। बाह्य शत्रुओं से मुकाबला करना कोई बड़ी बात नहीं है उन्हें सहज ही जीता जा सकता है, किन्तु कषायरूपी आत्मिक शत्रुओं को जीतना बड़े जीवट का काम है।

लोग कहने को कह देते हैं कि क्षमाधारी डरपोक होता है, पर आप स्वयं अपने आप पर प्रयोग करके देखिये कि क्रोधरूपी शत्रु को अपने आत्मरूपी दुर्ग में आने से रोकना या कि क्रोधरूपी भयंकर विषधर को मारना कितना कठिन है। आप एक सर्प को देखते हैं और उसे मारकर अपनी बहादुरी साबित कर देते हैं। किन्तु क्या क्रोधरूपी उस विषधर को, जिसका काटा हुआ जन्म-जन्म तक प्रभावित रहता है, उसे तनिक भी हानि पहुँचाने में या अपने पास से दूर हटाने में भी आप समर्थ हो पाते हैं? नहीं, किसी का एक भी कट्टु शब्द सुनते ही वह क्रोध रूपी सर्प आपको इस प्रकार अपने लपेटे में ले लेता है कि आपके लिए उसे छुड़ाना तो दूर, छुड़ाने की कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। अर्थात् क्रोध आपको इस प्रकार जकड़ता है कि उसे जीतने का या उसे दूर करने का भी आपको होश नहीं रहता। क्या आत्मा के इस भयंकर शत्रु पर आप विजय पा सकते हैं? नहीं, आप केवल बाहरी और तुच्छ प्राणियों को एक के बदले में सौ गालियाँ देकर या शरीर कुछ मजबूत हुआ तो उसे लात-घूसे मारकर अपनी बहादुरी साबित करते हैं।

अब आप ही बताइये कि शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन करना कठिन है या आन्तरिक शत्रुओं पर कब्जा करना? स्पष्ट है कि बाह्य प्राणियों पर बल प्रयोग करना कुछ भी कठिन नहीं है, वरन् आन्तरिक शत्रुओं पर कब्जा करना या उन्हें परास्त करना महा मुश्किल है। साधक इसीलिए वीर हैं, क्योंकि वे उन आत्मिक

और जबर्दस्त शत्रुओं को अपने अन्दर फटकने भी नहीं देकर जीत लेते हैं, जिनके एक झपटे से ही आप हथियार डाल देते हैं तथा वे जिस प्रकार नचाते हैं, नाचने लगते हैं। क्या यह गलत बात है? नहीं, क्रोध का भूत आपके मस्तक पर चढ़कर आपसे वही करा लेता है जो वह चाहता है, उसे किसी भी तरह आप दिल या दिमाग से निकाल नहीं सकते, किन्तु क्षमाशील साधक उसे दिल के द्वार से अन्दर ही नहीं आने देता, उसका मस्तक पर चढ़ना तो दूर की बात है।

इसलिए बन्धुओ, क्षमाशील ही सच्चा वीर या महावीर है। वही सच्चा साधक है और मुक्ति-मार्ग का अनुयायी है। अपने मार्ग पर बढ़ते हुए वह कषायों को मार्ग रोकने नहीं देता, उनसे प्रभावित नहीं होता और जब वे दूर खड़े मुँह बाये रहते हैं यह वीर हाथी के समान किसी की परवाह किये बिना निरन्तर अग्रसर होता रहता है।

यही कारण है कि मुनि के लिए दस धर्मों का विधान करते समय क्षमा-धर्म को पहला और मुख्य स्थान दिया गया है। क्षमा-धर्म साधु व श्रावक दोनों के लिए समान हितकारी है, क्योंकि दोनों ही मुक्ति-मार्ग के पथिक हैं। अगर आप इसे धारण करेंगे तो निश्चय ही मुक्ति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर होते रहेंगे।



ऐरे, जीव जौहरी ! जवाहिर परखि ले

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल मैंने दस यति-धर्मों में से पहले क्षमा-धर्म पर आपको कुछ बताया था। ये धर्म संवरतत्त्व के सत्तावन भेदों में आते हैं और क्षमा तयालीसवाँ भेद है।

जो भव्य प्राणी क्षमारूपी कल्पवृक्ष की छाया में बैठता है वह इच्छानुसार फल प्राप्त करके सुखी बनता है, पर जो क्रोधरूपी विपवृक्ष के नीचे जा पहुँचता है वह उसके विष से प्रभावित होकर जन्म-जन्म तक कष्ट पाता रहता है।

इसीलिए वीतराग प्रभु ने क्षमारूपी कल्पवृक्ष के समीप जाने की प्रेरणा दी है और आज्ञा दी है कि मुमुक्षु को कभी भी और किसी भी अवस्था में उसका आश्रय नहीं छोड़ना चाहिए। क्षमा धर्म इतना उत्कृष्ट है कि देवताओं को भी इसके धारक के चरणों पर झुकना पड़ता है। इतिहास बताता है कि अनेक सन्तों और श्रावकों को धर्म से विचलित करने के लिए देवता भी आकर कोशिश करते थे तथा नाना कष्टों की सृष्टि करके उन्हें डिगाने का प्रयत्न करते थे।

किन्तु उन महान् आत्माओं के पास 'क्षमा' एक ऐसा शस्त्र होता था, जिसकी मार से घबराकर वे उनके चरणों पर गिर पड़ते थे और पश्चात्ताप करते थे।

किसी ने कहा भी है—

“क्षमा खड्गं करेयस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।”

अर्थात्—क्षमारूपी खड्ग जिस व्यक्ति के हाथ में होती है, शत्रु उसका क्या बिगाड़ सकते हैं ?

वस्तुतः क्षमा के आगे असंख्य शत्रुओं को भी नतमस्तक होना पड़ता है। यही कारण है कि साधक जब आत्म-साधना के लिए प्रवृत्त होता है तो मार्ग में

आक्रमण करने वाले कषायरूपी आत्मिक शत्रुओं से मुकाबला करने के लिए सर्वप्रथम क्षमारूपी खड्ग हाथ में लेता है ।

ऐसा करने पर ही वह निरापद रूप से आगे बढ़ता है और इस संसार रूपी सराय को सदा के लिए त्याग कर अपनी मंजिल प्राप्त कर लेता है ।

एक हिन्दी भाषा के कवि ने कहा है—

यह जगत मुसाफिरखाना है, जन कुटिया न्यारी-न्यारी है ।
हिल-मिल धर्म कमाओ तुम ! जाना सबको अनिवारी है ॥

प्रत्येक धर्मशाला, सराय या मुसाफिरखाने में हम देखते हैं कि कतार की कतार छोटी-छोटी या बड़ी-बड़ी कोठरियों की बनी हुई होती हैं । कम पैसे वालों को छोटी कोठरियाँ मिलती हैं और अधिक पैसे वाले बड़े-बड़े कमरे किराये पर लेते हैं ।

सरायों की तुलना

यह संसार भी एक विशाल सराय है, जिसमें कम पुण्यवानी वाले जीवों को लघु शरीर या कष्टकर तिर्यंच योनि के शरीर मिलते हैं और जो पुण्यरूपी अधिक धन साथ में लाते हैं, वे सुखप्रद मानव-शरीर प्राप्त करते हैं ।

पर बन्धुओ, जिस प्रकार सराय में आने वाले गरीब और अमीर सभी यात्री थोड़े काल तक टहरकर अपने-अपने घर चले जाते हैं तथा कितना भी सराय में हवादार, सुन्दर और सुविधाजनक कमरा क्यों न लिया हो, वहाँ हमेशा के लिए नहीं रहते, उसी प्रकार जीव भी इस संसार रूपी सराय में कैसा भी शरीर, भले ही वह तुच्छ कीड़े का हो या मनुष्य का, प्राप्त करने पर भी थोड़े या अधिक दिनों में यहाँ से चल देता है । यह कभी नहीं हो सकता कि कीट-पतंग या पशुओं को ही यहाँ से जाना पड़े और मानव क्योंकि पंचेन्द्रियों के सुखों का उपभोग करता हुआ आनन्द से रहता है अतः वह न जाये और सदा ही यहाँ बना रहे ।

आप सभी जानते हैं कि प्रत्येक सराय या धर्मशाला में दो, तीन या चार दिन, इस प्रकार कुछ समय यात्री को ठहरने दिया जाता है और उस नियम के अनुसार अगर यात्री समय पूर्ण हो जाने पर भी न जाय तो उसका बोरिया-बिस्तर फिकवा दिया जाता है । यही हाल जीव के लिए संसार रूपी सराय के शरीर रूपी कमरे में रहने पर होता है । अर्थात् उसे जितने दिन का समय मिला हुआ होता है, ठीक उतने ही समय के व्यतीत होने पर कालरूपी चौकीदार उसे वहाँ से निकाल बाहर करता है । यह नियम धर्मशाला के सभी यात्रियों

के लिए जैसे समान होता है, वैसे ही संसाररूपी सराय के जीव-यात्रियों के लिए भी समान होता है। यानी जितने दिन के लिए उसे शरीररूपी कमरा मिला होता है, उतने ही दिन बाद उसे शरीर छोड़ना पड़ता है। जबदंस्ती किसी भी प्रकार नहीं रहा जा सकता।

यात्रियों में अन्तर

यहाँ एक बात जानना महत्वपूर्ण है कि दोनों प्रकार के यात्रियों में एक बड़ा जबदंस्त अन्तर होता है। वह यह कि आपकी इन धर्मशालाओं में जो यात्री आते हैं, वे स्वयं ही सराय छोड़कर अपने घर जाने के लिए व्यग्र रहते हैं और जिस उद्देश्य के कारण वे उसमें ठहरते हैं, उसके पूर्ण होते ही अपने घर चले जाते हैं। किन्तु इस संसाररूपी सराय के शरीररूपी कमरे में जो जीव-यात्री आकर कुछ दिन या कुछ वर्षों के लिए ठहरता है, वह अपने असली घर या शिवपुर नगर की याद नहीं करता और वहाँ जाने का प्रयत्न भी नहीं करता। परिणाम यह होता है कि समय की अवधि समाप्त होते ही वह कालरूपी चौकीदार के द्वारा जबदंस्ती निकाल दिया जाता है, तथा उसके बाद अपने सच्चे घर का मार्ग न जानने के कारण इधर-उधर यानी मिन्न-मिन्न योनियों में भटकता हुआ कष्ट पाता रहता है। दूसरे शब्दों में यह जीव-यात्री अपना जितना भी पुण्य-रूपी धन साथ में लेकर आता है, उसे भौज-शौक व सैर-सपाटे में खर्च कर देता दे और फिर जब यहाँ से निकाला जाता है तब कंगाल हो जाने के कारण और अपना घर व नगर बहुत दूर होने के कारण गाड़ी-माड़े का टिकिट नहीं खरीद पाता तथा यत्र-तत्र भटकता रहता है।

आप भली-भाँति जानते हैं कि जिसके पास द्रव्य-धन नहीं होता उस कंगाल मुसाफिर को प्रथम तो बस या रेल में बैठने ही नहीं दिया जाता और अगर कभी वह आँख चुराकर बैठ भी जाता है तो किसी भी स्टेशन पर धक्के मार कर उतार दिया जाता है, तो रुपये-पैसे के अभाव में जहाँ एक यात्री यहाँ की छोटी-सी यात्रा भी नहीं कर पाता तो फिर पुण्य-रूपी परोक्ष धन के अभाव में जीव मोक्ष तक की महान् लम्बी यात्रा कैसे कर सकता है ? इस तरह किसी भी प्रकार उसका अपने घर जाना सम्भव नहीं होता। एक और बात यह भी है कि द्रव्य-धन तो फिर भी सहज ही कमाया जा सकता है या चोरी और डाके से किसी का छीना जा सकता है, किन्तु पुण्य-रूपी धन कमाने में बड़ी कठिनाई होती है और वह किसी और का छीना या चुराया भी कभी नहीं जा सकता।

इसीलिए कवि ने कहा है—‘तुम हिल-मिल कर धर्म कमाओ !’ क्योंकि यहाँ से जाना जरूर पड़ेगा और खाली हाथ अपने घर नहीं पहुँच सकोगे।

स्पष्ट है कि धर्मचरण करने पर ही पुण्य-रूपी धन इकट्ठा होगा और जीव मोक्ष नगर की यात्रा का टिकिट प्राप्त कर सकेगा ।

धर्मग्रन्थों में इसी बात को दूसरे शब्दों में समझाया गया है—

नीचंवृत्तिरधर्मेण धर्मणोच्चैः स्थिति भजेत् ।
तस्मादुच्चैः पदंवाञ्छन् नरो धर्मपरोभवेत् ॥

—आदिपुराण. १०।११६

अर्थात्—अधर्म से मनुष्य की अधोगति होती है और धर्म से ऊर्ध्वगति । अतः उच्च गति चाहने वाले को धर्म का आचरण करना चाहिए ।

पुराण की इस गाथा में भी यही बात बताई गई है कि पुण्य को न कमाने वाला जीव बिना टिकिट के मुसाफिर की तरह धक्के दे-देकर निम्न गतियों में उतारा जाता है तथा नाना योनियों में भटकता हुआ घोर कष्ट उठाता है । किन्तु जो भव्य प्राणी धर्म-व्यापार के द्वारा पुण्य-रूपी धन का संग्रह कर लेता है वह रिजर्वेशन करा लेने वाले यात्री के समान निश्चिन्त होकर उच्च गति की ओर ले जाने वाली लम्बी यात्रा करता है तथा बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने घर पहुँच जाता है ।

अब प्रश्न होता है कि पुण्यरूपी धन कमाया कैसे जाय ? इस विषय में भी बताया गया है कि—

रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपा संसिदो य परिणामो ।

चित्तमिह गत्थि कलुसं, पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥

—पंचास्तिकाय १३५

यानी—जिसका राग प्रशस्त है, अन्तर में अनुकम्पा की वृत्ति है और मन में कनुषभाव नहीं है, उस जीव को पुण्य का आस्त्रव होता है ।

वस्तुतः संसार के समस्त प्राणियों के प्रति करुणा और प्रेम की भावना होने पर मनुष्य अनेकानेक पापों से बचता है । जब उसके हृदय में अन्य जीवों के प्रति करुणा का भाव होगा तो वह किसी को कटु-वचन नहीं कहेगा, किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखेगा और किसी भी जीव की हिंसा नहीं करेगा । ये सभी बातें उसके मानस में क्षमा-धर्म की वृद्धि करेंगी और मोक्ष की सुदूर यात्रा के लिए पुण्य कर्म रूपी धन का संचय होगा ।

बन्धुओ, यहाँ एक विचार आपके मन में आयेगा कि भगवान के कथनानुसार पाप के साथ पुण्य को भी मोक्ष के लिए छोड़ना पड़ेगा, तब महाराज मोक्ष की यात्रा के लिए पुण्य का संग्रह करने को क्यों कह रहे हैं ? पुण्य तो वहाँ पर साथ में ले जाया नहीं जायेगा । आपका यह सोचना ठीक है, कदापि गलत नहीं

है। पुण्य को भी मोक्ष में जाने से पहले निश्चय ही छोड़ना पड़ेगा। किंतु अभी-अभी मैंने आपको बताया था कि यात्री घन के द्वारा अपने लिए सीट रिजर्व करा लेता है। जब वह टिकट लेता है तब रुपया-पैसा वह बुकिंग ऑफिस के कर्मचारी को दे देता है और फिर बिना पैसे भी निस्संकोच जाकर अपनी सीट पर बैठ जाता है तथा अपने गंतव्य की ओर चला जाता है।

इसी प्रकार जीवात्मा पहले पुण्य-संग्रह करता है और उस पुण्य-घन को देकर मानो वह अपने लिए उच्चगति या मुक्ति के लिए भी अपना स्थान नियत करवा लेता है। जब वह अपना स्थान नियत करवाता है तब पुण्य-रूपी घन वहीं खर्च कर देता है, यानी उसे छोड़ देता है। इस प्रकार वह पुण्य की भी निर्जरा करके यानी उसे छोड़कर अपना रिजर्वेशन करा लेता है और फिर अव्यावाध गति से अपने सच्चे घर की ओर रवाना होता है।

आगे कविता में कहा है—

जो अफसर ड्यूटी तजता है, वह निज पद से गिर जाता है।
 त्यों मनुष्य कृत्य को तजे मनुज, वह मनुजाधम कहलाता है ॥

कहते हैं कि अगर कोई उच्च पदस्थ अधिकारी अपने कर्तव्यों का समीचीन रूप से पालन नहीं करता या कि अपने मातहत कर्मचारियों से बराबर काम लेकर सुव्यवस्था नहीं रख पाता, वह अपने पद से हटा दिया जाता है तथा उस उच्च पद के छूट जाने से वह पुनः साधारण श्रेणी का व्यक्ति बन जाता है। फिर न उसके पास सत्ता रहती है, और न ही वह किसी पर अनुशासन करने योग्य ही रह जाता है।

यही हाल मनुष्य-जीवन का भी है। जिस प्रकार अफसर अपनी पूर्व में रही हुई योग्यता से अफसरी तो पा लेता है, किन्तु फिर सत्ता के घमंड में आकर अपना कर्तव्य-पालन नहीं करता, अनाचरण करता है या शासन ठीक नहीं चलाता तो उसे पद से हटकर नीचे के स्तर पर आना पड़ता है। इसी प्रकार जीव भी अपने पूर्व पुण्यों के द्वारा योग्यता की डिग्री लेकर मानव के रूप में मन और इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त करता है और उसे इन सबकी सहायता से आत्म-कल्याण करने का कार्य उसे सौंपा जाता है।

किन्तु, जब मनुष्य संसार के असंख्य मनहीन, इन्द्रियों से हीन एवं पशु-पक्षी आदि अभाग्य प्राणियों को देखता है तो उसे अपनी योग्यता पर या अपनी सत्ता पर घमंड हो जाता है और वह आत्म-कल्याण के कार्य को भूलकर मन और इन्द्रियों को अनाचार में प्रवृत्त कर देता है। इन सबको आत्म-कल्याण के कार्य में न लगाकर पाप-कार्यों में लगाता है अतः उसे अपनी अयोग्यता एवं शासन-

हीनता के कारण मानव जीवन रूपी उच्चपद से हटाकर निम्न श्रेणी के तारकीय या तिर्यच जीवों के साथ कर दिया जाता है ।

यह इसीलिए होता है कि वह मानव बनकर मानवोचित कार्यों को नहीं करता तथा अधम मानव बनकर कुकृत्य में संलग्न रहता है और अपने मातहत मन और इन्द्रियों को भी निरंकुश बनाता हुआ अपने सौपे गये उत्तम कार्य को पूर्ण नहीं करता ।

अंग्रेजी में एक कहावत है—

“When duty calls, we must obey.”

अर्थात्— जब अपना फर्ज हमें बुलाता है तो उसकी आज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए ।

आशय यही है कि प्रत्येक मानव का फर्ज मन और इन्द्रियों की अफसरी पाकर अपने आत्म-गुणों के द्वारा उत्तम कार्य करना है; जिससे उत्तम गति हासिल हो सके । पर ऐसा न करने से यानी कर्तव्य से च्युत हो जाने से अधिकार छिन जाता है और वह मानव-जन्म रूपी उच्च पद से हटा दिया जाता है ।

इसलिए बन्धुओ ! यह दुर्लभ मानव-जीवन मिला है तो हमें इसे निरर्थक नहीं जाने देना चाहिए तथा जिस प्रकार जौहरी रत्नों की सच्ची परीक्षा करके उनसे लाभ उठाता है, इसी प्रकार हमें भी आत्म-गुण रूपी अमूल्य रत्नों की पहचान करके इनकी कीमत बसूल कर लेनी चाहिए ।

शास्त्र विशारद पूज्य श्री अमीश्रुषि जी महाराज ने भी मानव को जौहरी की उपमा देकर कहा है कि—“बावले प्राणी ! तेरे पास तो अमूल्य जवाहरात हैं, जरा इनकी परख कर और इनसे लाभ उठा ।” कवि श्री ने स्वयं ही मनुष्य को बताया है—

संयम सुहीरा नील नियम विद्रुम व्रत,

गौमेश्व विराग ज्ञान मानिक हरखि ले ।

तप जप मोती ध्यान पन्ना नय लसनिया,

अभय मुदान पुखराज ही निरखि ले ॥

कहे अमीरिख दुःख दारिद्र पलाय ऐसो,

संमझि पदारथ अमोल पास रखि ले ।

पूरण भरी है जित धरम मंजूस यह,

ऐरे जीव जौहरी जवाहिर परखि ले ॥

पद्म अत्यन्त सुन्दर और बड़ा मार्मिक है। इसमें कहा है—“अरे जीव रूपी जौहरी ! तू बाहर कहीं काँच के टुकड़ों को खोजता फिरता है, तेरे अन्दर ही तो जिनधर्म रूपी मंजूषा दुर्लभ रत्नों से भरी हुई है इसे देख, परख और इनका लाभ उठा।”

धर्म-मंजूषा में कौन-कौन से रत्न किस तरह माने जा सकते हैं, यह इस प्रकार बताया है—संयम रूपी अमूल्य हीरा है, नियम नील रत्न और विद्रुम रत्न व्रत हैं। वैराग्य-रूपी गौमेद है तथा ज्ञान-रूपी भाणिक है। जप-तप सच्चे मोती हैं, ध्यान पद्मा है और नय लसनिया रत्न हैं। इसी प्रकार दोनों में से सर्वोत्तम अभयदान पुखराज है।

कविश्री ने आत्म-गुणों की यथार्थ परीक्षा करके उन्हें दुर्लभ और अमूल्य रत्न बताया है। साथ ही जीवात्मा से भी कहा है—“अरे जीव जौहरी ! तू मनुष्य है पशु नहीं, पशु तो कभी रत्नों की पहचान नहीं कर सकते, किन्तु तू तो इनकी परख कर सकता है ? फिर क्यों नहीं अपने अन्दर धर्म रूपी मंजूषा में रहे हुए संयम, नियम, व्रत, विराग, जप-तप, ध्यान, नय एवं दानादि रूप इन दुर्लभ रत्नों को उपयोग में लाकर लाभ उठाता है ? पशु के समान अपने आपको अज्ञानी रखकर तू बाहर ही बाहर दृष्टि डालता है और क्षणिक संतोष प्रदान करने वाले नकली साधनों को इकट्ठा करता है। पर भली-भाँति समझ ले कि ये सब साधन केवल काँच के टुकड़े हैं, जिनकी कीमत तुझे कुछ भी नहीं मिलेगी। पर विशिष्ट विवेक एवं असाधारण बुद्धि को काम में लाकर अगर अपने अन्दर ही रहे हुए, इन सब अनमोल गुणरूपी रत्नों को तू पहचान ले तो इनके द्वारा मोक्ष-मार्ग की सम्पूर्ण यात्रा का खर्च सहज ही निकाल सकता है।”

मनुष्य पशु नहीं है

वस्तुतः जौहरी केवल मानव ही हो सकता है, अन्य कोई प्राणी नहीं। किन्तु जौहरी होकर भी अगर वह अपना कार्य यानी रत्नों की परख नहीं करता है तो उसका जौहरी कहलाना व्यर्थ है। भले ही मनुष्य कितना भी अज्ञानी और मूर्ख क्यों न हो, वह पशु नहीं है, इसलिए जहाँ पशु को जीवन भर प्रयत्न करके भी ज्ञानी नहीं बनाया जा सकता और आत्म-गुणों की परख करने वाले जौहरी के रूप में नहीं लाया जा सकता, वहाँ मानव प्रयत्न करने पर निश्चय ही ज्ञानी बन सकता है और आत्म-गुण रूपी रत्नों की सच्ची परख करने वाला जौहरी हो सकता है।

पर इसके लिए मनुष्य में लगन, जिज्ञासा एवं तीव्र उत्कंठा चाहिए।

आत्म-गुणों की पहचान के लिए दुनिया भर की किताबों को पढ़ जाना और उन्हें कठस्थ करना आवश्यक नहीं है, न ही बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ हासिल करने की और तर्क-वितर्क करने की शक्ति प्राप्त करने की ही जरूरत है। जरूरत केवल बीतराग के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखने की और उनके कथनानुसार हिंसा, झूठ, चोरी, राग, द्वेष एवं कषायादि से वचकर क्षमा, करुणा, सेवा, प्रेम, अहिंसा, सत्य, प्रार्थना, ध्यान, चिंतन-मनन तथा यथाशक्ति नियम-पालन एवं त्याग करने की है। अब आप ही बताइए कि इन गुणों को अपनाने के लिए महाविद्वान और दिग्गज पंडित बनना अनिवार्य है क्या ? नहीं, आत्म-कल्याण का इच्छुक और भगवान के वचनों पर आस्था रखने वाला साधारण व्यक्ति भी बिना शिक्षा का बोझ अपने मस्तक पर लादे हुए अपने शुद्ध एवं निर्दोष आचरण से ही धर्म के मार्ग पर चल सकता है।

चमार रैदास, डाकू अंगुलिमाल, हत्यारा अर्जुनमाली एवं चांडाल हरिकेशी, क्या इन सबने महाज्ञानी या पण्डित बनकर ही अपने जीवन को धर्ममय बनाया था ? नहीं, केवल छोटे से निमित्तों के द्वारा ही इन्होंने संसार के सच्चे स्वरूप को समझकर पापों का त्याग किया था और संत-जीवन अपनाकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल पड़े थे।

कहने का अभिप्राय यही है कि अधिक विद्वत्ता और तर्क-शक्ति प्राप्त कर लेने से ही मानव अपने उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। अनेक बार तो ऐसा होता है कि अधिक ज्ञान का बोझ मस्तक पर लाद लेने वाला व्यक्ति क्या करना और क्या नहीं करना ? इस विवाद में ही उलझ कर रह जाता है तथा भिन्न-भिन्न मतों और धर्मों के चक्कर में पड़कर किकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। परिणाम यह होता है कि कभी वह एक सिद्धान्त को ठीक मानता है और कभी दूसरे को, इसलिए वह जीवन भर अपने आचरण में किसी भी सिद्धान्त को नहीं ला पाता; यानी आचरण के अभाव में कोरा का कोरा रह जाता है। केवल ज्ञान या तर्क-वितर्क उसे मुक्ति के मार्ग पर चला नहीं पाते और चले बिना मंजिल दूर ही रह जाती है। एक छोटा-सा उदाहरण है।

प्रार्थना करो तो सही !

एक बार कुछ विद्वान व्यक्ति किसी समारोह में सम्मिलित होने के लिए एक गाँव में गये। समारोह के सम्पन्न हो जाने पर वे साथ ही लौटे और मार्ग में थक जाने के कारण कुछ देर विश्राम करने के लिए एक विशाल बट वृक्ष के नीचे बैठ गये। वहाँ बैठकर वे आपस में विचार करने लगे कि ईश्वर की स्तुति करते समय व्यक्ति को क्या माँगना चाहिए।

उनमें से एक व्यक्ति बोला—“मनुष्य को प्रार्थना करने समय अन्न माँगना चाहिए, क्योंकि अन्न पर ही जीवन टिका रह सकता है।

इस पर दूसरा कहने लगा—“वाह ! अन्न पैदा करने के लिए भुजाओं में शक्ति चाहिए अतः अन्न की अपेक्षा शक्ति माँगना ज्यादा अच्छा है।”

दो व्यक्तियों की बात सुनकर तीसरा विद्वान कहने लगा—“अरे, शक्ति होने पर भी अक्ल नहीं हुई तो कैसे काम चलेगा ? शक्ति तो शेर में भी होती है, पर क्या वह अनाज पैदा कर सकता है ? नहीं, इसलिए मनुष्य को सबसे पहले बुद्धि या अक्ल के लिए भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए।”

बन्धुओ ! वहाँ सारे ही व्यक्ति विद्वान थे अतः कौन किससे पीछे रहता ? अब चौथा विद्वान बोला—“मेरे खयाल से तो मनुष्य को भगवान से प्रार्थना करते समय शांति माँग लेनी चाहिए; क्योंकि अशांति का वातावरण होने से झगड़े होते हैं और बैर बँध जाता है। बैर के कारण लोग एक-दूसरे की खेती उजाड़ देते हैं या फसल पकने पर आग ही लगा देते हैं।”

चौथे व्यक्ति की बात सुनकर अब तक चुप बैठा हुआ पाँचवाँ व्यक्ति सुग-बुगाया और अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए कहने लगा—“भला शांति भी कोई माँगने की चीज है ? माँगना ही है तो भगवान से सीधा ही ‘प्रेम’ क्यों नहीं माँग लेना चाहिए ? प्रेम होने पर शांति स्वयं स्थापित हो जाएगी। इसके अलावा लोगों में आपस में प्रेम होगा तो वे हिलमिल कर अनाज पैदा कर लेंगे भले ही किसी में शक्ति अधिक और किसी में कम, साथ-साथ काम करेंगे तो एक-दूसरे की मदद कर दिया करेंगे।”

अब छठे विद्वान की बारी बोलने की आ गई। मेरा यह आशय नहीं है कि सबको बारी-बारी से बोलना ही चाहिए था, पर वहाँ एक से एक बढ़कर विद्वान बैठे थे अतः दूसरों को प्रभावित करने का मौका कोई भी क्यों छोड़ता ? इसीलिए मैंने कहा है कि छठे विद्वान की बारी आ गई। वह बोला—

“मेरी समझ में नहीं आता कि आप मूल को सींचने के बजाय फूल को क्यों सींच रहे हैं ? प्रेम तो फूल या फल है पर मूल है त्याग। त्याग होगा तो प्रेम, कृपा, सेवा आदि अनेक प्रकार के फल-फूल स्वयं ही प्राप्त हो जाएँगे, अतः मनुष्य को भगवान से ‘त्याग’ ही माँगना चाहिए। त्याग से बढ़कर तो और कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु है ही नहीं इस संसार में, फिर ‘त्याग’ ही क्यों न भगवान से माँगा जाय ?”

छठे व्यक्ति का यह लेखर सुनकर सातवें विद्वान को भी जोश आ गया और वे अपने ज्ञान का दूसरों को ज्ञान कराने के लिए बोल पड़े—“त्याग क्या

किसी को यों ही प्राप्त हो जाता है ? जब तक भगवान के प्रति श्रद्धा न होगी, तब तक कोई भी मनुष्य किसी प्रकार का त्याग नहीं कर सकेगा । इसलिए व्यक्ति को प्रार्थना में सीधी श्रद्धा ही माँगनी चाहिए और कुछ नहीं ।”

सातवें विद्वान की रौबीली आवाज को सुनकर तो आठवाँ महापंडित जो अपने आपको न्यायाधीश मानकर मंद-मंद मुस्कुरा रहा था, क्रोध से भर गया और कह उठा—

“आप लोगों में से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो भगवान से सही चीज की माँग कर सके । अरे ! जब तक हृदय में मिथ्यात्व भरा पड़ा है तब तक श्रद्धा क्या मन के अन्दर घुस पाएगी ? कभी नहीं, इसलिए अगर भगवान से माँगना है तो मिथ्यात्व के नाश की प्रार्थना करो और कुछ नहीं ।”

इस प्रकार वे सभी विद्वन्वर्य आपस में वाद-विवाद करने लगे और भगवान से मनुष्य को किस बात के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, इस पर बहस करने लग गये ।

कहते हैं कि वृक्षों पर यक्ष आदि निवास करते हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार उस बरगद पर भी संयोगवश एक यक्ष रहता था जो बड़ी देर से उन सब महा-पण्डितों का विचार-विमर्श सुन रहा था । किन्तु इतनी देर में भी जब उन लोगों की बातों का कोई निर्णय नहीं निकल पाया तो वह बोला—

“अरे माइयो ! क्यों इतनी देर से आपस में झगड़ रहे हो ? भगवान से प्रार्थना करके माँगने की आवश्यकता नहीं है । तुम लोग प्रार्थना करो तो सही !! प्रार्थना करने पर तो सब कुछ स्वयं ही मिल जाएगा ।”

तो बन्धुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि आत्म-गुणों की पहचान करने के लिए मनुष्य के पास ज्ञान का भण्डार मौजूद हो, इसकी आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता केवल यही है कि धीतराग के वचनों पर विश्वास करके व्यक्ति सद्गुणों की पहचान करता हुआ उन्हें अपने आचरण में उतारे, अन्यथा अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आचरण में उतारे बिना व्यर्थ चला जायेगा । इस सम्बन्ध में भी एक सुन्दर उदाहरण मुझे याद आ गया है उसे आपके सामने रख रहा हूँ ।

ज्ञान को आचरण में उतारो !

कहा जाता है कि आचार्य बहुश्रुति के आश्रम में एक बार तीन छात्र अध्ययन करते थे । तीनों ने बहुत दिनों तक अपने गुरुजी से विद्याध्ययन किया, पर तीनों छात्रों में से दो जो अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे ज्ञान की सम्पूर्ण पुस्तकों

पढ़ गये और न जाने कितना क्या, उन्होंने कण्ठस्थ भी कर लिया। बचा एक तीसरा छात्र। वह बेचारा बहुत मन्द-बुद्धि था अतः कुछ भी नहीं पढ़ सका। बहुत ही थोड़ा ज्ञान उसके पल्ले में पड़ा, पर करता क्या ? जो कुछ सीख पाया, उसी को आचार्य की कृपा समझने लगा।

छात्रों ने अपना शिक्षा-क्रम पूरा हो जाने पर घर जाने की अनुमति आचार्य से माँगी। आचार्य ने उत्तर दिया—“ठीक है, मैं जल्दी ही इस विषय में अपना निर्णय बता दूँगा।”

इसके कुछ ही बाद एक दिन शिष्यों की परीक्षा लेने के लिए आचार्य ने आश्रम के प्रवेश-द्वार पर बहुत से काँटे चुपचाप बिखेर दिये और तीनों छात्रों से कहा—“बाहर पड़ी हुई लकड़ियाँ जल्दी-जल्दी लाकर अन्दर अमुक स्थान पर जमा दो।”

गुरु की आज्ञा पाते ही तीनों शिष्य जल्दी-जल्दी बाहर की ओर भागे पर आश्रम के दरवाजे तक पहुँचते ही तीनों के पैरों में काँटे चुभ गये। पहले शिष्य ने काँटों की परवाह न करते हुए केवल अपने पैरों में चुभे काँटे निकाले और जाकर लकड़ियाँ इकट्ठी करने लगा। दूसरा शिष्य काँटे चुभ जाने पर खड़ा हो गया और मन ही मन कुछ सोचने लगा। किन्तु तीसरा मन्दबुद्धि वाला शिष्य वहाँ से लौटकर आश्रम को गया और एक झाड़ू ले आया। उस झाड़ू से वह धीरे-धीरे काँटों को बृंहारकर साफ करने में लग गया, लकड़ियों की ओर गया ही नहीं।

आचार्य बहुश्रुति दूर खड़े-खड़े तीनों शिष्यों के कार्य-कलाप देख रहे थे। उस समय तो वे कुछ नहीं बोले, पर अगले दिन उन्होंने तीनों को बुलाया और मन्द-बुद्धि वाले शिष्य से कहा—“वत्स ! केवल तुम घर जा सकते हो, ये दोनों अभी यहीं रहेंगे क्योंकि इन्होंने पूरी शिक्षा हासिल नहीं की है।”

आचार्य की यह बात सुनकर दोनों कुशाग्र-बुद्धि वाले और पाठ्यक्रम की सभी पुस्तकें अच्छी तरह पढ़ जाने वाले शिष्यों से रहा नहीं गया और उनमें से एक बोला—

“गुरुदेव ! हम तो सारी पुस्तकें पढ़ चुके हैं, जबकि इसने सम्भवतः इतने दिन में एक भी किताब पूरी नहीं की होगी। इस पर भी इसको आप छुट्टी दे रहे हैं और हमें कह रहे हैं कि ज्ञान अधूरा है। ऐसा क्यों ? वास्तव में तो इसका ज्ञान अधूरा है। अतः इसे यहाँ रहना चाहिए।”

आचार्य ने उन शिष्यों से भी स्नेहपूर्वक कहा—

“छात्रो ! यह ठीक है कि तुमने अधिक किताबें पढ़ ली हैं और कण्ठस्थ

भी जितना कर लेना चाहिए वह कर लिया है। किन्तु तुम दोनों ने अपने-अपने ज्ञान को अमी उपयोग में लाना नहीं सीखा। जब तक ज्ञान आचरण में नहीं उतरता, तब तक उसका महत्त्व ही क्या है? सारा का सारा निरर्थक और दिमाग पर बोझ है। पर तुम्हारे इस गुरुमाई ने जितना भी हासिल किया है उसे आचरण में लाना सीख लिया है अतः वह तुम्हारी तुलना में अधिक ज्ञानी साबित हुआ है। याद रखो कि अधिक ज्ञान हासिल करने की जितनी आवश्यकता नहीं है, उतनी आवश्यकता थोड़े से ज्ञान को काम में लाने की है। जीवन को उन्नत और सुन्दर बनाने के लिए थोड़ा-सा ज्ञान भी काफी है अगर मनुष्य उसे उपयोग में लाना सीख जाय।”

दोनों शिक्षित छात्रों ने गुरु की बात को समझकर अपना मस्तक झुका लिया और तीसरा छात्र प्रसन्न तथा संतुष्ट होकर अपने घर चला गया।

धर्मग्रन्थों में भी आचरण की महत्ता को बताते हुए कहा गया है—

“णारणं चरित्तमुद्धं थोओ पि महाफलो होई।”

—शीलपाहुड ६

अर्थात्—चारित्र्य से विशुद्ध हुआ ज्ञान यदि अल्प भी है, तब भी महान् फल देने वाला है।

तो बन्धुओ, प्रत्येक आत्मार्थी को शिक्षा का अधिकाधिक बोझ अपने ऊपर लाद लेने की अपेक्षा आत्मा में छिपे हुए सद्गुण रूपी रत्नों की पहचान पहले करना चाहिए। पूज्य श्री अमीऋषिजी महाराज ने भी अपने पद्य में आगे यही कहा है जो भव्य जीव अपने अन्दर रहे हुए इन रत्नों की परख कर लेता है, उसका दारिद्र्य सदा के लिए मिट जाता है। यानी उन गुणों को अपना लेने वाला और आचरण में उतार लेने वाला व्यक्ति शाश्वत शान्ति एवं स्थायी आनन्द के असीम कोष को प्राप्त कर लेता है और उसे फिर संसार में भटकने की आवश्यकता नहीं रहती।

मराठी भाषा में कहा गया है—

नर रत्न एक नोची, वरकढ रत्नें ही आउ नावाची।

बुडविती न च वा तारिती, जैसे चित्रें ही आउ, नावांची ॥

इस काव्य में कहा गया है कि मनुष्य तो आकृति से असंख्य होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति सद्गुणों का धारी है वही सच्चा नर-रत्न कहलाता है बाकी तो नाम के ही मानव-रत्न कहे जाते हैं और काँच के टुकड़ों के समान उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं होता।

एक उदाहरण से भी इस बात को समझाया गया है कि एक दीवाल पर कुए का और नाव का चित्र होता है, पर कुए का चित्र मनुष्य को पानी में डुबा नहीं सकता और नाव का चित्र उसे नदी से पार नहीं कर सकता। इसी प्रकार सद्गुण रूपी रत्नों से रहित व्यक्ति भी दीवाल पर लगे हुए चित्र के समान है जो कि नर-रत्न दिखाई देने पर भी अपना आत्म-कल्याण नहीं कर सकता।

इसलिए हमें नाम के नर-रत्न न कहलाकर सद्गुण रूपी रत्नों को धारण करना चाहिए और वे तभी अपनाये जा सकेंगे, जबकि जौहरी के समान उन्हें गुणावगुणों में से छाँटकर परखना पड़ेगा और जीवनसात् करना होगा। सद्गुण रूपी रत्नों के अभाव में नर-रत्न कहला भी लिये तो उससे आत्मा का क्या भला होगा ? कुछ भी नहीं। यह देह-छूटते ही फिर न जाने किन-किन योनियों में जाना पड़ेगा और घोर कष्ट सहन करना होगा। इसलिए उचित यही है कि हम संत्र के मार्ग पर बढ़ें और आत्मा को सदा के लिए इस संसार रूपी सराय से हटाकर अपने सच्चे घर मोक्ष की ओर ले चलें।



पकवान के पश्चात् पान

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज चातुर्मास की समाप्ति का दिन है यानी आज हमारा चातुर्मास समाप्त हो रहा है। चातुर्मास की समाप्ति पर क्षमत् क्षमापना करने का शास्त्रों में विधान है। सभी साधु-साध्वी जब चार महीने वर्षावास करके फिर अन्यत्र विहार करते हैं तो वे सम्पूर्ण संघ से क्षमा याचना कर लेते हैं। मैं भी आज यहाँ विद्यमान सभी सन्त-सतियों की ओर से आप लोगों से क्षमा-याचना करता हूँ। आप विचार करेंगे, ऐसा क्यों ?

इसका कारण यही है कि जहाँ चार बर्तन होते हैं वहाँ थोड़ी बहुत खड़-खड़ाहट सावधानी रखने पर भी हो ही जाती है। संत जानबूझकर ऐसा अवसर सामने नहीं आने देते, किन्तु भूल या असावधानी से बोलने-चालने में, व्यवहार में, वाणी में या व्याख्यान में कोई शब्द ऐसे निकलें जिनके द्वारा किसी के भी मन को खेद हुआ हो तो क्षमा-याचना करना चाहिए। मैं भी इसीलिए हम सबकी ओर से पूरे संघ से क्षमा माँगता हूँ।

छद्मस्थ जीवन में किसी भी व्यक्ति से भूल हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यथा हमारे मुँह में दाँत भी हैं और जवान भी है। भोजन करते समय दोनों ही अपना-अपना काम करते हैं। हम पूरा ध्यान रखते हैं कि इन दोनों में परस्पर कभी टकराव न हो, क्योंकि इससे हमें ही कष्ट होता है। किन्तु बहुत ध्यान रखने पर भी कभी-कभी दाँतों के बीच में जवान आ जाती है और हमें कष्ट का अनुभव होता है।

यद्यपि हम जान-बूझकर ऐसा नहीं करते पर असावधानी से यह हो जाता है। इसी प्रकार अनजान या असावधानी से ही बोलते समय हमारी वाणी से

कोई शब्द ऐसा निकला हो, जिसके कारण किसी का मन दुःखा हो तो उसके लिए ही हमारी क्षमा-याचना आप लोगों से है।

बन्धुओ ! वीतराग की वाणी भी आपके समक्ष भोजन के रूप में है और संबलरतत्व के सत्तावन भेद उसमें अलग-अलग पकवान के समान हैं। इस चातु-र्मास में मैंने आपके समक्ष ये पकवान रखने का ही प्रयत्न किया है। पकवान बहुत हैं और समय सीमित। इसलिए मैं सभी को आपके सामने नहीं ला सका, किन्तु जितने भी बन पड़े उन्हें संक्षिप्त रूप में यथावृद्धि प्रस्तुत कर चुका हूँ।

किन्तु मैं समझता हूँ कि पकवान सरस होने के कारण कम खाया जा सकता है और थोड़ा खाने पर भी भूख जल्दी नहीं लगती। इसलिए आपको जितने मिष्टान्न मिल पाये हैं ये पेट की नहीं बरन् मन की खुराक हैं अतः काफी दिन तक आपको तृप्त किये रहेंगे। आज तो मैं आपको पान-बीड़ा प्रदान कर रहा हूँ। भोजन के पश्चात् मुँह साफ करने के लिए आप पान खाते हैं न ? इसी प्रकार भगवान द्वारा प्रदत्त विविध पकवान आपको खिलाकर अब अन्त में पान भी खिलाये देता हूँ।

अब देखिये यह पान कैसा है और आप में से कौन-कौन इसे सच्चे हृदय से ग्रहण करते हैं ?

है सद्धर्म रूपी पान-बीड़ा, कोई धर्मवीर सेवन करते।

जीव दया है इलायची, क्षमारूप खैरसार यहाँ।

सत्यवाणी रूप लवंग है, कोई धर्मवीर सेवन करते ॥

सौजन्यरूप सुपारी जहाँ, नवतत्त्व रूप कत्था चूना।

रंगदार बना इससे बीड़ा, कोई धर्मवीर सेवन करते ॥

कवि ने कहा है—जिनधर्म रूपी पान का यह बीड़ा अत्यन्त मधुर, सुवासित एवं स्वादिष्ट है तथा शरीर, मन और आत्मा तक को तृप्त करने वाला है। पर इस दुर्लभ पान का सेवन बिरले धर्मवीर ही करते हैं। जिनके अन्तर्मानस में भगवान की वाणी के प्रति श्रद्धा, विश्वास या भक्ति नहीं है वे इसके सेवन की तो बात ही क्या है, दर्शन भी नहीं कर पाते; क्योंकि यह अमूल्य पान दो-चार पैसे में खरीदा जाने वाला नहीं है, इसे प्राप्त करने के लिए बड़ा त्याग करना पड़ता है और मन एवं इन्द्रियों की सारी शक्ति लगा देनी होती है। अर्थात् उन पर पूर्ण नियन्त्रण रखना पड़ता है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि साधक मन और इन्द्रियों को उनकी इच्छानुसार नहीं, बरन् अपनी इच्छानुसार शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त करने की दृढ़ता प्राप्त कर ले। हमारे शास्त्र कहते भी हैं—

सद्देसु अ रुवेसु अ गंधेसु रसेसु तह य फासेसु ।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ एसा खलु इंद्विअप्पणिही ॥

गाथा में बताया है—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रिय-निग्रह प्रशस्त बनता है ।

तो बंधुओ, स्पष्ट है कि प्रशस्त इन्द्रिय-निग्रह वाला और भगवान के वचनों में दृढ़ आस्था रखने वाला व्यक्ति ही जिनधर्म रूपी अनेक उत्तम वस्तुओं से युक्त पान का बीड़ा ग्रहण कर सकता है ।

आपके मन में विचार आयेगा कि उत्तम वस्तुओं से यहाँ क्या तात्पर्य है ? मैं यही आगे बताने जा रहा हूँ । आप लोग जो साधारण पान खाते हैं, उसमें कत्था, चूना, लौंग, इलायची एवं खैरसार आदि मुखशुद्धि करने वाली अनेक चीजें डालते हैं । इसी प्रकार धर्मरूपी पान में भी कई वस्तुएँ होती हैं, जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है कि धर्मरूपी पान में सबसे पहली चीज है जीव दयारूपी इलायची ।

दयारूपी इलायची

इलायची में खुशबू होती है और वह खुशबू आपके मन-मस्तिष्क को भी तरोताजा कर देती है । बिना इलायची के पान का जायका अत्यल्प हो जाता है । दूसरे शब्दों में, बिना इलायची का पान आपको पान सा नहीं लगता और वैसा पान आप पसन्द भी नहीं करते ।

इसलिए धर्मरूपी पान में भी इलायची बड़ी उत्तम कोटि की डाली जाती है जिसे हम जीवदया कहते हैं । जीवदयारूपी इलायची जो व्यक्ति धर्म रूपी पान में डालता है, उसकी खुशबू व्यक्ति के मन को नहीं वरन् सम्पूर्ण जीवन को ही सुवासित कर देती है । और तो और, इस इलायची की सुगन्ध संसार के अन्य प्राणियों तक पहुँचती है तथा उन्हें सन्तुष्ट एवं सुखी बनाती है ।

आप सोचेंगे यह कैसे ? पान तो एक व्यक्ति खानेगा और उसके आनन्द का अनुभव अन्य प्राणी कैसे कर लेंगे । पर यही तो इस पान की विशेषता है । आपका साधारण पान और उसमें पड़ी हुई इलायची, केवल आपको ही सन्तुष्ट करती है, किन्तु धर्मरूपी पान में दयारूपी इलायची अन्य प्राणियों को भी सन्तोष पहुँचाती है । इसका कारण यही है जिन साधु-पुरुषों का मन और मस्तिष्क दया की सुवास से परिपूर्ण रहता है वे अन्य प्राणियों को भी आत्मवत् समझते हैं और मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों योगों में से किसी के द्वारा भी दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाते । वे न किसी अन्य प्राणी के मन को कटु

वचनों से दुखाते हैं और न अपने शरीर के द्वारा आघात पहुँचाकर किसी के शरीर को ही पीड़ा पहुँचाते हैं। यहाँ तक कि औरों के द्वारा कष्ट पाकर भी वे प्रत्युत्तर में उन्हें दुःख नहीं देते वरन् उन पर दया करके उन्हें क्षमा प्रदान करते हैं। ऐसे व्यक्ति दया-भाव से कारण ही औरों को दुःख देने में पाप समझते हैं।

एक फारसी भाषा के कवि ने भी कहा है—

मबाश दर पै आजार हरचि खाही कुन ।

की दर हकीकते मा गैर अर्जी गुनाहे नेस्त ॥

अर्थात्—हे मनुष्य ! तू और जो चाहे कर, किन्तु किसी को दुःख न दे। क्योंकि हमारे धर्म में इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पाप नहीं है।

वस्तुतः निर्दयता एवं क्रूरता महापाप हैं और प्रत्येक धर्म या मत इन्हें त्यागने की प्रेरणा देते हैं। कोई भी धर्म दयाहीनता को धर्म नहीं कहता अतः जो व्यक्ति दया और अहिंसा को जैनधर्म के ही सिद्धान्त मानते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं दया और कृपा किसी एक धर्म का ही सिद्धान्त नहीं है, अपितु मानव मात्र के लिए गृहणीय है अतः प्रत्येक धर्म का महन्वपूर्ण सिद्धान्त है।

दया के अभाव में मनुष्य को मनुष्यत्व ही प्राप्त नहीं होता क्योंकि दया प्रकृति का एक अधिभाज्य अंग है। मनुष्य तो मनुष्य पशु-पक्षियों में भी हम प्रेम की एवं दया की भावना पाते हैं। इसीलिये धर्म का मूल दया माना गया है।

आदिपुराण में कहा है—

दयामूले भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् ।

दयायाः परीक्षार्थं गुणा शेषाः प्रकीर्तिता ॥

अर्थात्—धर्म का मूल दया है। प्राणी पर अनुकम्पा करना दया है और दया की रक्षा के लिये ही सत्य, क्षमा आदि शेष गुण बताये गये हैं।

इसीलिये संसार के प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों का प्ररूपण करने से पहले दया एवं प्राणीमात्र के प्रति प्रेम रखने की प्रेरणा दी है।
दया का पैगाम

कहा जाता है कि हजरत मोहम्मद के समय अरब में लोग अनेकानेक देवी-देवताओं को मानते थे और उसके परिणामस्वरूप ही उनमें आपसी मतभेद, अशांति और विग्रह के विषाक्त बीज अंकुरित हो गये थे। इस अशांतिपूर्ण वातावरण की मोहम्मद साहब पर बड़ी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने वहाँ

क्रांति करके एक अल्लाह यानी एक ही भगवान को मानने के लिए जनता को प्रेरित किया।

उनकी प्रेरणा से असंख्य व्यक्तियों ने एक ही अल्लाह को मानना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु कुछ इने-गिने व्यक्तियों ने उनकी बात को नहीं माना।

इस पर मोहम्मद साहब के अनुयायियों ने उनसे कहा—

“आप अल्लाह से प्रार्थना कीजिए कि वह इन नाना देवी-देवताओं को मानने वाले मुशरिकों को शाप देकर बर्बाद कर दे !”

हजरत मोहम्मद ने उत्तर दिया—“भाइयो ! मैं संसार में दया का पैगाम देने आया हूँ, शाप देने के लिए नहीं।”

लोग मोहम्मद साहब की यह बात सुनकर बड़े लज्जित हुए और चुपचाप वहाँ से चल दिये।

कहने का अभिप्राय यही है कि दया को प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने धर्म का मूल माना है और इसका महत्त्व सम्पूर्ण धर्मक्रियाओं से अधिक बताया है। धर्मत्मा पुरुष तो अन्य मनुष्यों पर भी क्या, पशु-पक्षियों पर भी अपार दया रखते हैं और कभी-कभी तो उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का भी बलिदान कर देते हैं।

राजा मेघरथ ने एक कबूतर को बाज के पंजे से छुड़ाने के लिए अपने शरीर का मांस काट-काटकर तराजू पर तौल दिया था और मोरध्वज ने सिंह की खुराक जुटाने के लिए अपने प्राणों से प्यारे पुत्र का मोह छोड़ा था।

तो हमारे मूल विषय के अनुसार जीवदया धर्मरूपी पान में ऐसी इलायची का काम करती है, जिसे खाने वाला तो तृप्ति का अनुभव करता ही है, साथ ही उसकी खुशबू से अन्य अनेक प्राणी भी निर्भयता का अनुभव करके चैन की साँस लेते हैं।

क्षमारूपी खैरसार

अब धर्म-रूपी पान में डलने वाली दूसरी चीज सामने आती है। वह है— क्षमारूपी खैरसार। दयारूपी इलायची के साथ क्षमा रूपी खैरसार का मेल खूब वैठता है। दोनों ही अत्योन्याश्रित हैं। जहाँ दया होगी वहाँ क्षमा भी रहेगी, और जहाँ क्षमा होगी दया निश्चित रूप से आ जाएगी।

इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—

“तित्तिबल्लं परमं नच्चा, भिक्खु धम्मं समाधरे।”

अर्थात्— क्षमा को परम धर्म समझकर उसका आचरण करो।

वस्तुतः क्षमा धर्म के अन्तर्गत सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। किसी कवि ने भी कहा है—

क्षमा शान्ति सद्भाव स्नेह की, गंगा सी निर्मल धारा।

गहरी डुबकी लगा हृदय से, धो डालो कलिमल सारा ॥

पद्य में मानव को प्रेरणा दी गई है—“भाई ! क्षमा, शान्ति, सद्भावना और स्नेह रूपी गंगा की निर्मल धारा में गहरी डुबकी लगाकर अपनी आत्मा पर लगी हुई कषायों की मलिनता को धो डालो।

बन्धुओ ! पद्य में गहरी डुबकी लगाने के लिए जो कहा गया है, इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि जल की धारा में डुबकी तो कहीं भी लगाई जा सकती है, और शरीर थोड़े पानी में भी डूब जाएगा, यानी भोग जायेगा। पर गहरी डुबकी के लिए ही क्यों कहा गया है, यह विचारणीय है।

गहरी डुबकी से यही आशय है कि क्षमा आदि शुभ भावनाएँ गहरी डुबकी लगाने पर ही अन्तर्मानस को भिगे सकेंगी। ऊपर ही ऊपर से यानी जबान से किसी को क्षमा कर दिया, पर आन्तरिक वैमनस्य की ज्वाला शान्त नहीं हुई तो जबान से क्षमा शब्द का उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं होगा।

हम देखते हैं कि समाज में नाना कारणों से लोगों के दिलों में विरोध की तीव्र अग्नि सुलग उठती है तथा बोलचाल सब बन्द हो जाती है पर संवत्सरी के दिन कभी-कभी तो स्थानक में ही सन्तों के समक्ष ऐसे व्यक्तियों को लोग आपस में क्षमा-याचना करने के लिए समझाते हैं तथा बाध्य करते हैं। परिणाम यह होता है कि सन्तों की तथा समाज के अनेक सदस्यों की उपस्थिति के कारण लोक-व्यवहार से दो विरोधी एक-दूसरे से क्षमा-याचना कर लेते हैं। किन्तु वह क्षमा माँगने और देने का भाव केवल वचन तक और हाथ जोड़ने के कारण शरीर तक ही सीमित रहता है। मन तक नहीं पहुँचता यानी क्षमा मन से नहीं माँगी जाती और मन से ही दी भी नहीं जाती। अतः ये क्रियाएँ दिखाने की और ऊपरी होती है। इसीलिए कवि का कहना है कि क्षमा आदि शुभ भावनाओं की धारा में गहरी डुबकी लगाओ, अर्थात् मन की गहराई से या मन से क्षमा माँगो और दूसरों को प्रदान करो। अन्यथा इस क्रिया से कोई लाभ नहीं होगा और आत्मा का कालुष्य रंजमात्र भी कम नहीं हो पाएगा।

तो माइयो ! हमने सद्धर्म रूपी पान के बीड़े में डलने वाली इलायची और खैरसार के विषय में जान लिया अब तीसरी कौनसी चीज इसमें डाली जाती है, यह देखना है।

सत्यवाणी रूपी लवंग

पान में लौंग बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। दीक्षा लेने के बाद तो मुझे काम नहीं पड़ा पर वचन में देखता था कि पान का बीड़ा बनाकर यानी पत्ते को लपेटकर उसमें ऊपर से लौंग टोंच देते हैं। जिससे पान का पत्ता खुलता नहीं और उसमें रखी हुई चीजें इधर-उधर नहीं गिरतीं। लौंग का कितना सुन्दर और दोहरा उपयोग है? एक तो पत्ते को बन्द रखना, दूसरे मुँह का जायका ठीक करना।

सत्यवाणी रूपी लौंग भी धर्मरूपी पान के बीड़े में इसी प्रकार दोहरा काम करती है। प्रथम तो वह पान में डले हुए क्षमारूपी खैरसार, दयारूपी इलायची और अन्य चीजों को मजबूती से बाँधे रहती है, इधर-उधर नहीं होने देती। दूसरे सच्चाई में दिल और दिमाग को शुद्ध रखती है। एक और भी विशेषता लौंग की होती है। आप साधारणतः लौंग हमेशा मुँह में डालते हैं अतः जानते ही होंगे कि वह चरपरी या तीखी होती है अतः जीभ पर तेज तो जरूर लगती है किन्तु मुँह को एकदम साफ कर देती है तथा पकवान आदि कुछ भी पहले खाया हो, उसके स्वाद को मिटाकर जायका अच्छा करती है।

यही हाल सत्य रूपी लवंग का भी है। सत्य सुनने में कटु लगता है और सत्यवादी की बात से लोग नाराज होकर उसके विरोधी बन बैठते हैं, किन्तु वे यह नहीं सोचते कि यह सत्य ही हमारी आत्मा का भला करने वाला है। जिस प्रकार डॉक्टर इन्जेक्शन लगाता है तो पलभर के लिए रोगी को वह कष्टकर एवं तीखा महसूस होता है पर उसके बाद ही इन्जेक्शन के प्रभाव से बढ़ती हुई बीमारी भी एकदम रुक जाती है। शरीर के किसी हिस्से में गोली लग जाती है और कुशल डॉक्टर तुरन्त चीरा लगाकर उस गोली को निकालता है। चीरा लगाते समय या ऑपरेशन करते समय बहुत कष्ट होता है और शरीर को वह असह्य महसूस होता है। किन्तु कुछ समय की पीड़ा गोली के विष को बाहर निकाल देती है और शरीर का वह अंग निर्विष बन जाता है।

इसी प्रकार कुमार्थ पर चलने वाले व्यक्ति को सन्त-महापुरुष कड़वे शब्द कह देते हैं पर वे उस व्यक्ति के हृदय से कषाय रूपी विषों को बाहर निकालने के लिए कहे जाते हैं। गोली के शरीर से न निकलने पर उसका विष जिस प्रकार अन्दर ही अन्दर फैलकर व्यक्ति के प्राणान्त का कारण बन जाता है, इसी प्रकार कषायों का कालकूट भी आत्मा के अन्दर ही अन्दर फैलकर उसे बार-बार मरण का कष्ट पहुँचाता है। स्पष्ट है कि शरीर के किसी अंग में लगी हुई गोली तो एक बार ही मनुष्य को मारती है, पर कषायों के कारण आत्मा को

अनेकानेक बार मरना पड़ता है। इसीलिए महापुरुष, सन्त या गुरु सत्य कहकर मानव को एक बार थोड़ी पीड़ा पहुँचाकर भी उसे जन्म-जन्म के दुःखों से बचाने का प्रयत्न करते हैं। एक छोटा-सा उदाहरण है—

तुम नालायक हो

किसी महात्मा के पास दो छात्र ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से आये और उनसे ज्ञान-दान देने के लिए प्रार्थना की।

महात्माजी ने कहा—“तुम यहीं आश्रम में ठहरो, मैं दो-चार दिन बाद तुम्हें बताऊँगा कि मैं तुम्हें अपने शिष्य के रूप में रखूँगा या नहीं।”

दोनों शिक्षार्थी वहाँ ठहर गये। महात्माजी ने उनसे कुछ नहीं कहा और उन दोनों के क्रिया-कलापों की चुपचाप परीक्षा करते रहे। दोनों छात्र अज्ञानी ती थे ही, साथ ही कुसंगति में रहने के कारण आचरणहीन भी थे। कभी वे साथ में लाई हुयी बीड़ियाँ पीते, कभी ताश खेलते, कभी आपस में लड़ते हुए एक-दूसरे को गालियाँ देते और कभी-कभी पत्थर आदि मारकर पशु-पक्षियों को परेशान करते।

यह सब देखते हुए ठीक चार दिन बाद महात्माजी ने उन दोनों को अपने पास बुलाया और कहा—

“तुम लोग नालायक हो, अपने आपको बदल सको तो यहाँ रहो अन्यथा चले जाओ !”

महात्माजी की यह बात सुनते ही दोनों शिक्षार्थी पलभर के लिए अवाक् हो गये। किन्तु अगले ही क्षण उनमें से एक आगबबूला होकर बोला—“आप गालियाँ दे रहे हैं ? मैं आपके पास नहीं रह सकता।” यह कहकर चला गया।

पर दूसरा शिक्षार्थी महात्माजी की बात को सुनकर कुछ देर के लिए सोच-विचार में डूब गया और कुछ देर पश्चात् उनके चरण पकड़कर बोला—“गुरुदेव ! आपने सत्य कहा है कि मैं अभी नालायक हूँ, ज्ञान-ज्ञाप्ति के लायक नहीं। किन्तु आज से मैं अपने आपको लायक बनाने का प्रयत्न करूँगा। कृपा करके मुझे अपने पास रहने दीजिए।”

महात्माजी ने प्रसन्न होकर स्वीकार करते हुए उत्तर दिया—“वत्स ! तुम खुशी से यहाँ रहो मुझसे जितना बनेगा तुम्हें आत्म-ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न करूँगा।”

परिणाम यह हुआ कि गुरु की एक सच्ची बात सुनकर ही उसने अपने आपको बदल डाला और कुछ समय में ही ज्ञानी तथा योग्य पुरुष बन

गया । जानाभ्यास करने के पश्चात् उसने विनयपूर्वक अपने गुरु से घर जाने की इजाजत माँगी और गुरुजी ने हार्दिक आशीर्वाद एवं मंगलकामना के साथ उसे विदा किया ।

शिष्य वहाँ से रवाना हो गया और मार्ग पर बढ़ा । पर रास्ते में एक जंगल आया और वहाँ के सुनसान रास्ते पर जब वह बढ़ा तो किमी ने पीछे से उसकी गर्दन पकड़ ली और कहा—

“निकालो, जो कुछ तुम्हारे पास हो !”

अपने घर जाने वाले विद्वान शिष्य ने यह सुनकर गर्दन मोड़ी और तनिक भी घबराये बिना उस व्यक्ति की ओर देखा । दोनों की नज़रें चार हुईं, पर दोनों ही एक-दूसरे को देखकर अवाक् रह गए । जंगल में मिलने वाला व्यक्ति और कोई नहीं, वरन् वही दूसरा विद्यार्थी था जो महात्मा जी के नालायक शब्द को गाली समझकर क्रोध के मारे चलता बना था और अब डाकू बन गया था । उसे देखकर विद्वान शिष्य बोला—

“भाई ! यह क्या ? तुम तो जानाभ्यास के लिये आए थे पर वहाँ से भाग कर डाकू बन गये ?”

“और क्या करता ? गालियाँ देने वाले गुरुजी से भला क्या सीखा जा सकता था ?” डाकू बन जाने वाला व्यक्ति बोला ।

इस पर विद्वान व्यक्ति बोला—“भाई ! गुरुजी ने उस समय हमें गाली नहीं दी थी । अपनी बुरी आदतों के कारण वास्तव में ही हम उस समय ज्ञान-प्राप्ति के लायक नहीं थे । गुरुदेव ने सत्य कहा था । पर खेद की बात है कि तुमने सत्य को सहन नहीं किया और वहाँ से भागकर आत्मा का पतन करने वाले इस मार्ग को अपना लिया । किन्तु, मैंने गुरु की सत्य बात का बुरा नहीं माना और उसे आत्म-हितकर मानकर अपने आपको बदलने का प्रयत्न किया । फल यह हुआ कि मुझे गुरुदेव ने अब तक जानाभ्यास कराया है, और अब उनकी इजाजत लेकर ही घर जा रहा हूँ ।”

यह सुनकर उस डाकू को बड़ा पश्चात्ताप हुआ । पर फिर उससे क्या हो सकता था, समय बीत चुका था और उसके दृग्गुणों ने उसे पापी व अपराधी बनाकर ही छोड़ा था ।

बन्धुओ ! इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि सत्य कड़वा जहर होता है किन्तु उसी प्रकार हितकर भी होता है जैसे कड़वी दवा कुछ देर मुँह को कड़वा बना देती है, पर उबर का नाश करके शरीर को स्वस्थ कर देती है ।

महात्मा जी के पास ज्ञानाभ्यास की इच्छा लेकर जाने वाले दोनों ही लड़के समान थे, किंतु एक गुरु के शब्दों को कड़वी दवा समझकर पी गया और उसके परिणामस्वरूप ज्ञानी एवं सज्जन पुरुष बना। पर दूसरा गुरु के कटु शब्द की अवहेलना कर वहाँ से चलता बना और धीरे-धीरे अधःपतन के मार्ग पर बढ़ गया।

इसीलिए सत्य को घर्मरूपी पान में खोंसी हुई लवंग कहा जाता है। लौंग चरपरी होने पर भी मुँह का स्वाद ठीक करती है और सत्य कटु होने पर भी आत्मा को शुद्ध बनाता है। अब पान में डली हुई अगली चीज क्या है; इसका वर्णन करते हैं।

सौजन्य-रूपी सुपारी

जिनधर्मरूपी पान में जीव दयारूपी इलायची, क्षमारूपी खैरसार और सत्यरूपी लवंग होती है, पर उसमें बहुत देर तक टिकने वाली सौजन्यतरूपी सुपारी भी होती है, जो बहुत समय तक बनी रहती है। आपके साधारण पान में जो सुपारी होती है, वह बहुत चलेगी तो घंटे-दो घंटे, उसके बाद तो समाप्त हो ही जाती है। किंतु सौजन्यतरूपी सुपारी मानव के व्यक्तित्व में इस प्रकार मिल जाती है कि वह जीवन भर भी प्रभावहीन नहीं हो पाती। अर्थात् उसकी प्रक्रिया सदा आचरण में उतरती रहती है।

सौजन्यता का अर्थ है सज्जनता। जिस व्यक्ति में सद्गुण होते हैं उसे सज्जन कहते हैं और उसकी उत्तम भावनाएँ ही सौजन्यता कहलाती है। जिस व्यक्ति में सौजन्यता होती है, वह सज्जन व्यक्ति निराकुल एवं निर्बाध रूप से आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ता है। कोई भी उस भव्य प्राणी को पकड़ कर रोक नहीं सकता और न ही शरीर रूपी करागार में कभी कैद कर सकता है।

पूज्यपाद श्री अमीरुपिजी महाराज ने एक बड़ा सुन्दर पद्य इस विषय में लिखा है, जिसमें बताया है कि आत्म-गुणों को जीवन में उतारने वाले व्यक्ति निश्चय ही शिवपुर जाते हैं, कोई भी उनका पल्ला पकड़ कर उन्हें वहाँ जाने से नहीं रोक सकता। पद्य इस प्रकार है—

टेरत संत प्रवीण गुणी सदग्रन्थ सबे हित की उचरे है।
 ये जग-भोग असार लखी तजि के उर ज्ञान विराग धरे है॥
 शील संतोष क्षमा करुणातप धीरज धारि प्रमाद हरे है।
 धारत धर्म अमीरिख या विध को शिव जात 'पलो' पकरे है ?

जो महामानव संतों का एवं ज्ञान-प्रवीण गुणियों का आह्वान करता है,

सद्ग्रन्थों का पारायण करता है तथा हितकारी भाषा बोलता है और जो जगत के भोगों की असारता को समझकर अपने सम्यक्ज्ञान द्वारा इसके प्रति विरक्ति का अनुभव करता है, साथ ही शील, संतोष, क्षमा, करुणा, तप, त्याग, धैर्य आदि आत्मोत्थान के गुणों को अपनाकर प्रमाद का त्याग करते हुए धर्म को धारण कर लेता है; ऐसे प्राणी का शिवपुर जाते समय कोई भी पल्ला नहीं पकड़ सकता, यानी कोई भी उसे रोक नहीं सकता ।

सौजन्यता को आत्मसात् करने वाले पुरुष इसी प्रकार मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होते रहते हैं और अन्त में मोक्ष हासिल करते हैं । सौजन्यता केवल वाणी से प्रकट नहीं होती, अपितु आचरण से जानी जाती है ।

कहा भी है—

वायाए अकहंता सुजणे, चरिदेहि कहियगा होति ।

—भगवती आराधना, ३६६

अर्थात्—श्रेष्ठ पुरुष अपने गुणों को वाणी से नहीं, किन्तु सच्चरित्र से ही प्रकट करते हैं ।

नवतत्त्व रूपी कत्या-चूना

पान के अन्दर अगर कत्या और चूना न हो तो पान, पान नहीं कहलाता और उसे खाने पर मुँह लाल नहीं होता । कत्थे और चूने से ही बोड़ा रंगदार बनता है ।

हमारे धर्म-रूपी पान में भी कत्या-चूना डाला जाता है पर वह साधारण नहीं, अपितु नौ तत्त्वों का बना होता है । जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये नौ तत्त्व कहलाते हैं । जो साधक इन तत्त्वों को समझ लेते हैं, वे अपनी भावनाओं को विशुद्ध बनाकर संसार में रहते हुए भी संसार से अलिप्त रहते हैं । आत्म-कल्याणकारी भावनाओं का महत्त्व बताते हुए एक पद्य में कहा है—

जग है अनित्य नहीं शरण संसार मांहीं,
भ्रमत अकेलो जीव जड़ दोउ भिन्न है ।
परम अशुचि लखी देह तजी आस्रव को,
संवर निर्जरा ही ते होय भव छिन्न है ॥
चित्त में विचारी लोकाकार बोध बीजसार,
सम्यक् धरम उर धारो निशदिन है ।

कहे अमीरिख बारे भावना यों भाव उर,
घारे जिनवेण एन, ताको धन, धन, है ॥

बन्धुओं, बारह भावनाओं को मैं आपके समक्ष कुछ समय पहले ही विस्तृत रूप से रख चुका हूँ अतः इनके विषय में पुनः अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है। केवल यही कहना है कि जो भव्य प्राणी नौ तत्त्वों को समझ लेते हैं, वे ही अनित्य, अशरण, संसार तथा एकत्व आदि बारह भावनाओं को भाते हुए अपने जीवन को आध्यात्मिक रंग में रंग लेते हैं तथा धन्यवाद के पात्र बनते हैं। इसीलिए नौ तत्त्वों के ज्ञान को जिनधर्म रूपी पान को रंगदार बनाने वाला कल्या-चूना कहा गया है।

दान रूपी कपूर

भाइयो ! आप नागरवेल के पत्ते का जो पान बनवाते हैं उसमें सुगन्ध लाने के लिए एवं घबराहट, जी मिचलाना आदि-आदि विकारों को नष्ट करने के लिए पिपरमेंट या जिसे पोदीने का फूल भी कहते हैं, वह डलवाते हैं। यहाँ कपूर से आशय सुगन्ध से है और पिपरमेंट में मुँह को सुवासित करने की बड़ी शक्ति होती है।

तो धर्मरूपी पान के बीड़े में सुगन्ध कौन-सी है ? दान की। आप सन्त-महात्माओं को यथाविधि दान देते हैं, और न दे पाने पर भी देने की भावना रखते हैं तो उसकी उत्कृष्टता से तीर्थकर गोत्र का भी बंध कर सकते हैं।

हमारे शास्त्र स्पष्ट कहते हैं—

बुल्लहाओ मुहावाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।

मुहावाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुगद् ॥

—दशवैकालिक सूत्र

गाथा में कहा है—“निस्वार्थ भाव से देने वाला दाता और निस्वार्थ भाव से मात्र संयम-निर्वाह के लिए लेने वाला भिक्षु ये दोनों ही मिलने दुर्लभ होते हैं, किन्तु दोनों ही सुगति या मोक्ष गति के अधिकारी बनते हैं।”

वस्तुतः सुपात्रदान मोक्ष प्राप्ति का अमोघ साधन है। शंख राजा ने केवल द्राक्षा का धोया हुआ पानी देकर तीर्थकर नामकर्म का बन्ध किया और संसार को सीमित कर लिया। नयसार के भव में भगवान् महावीर के जीव ने दान के द्वारा ही सम्यक्त्व का स्पर्श किया था तथा महावीर बनने का बीजारोपण कर दिया था। सुपात्र दान के द्वारा संसार को कम करने वाले उदाहरण एक दो नहीं बरन् अनेक हैं, जिन्हें आगमों के द्वारा जाना जा सकता है।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि धर्म को धारण करने वाले व्यक्ति के लिए दान देना अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। स्वयं तीर्थंकर भी दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक दान देते हैं, जिसे वर्षी-दान कहा जाता है। इसीलिए दान को धर्मरूपी पान की अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण वस्तु माना गया है। आगे इस विषय में बताया है—

गुण-शील रूपी पत्ते

आप जो द्रव्य-पान खाते हैं इसमें नागरवेल के पत्ते होते हैं। किफायत की दृष्टि से अब जो पान खाये जाते हैं उनमें अधिकांश एक पत्ते के या आधे पत्ते के ही बीड़े बना देते हैं। किन्तु यह धर्मरूपी पान का बीड़ा पूरे दो पत्तों का बनता है और वे पत्ते हैं—सद्गुण एवं शील।

प्रेम, दया, करुणा, नम्रता, सहनशीलता, सद्भावना एवं सरलता आदि आत्मा के सद्गुण हैं और शील मानव के जीवन को ऊँचा उठाने वाला है। धर्म ग्रन्थ कहते हैं—

“शीलगुणवज्जिदाणं, गिरत्यथं धाणुसं जम्मं ।”

—शीलपाहुड, १५

अर्थात्—शीलगुण से रहित व्यक्ति का मनुष्य-जन्म पाना निरर्थक ही है। आशय यही है कि शील के अभाव में व्यक्ति कभी भी अपने जीवन को निर्दोष नहीं बना सकता और जीवन के दोषपूर्ण होने से आत्म-कल्याण नहीं किया जा सकता।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है—

चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडि मंडिणं ।

एयाणि वि न ताथन्ति दुस्सीलं परियागयं ॥

अर्थात्—चीवर, मृगचर्म, नम्रता, जटाएँ और सिरमुंडन आदि सभी उपक्रम ‘दुस्सील’ यानी कुशील का सेवन करने वाले साधक की रक्षा नहीं कर सकते।

इसीलिए गुण एवं शील को धर्मरूपी पान का सर्वोत्तम अंग माना गया है। सर्वोत्तम इसलिए कि भले ही अन्य सब वस्तुएँ हों, पर पान के पत्ते न हों तो बीड़े कैसे बनेंगे ? यानी नहीं बन सकेंगे।

इन सब बातों को लेकर ही कविता में कहा गया है—

मुनिराजों को दान करना यह, कपूर सम कहलाता है।

उत्तम गुण-शील दो पान यहाँ, कोई धर्म वीर सेवन करते ॥

श्रंगार हेतु खाते बीड़ा, अब तक जीव न तृप्त हुआ ।
गुरु रत्न कृपा आनन्द कहे, सब धर्मवीर खाकर तरते ॥

कवि का कथन है कि मुख को सुवासित करने के लिए या लाल हो जाने के कारण वह सुन्दर दिखाई दे, इस प्रकार श्रंगार की दृष्टि से जीव ने असंख्य द्रव्य-पान खा डाले हैं, किन्तु आज तक वह तृप्त नहीं हो पाया है । नित्य पान खाया जाता है पर अब तक भी उससे सन्तोष का अनुभव जीव नहीं कर सका है ।

इसलिए अच्छा यही है कि अब जिनधर्म-रूपी पान का बीड़ा खाया जाय । अगर अच्छी भावना से इसे एक बार भी ग्रहण कर लिया तो फिर कभी भी अतृप्ति का अनुभव नहीं होगा । जिन महामानवों ने अभी बताई हुई समस्त चीजों सहित धर्मरूपी पान के बीड़े खाये हैं, वे सब इस संसार से मुक्त हो गये हैं, पर ऐसे धर्मवीर बिरले ही होते हैं ।

बन्धुओ ! मैंने यथाशक्य जिनेश्वर भगवान के वचन रूपी पकवान आपके समक्ष रखे हैं और आपने उन्हें ग्रहण भी किया है । आशा है उनके पश्चात् यह धर्मरूपी बीड़ा भी आप लेंगे और इसे पसन्द करते हुए अपने जीवन को सरस, उन्नत एवं निर्दोष बनाकर इहलोक और परलोक में सुखी बनेंगे । ओम्..... शान्ति.....

○

आचार्यश्री आनन्दऋषि जी महाराज का
महत्वपूर्ण साहित्य

- * १ भावनायोग (१२)
- * २ आनन्दवाणी (३)
- * ३ आनन्दवचनामृत (१)

[संपादक : श्रीचन्द सुराना 'सरस']

४-१० आनन्दप्रवचन : भाग १ से ७

[संपादिका : कमला जैन 'जोजो']

आनन्दवाणी, आनन्दवचनामृत (मराठी अनुवाद)
शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है ।

एक संग्रहणीय ग्रन्थ :—

आचार्य प्रवर आनन्द ऋषि

अभिनन्दन ग्रन्थ मूल्य : ४०)

जैनदर्शन, साहित्य, प्राकृत-भाषा आदि गंभीर
विषयों पर लगभग पचास विद्वानों के महत्वपूर्ण
शोध प्रधान निबन्ध ।

[संपादक : श्रीचन्द सुराना 'सरस']

संपर्क करें—

श्री जैन पुस्तकालय

Serving JinShasan (गारा)



020150

gyanmandir@kobatirth.org

आवरण पृष्ठ के मुद्रण प्रेस, आगरा-२